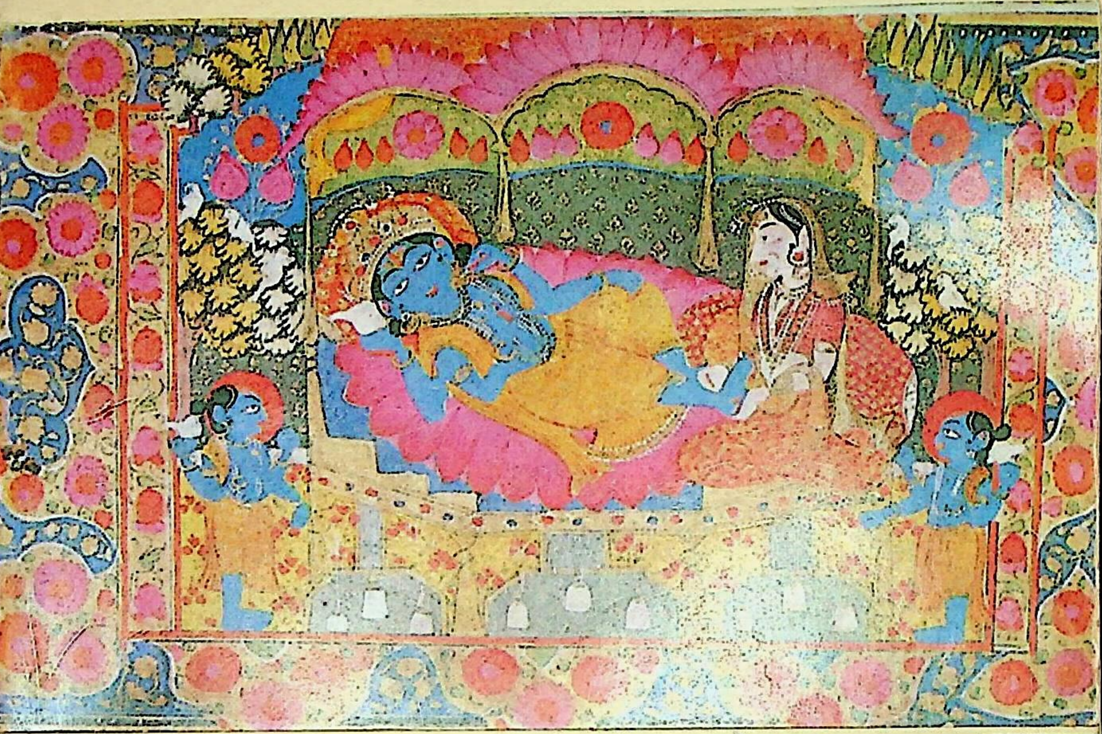

VISHNU SLEEPING ON THE SERPENT ANANTA

May 13th to 23rd 1984

Geeta Chapters 1 & 2 and Sivakshamapanam

Chinmaya Tapovan Trust, Sanc... ...nu (Him)

BARI, KANGRA-176 057, H

श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

सप्तमोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली

माधवीकुञ्ज

५०, शिवकुटी, पो० केवलीलाइन्स

इलाहाबाद—४

प्रकाशक :
प्रोफेसर निशीथ कुमार तरफदार, बी० ई०
बिहार कॉलेज ऑफ इंजिनियरिंग
पटना—५ (बिहार)

मुद्रक :
नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य
आचार्य मुद्रणालय
कर्णघण्टा, वाराणसी—१

गीतामण्डली कर्तृक सर्वस्वत्व सुरक्षित

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली,
५० शिवकुटी, इलाहाबाद—४

२—श्री शिवशंकर स्वामी
२३ पुराना किला, लखनऊ

३—श्रीमती छवि बोस
३ ए/११ आजाद नगर, कानपुर

४—श्रीमती रमा मित्रा
११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर

५—श्रीमती उमादानी
द्वारा श्री डी. आर. दानी, लक्ष्मी
निवास, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद

६—प्रो० निशीथ कुमार तरफदार बी० ई०
बिहार इंजिनियरिंग कालेज,
पटना ५ (बिहार)

७—डॉ० मदन मोहन,
रमा आई हौस्पिटल,
१० कान्वैंट रोड, देहरादून

८—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एडवोकेट,
प्रभु टाऊन, रायबरेली

९—श्रीमती माधवी कर,
द्वारा डॉ. एच.एम. कर
सिविल सर्जन, मिर्जापुर

१०—श्री एस. सी. मित्र, ब्रिज, आफिसर्स
रेलवे कॉलोनी, १४ बी०, तिलक
न्यू दिल्ली—१

११—श्री रामकुमार रस्तौगी
धामपुर (बिजनौर)

विज्ञप्ति

परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द सरस्वती महाराज द्वारा प्रणीत **'गीतामृतमञ्जूषा'** का **सप्तम अध्याय** प्रकाशित हो रहा है। प्रथम अध्याय के परिशिष्ट में कहा गया है कि समस्त गीता **'तत्त्वमसि'** महावाक्य का अर्थ एवं साधन-पद्धति प्रतिपादन कर रही है। इसलिए गीता को तीन षट्क में विभक्त किया गया है। प्रथम षट्क में (१–६ अध्यायों में) **'त्वम्'** पदार्थ का शोधन किस प्रकार से हो सकता है उसे निर्णीत किया गया है। अतः पहले अध्याय के परिशिष्ट में प्रथम षट्क के प्रत्येक अध्याय का तात्पर्य स्पष्टरूप से दिया गया है अब सप्तम अध्याय के परिशिष्ट में द्वितीय षट्क के प्रत्येक अध्याय का तात्पर्य प्रस्तुत किया गया है जिससे मुमुक्षु मात्र ही **'तत्'** पदार्थ का शोधन कर अपना यथार्थ स्वरूप जान सकें। इस तात्पर्य की विशेषता यह भी है कि यदि पाठकगण ७ वें से १२ वें अध्याय के प्रत्येक श्लोक की विस्तृत व्याख्या के साथ इस तात्पर्य को मिलाकर मनन करें, तब गीता के द्वितीय षट्क का रहस्य उन्हें अधिक सुगमता से विदित हो सकेगा।

कोई एक अप्रत्याशित घटना के कारण प्रस्तुत अध्याय के हिन्दी अनुवाद में कुछ विघ्न उपस्थित हुआ था परन्तु भगवत्–कृपा से एवं कई सज्जनों की अति उद्यम पूर्ण सहायता से यह कार्य सम्पन्न हो सका। इस कार्य के सहायक रूप में निम्नलिखित व्यक्तियों के नाम विशेषभाव से उल्लेखनीय है।

(१) डा० अतुलनाथ सिन्हा, एम० ए० पी०, एच० डी०
(२) श्री अभयनाथ सिन्हा
(३) श्रीगोपेन्द्रनाथ बनर्जी
(४) कुमारी छन्दा तरफदार
(५) कुमारी चैताली दास
(६) श्रीचन्दन कुमार तरफदार

इसलिए गीता मण्डली उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन कर रही है।

जिस दानवीर महापुरुषों की सहायता से पिछले पाँच अध्यायों का प्रकाशन सम्भव हुआ है, यह अध्याय भी उनकी निःस्वार्थ सहायता से ही प्रकाशित हो रहा है। इसलिए गीतामण्डली उनके प्रति पुनः कृतज्ञता प्रकाश तथा भगवान् के समक्ष उनके दीर्घ–जीवन की प्रार्थना कर रही है।

इति

गुरु पूर्णिमा—संवत् २०२७
ता० १८–७–१९७०

श्री निशीथ कुमार तरफदार, बी. ई.
सहायक सचिव, गीतामण्डली,
इलाहाबाद।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

सप्तमोऽध्यायः

"ज्ञानविज्ञानयोगः"

[षष्ठाध्याय में आरुरुक्षु योगी तथा आरूढ योगी के साधन का भेद, योग के अंग के साथ योग के लक्षण योगभ्रष्ट का परिणाम इत्यादि वर्णन कर अन्त में श्रीभगवान ने कहा है कि समस्त योगियों में जो श्रद्धायुक्त होकर, मद्‌गतान्तरात्मा होकर अर्थात् 'मेरे स्वरूप में चित्त समाहित रखकर मुझको ही भजते हैं' वे योगी मेरे मत में युक्ततम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है। इस वाक्य में इन दो प्रश्नों का बीज है—(क) भगवान् का तत्त्व अथवा स्वरूप क्या है ? एवं किस प्रकार से भगवद्‌गतान्तरात्मा होना सम्भव है, अर्थात् चित्त उसमें ही निरन्तर समाहित रखना सम्भव है ? श्रीभगवान् अब इन दो प्रश्नों का उत्तर सप्तमाध्याय में दे रहे हैं अर्थात् षष्ठाध्याय के अन्तिम श्लोक के द्वारा प्रश्न का बीज सूचित कर (क) मेरे स्वरूप का तत्त्व इस प्रकार है तथा (ख) इस प्रकार मद्गत चेता होना पड़ता है इत्यादि के अभिप्राय से सप्तमाध्याय में अर्जुन के स्पष्टतः जिज्ञासा न करने पर भी स्वयं ही श्रीभगवान् ने वर्णन करना प्रारम्भ किया।]

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! मयि आसक्तमनाः मदाश्रयः (सन्) योगं युञ्जन् समग्रं मां यथा असंशयं ज्ञास्यसि तत् शृणु ।

अनुवाद—श्रीभगवान् ने कहा—'हे पार्थ ! मुझमें चित्त एकान्तरूप से निविष्ट कर एवं मेरे ही शरणापन्न (आश्रित) रहकर योगाभ्यास करते हुए जिस प्रकार से निःसन्दिग्धरूप से मुझको जान सकोगे यह कह रहा हूँ', तुम सुनो ।

भाष्यदीपिका—श्रीभगवान् उवाच—श्रीभगवान ने कहा । हे पार्थ—हे अर्जुन ! [पृथा अथवा कुन्ती का पुत्र कहकर सम्बोधन कर श्रीभगवान् अर्जुन को स्मरण करा दे रहे हैं कि उनकी माता कुन्ती भी सर्वदा भगवान् में चित्त सन्निविष्ट रखकर भगवान् में ही आसक्त थी अतः अर्जुन के लिये भगवान् के प्रति आसक्ति स्वाभाविक है । मयि आसक्तमनाः—अतः (७-१२ अध्याय में) जो विशेषण वर्णित हुए हैं उन विशेषणों से युक्त मुझमें अर्थात् निखिल जगत् का आश्रयत्व प्रभृति विविध विभूतिसम्पन्न परमेश्वर में आसक्तचित्त होकर अर्थात् अन्य समस्त विषयों का परित्याग कर केवल मुझमें ही मन पूर्ण रूप से निविष्ट रखकर ['तुममें मन निविष्ट रखने का उपाय क्या है' ? इसके उत्तर मे कह रहे हैं—]

मदाश्रयः—मैं ही (परमेश्वर ही) एकमात्र जिनका आश्रय अथवा अवलम्बन हूँ, वे 'मदाश्रय' हैं । अन्य समस्त साधनों (उपायों) का परित्याग कर समस्त कार्यों में मेरे ही आश्रित तथा शरणापन्न होने से ही 'मदाश्रय' होना सम्भव है । कहने का अभिप्राय यह है कि—यदि कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु का प्रयोजन सिद्ध करे तो उसी को वह आश्रय करता है, जिस प्रकार कोई व्यक्ति यदि स्वर्गादिरूप पुरुषार्थ की कामना करता है तो वह उस प्रयोजन के साधनरूप से अग्निहोत्रादि, तपस्या, दान प्रभृति कर्म को आश्रय (अवलम्बन) करता है, किन्तु मुमुक्षु की दूसरी कोई कामना नहीं रहने के कारण अन्य समस्त साधनों को परित्याग कर वे केवल मेरा ही आश्रय लेते हैं । किन्तु किसी का आश्रय लेने से ही (शरणापन्न होने से ही) उसमें उसका मन आसक्त होगा ऐसा कोई आवश्यक नहीं; राजभृत्य राजा को आश्रय करता है किन्तु उसकी आसक्ति रहती है स्त्रीपुत्रादि में (मधुसूदन) परन्तु जो मुमुक्षु हैं वे केवल मदाश्रय ही नहीं होंगे (अर्थात् केवल प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही मेरा आश्रय ग्रहण करेंगे ऐसी बात नहीं) वरन् उनके मनको भी मुझमें ही आसक्त अथवा निविष्ट रखना पड़ेगा क्योंकि इसके अतिरिक्त मोक्ष प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं है । इस कारण तुम अथवा तुम्हारी सदृश अन्य कोई मुमुक्षु उस प्रकार ईश्वराश्रय तथा ईश्वर में

आसक्तमना होकर योगं युञ्जन्—योग का साधन करते रहने पर अर्थात् षष्ठ अध्याय में जिस प्रकार कहा गया है उस प्रकार मन का समाधान करते रहने पर अर्थात् मनको ध्यान में स्थित करते रहने पर असंशयम्—सर्वप्रकार संशयरहित होकर [अपनी आत्मा से अतिरिक्त और कोई ईश्वर है या नहीं अथवा पातंजल कपिल, नैयायिक तथा मीमांसकों में ईश्वर हैं अथवा नहीं हैं ऐसा जो मतभेद है उसके द्वारा बुद्धि विचलित होने से जगत् के यथार्थ कारण के ज्ञान के अभाव से जो संशय उत्पन्न होता है उस संशय को विवेकवल से उन्मूलित कर (नीलकण्ठ)] समग्रं माम्—समग्र मुझको अर्थात् समस्त विभूति, वल, शक्ति, ऐश्वर्यादि गुणसम्पन्न [लीलाविग्रह श्रीकृष्णरूपी] मुझको (सगुण ईश्वर को) एवं शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप मुझको (अर्थात् निराकार, निर्विकार, निर्गुण ब्रह्मस्वरूप मुझको—

[(क) विभूतिः—नानाप्रकार की ऐश्वर्यमय साधनसम्पत्ति ।
(ख) वलम्—शरीर की सामर्थ्य शक्ति—मन का बल ।
(ग) ऐश्वर्यम्—ईशन (शासन) करने की सामर्थ्य ।
(घ) आदिः—आदि शब्द के द्वारा ज्ञान, इच्छा प्रभृति को भी समझाया जा रहा है । (आनन्दगिरि) समग्र शब्द का तात्पर्य है—'मेरे सगुण तथा निर्गुण भाव को सम्पूर्णरूप से' ।]

यथा—जिस प्रकार से ज्ञास्यसि—जान सकोगे [अर्थात् 'भगवान् निःसन्देह ठीक इस प्रकार ही है'] इस प्रकार जानने में समर्थ होंगे तच्छृणु—(वह मैं कह रहा हूँ) तुम (सावधान होकर) श्रवण करो ।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—"यद्भक्तिं न विना मुक्तिर्यः सेव्यः सर्वयोगिनाम् । तं वन्दे परमानन्दघनं श्रीनन्दनन्दनम् ॥" (जिनके प्रति भक्ति नहीं रहने से मुक्ति नहीं हो सकता है, जो सभी योगियों के उपास्य हैं—परमानन्दस्वरूप उस नन्दनन्दन की वन्दना करता हूँ । कर्मसंन्यास ही जिसका प्रधान साधन है (मोक्ष के साधन के रूप से कर्मसंन्यास ही मुख्यतः जहाँ प्रधान प्रतिपाद्य विषय है) उस प्रथम षट्क में (प्रथम छ अध्यायों में) ज्ञेय ब्रह्म (जो 'त्वं' पद का लक्षणार्थ शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा) है वह व्याख्यात हुआ है तथा उस आत्मा के (परमात्मा के) साथ किस प्रकार से योग प्राप्त किया जाय उसका भी वर्णन किया गया है । अब ध्येय ब्रह्म ही जहाँ प्रधानतः प्रतिपाद्य विषय है उस मध्यम षट्क में (सप्तम से बारहवाँ अध्याय में) 'तत्' पदार्थ की व्याख्या की गयी है । उसमें तथा पूर्वाध्याय के अन्तिम

श्लोक में 'योगिनामपि सर्वेषाम्' इत्यादि सन्दर्भ में जो जो भगवद्भजन उल्लेखित हुआ है उसकी ही व्याख्या (अर्थात् विस्तृतरूप से वर्णन) करने के उद्देश्य से सप्तमाध्याय का प्रारम्भ किया गया है।

(२) श्रीधर—'विज्ञेयमात्मनस्तत्त्वं सयोगं समुदीरितम्। भजनीयमथेदानीमीश्वरं रूपमीर्यते'॥ [प्रत्येक मुमुक्षु को जिसे जानना कर्तव्य है उस आत्मा का तत्त्व योगसहित (साधनोपाय सहित) विशद्रूप से गीता के प्रथमाध्याय से षष्ठाध्याय तक वर्णित हुआ है। अब मोक्षप्राप्ति के लिए जो ईश्वर का भजन (उपासना) करना पड़ेगा उस ईश्वर का रूप श्री भगवान् स्वमुख से वर्णन कर रहे हैं।]

पूर्वाध्याय के अन्त में कहा गया है 'मद्गतेनान्तरात्मना यो मां भजति स मे युक्ततमो मतः'। ऐसा श्रवण कर अर्जुन के मन में प्रश्न हो सकता है 'जिसे भक्ति करना होगा वह कैसा हो अर्थात् (तुम्हारा) यथार्थ स्वरूप क्या है ? ऐसे प्रश्न की अपेक्षा कर (अर्थात् ऐसे प्रश्न के उत्तर में) अपने स्वरूप का निरूपण करते हुए श्रीभगवान् कह रहे हैं—हे पार्थ !—हे अर्जुन ! मयि आसक्तमनाः—मुझमें (परमेश्वर में) जिनका मन आसक्त है अर्थात् पूर्णरूप से निविष्ट रहता है (लगा रहता है) एवं मदाश्रयः—एकमात्र मुझको ही आश्रय लेकर अर्थात् मेरा ही अनन्यशरण होकर योगं युञ्जन्—योग का अभ्यास करते हुए असंशयम्–संशयरहित होकर मां समग्रम्—मुझको समग्र अर्थात् विभूति, बल, ऐश्वर्य आदि के साथ मेरे स्वरूप को यथा—जिस प्रकार से अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा ज्ञास्यसि—जानोगे वह तत् शृणु :—वह ज्ञान मैं कह रहा हूँ, वह तुम सुनो।

(३) शंकरानन्द—पूर्ववर्ती छः अध्यायों के द्वारा ज्ञानयोग में आरूढ़ होने में इच्छुक व्यक्ति के लिए कर्म ही साधन है, पुनः योगारूढ़ होने से उक्त व्यक्ति के लिए सर्वकर्मसंन्यास ही साधन हैं, इस प्रकार कर्म एवं कर्म संन्यास दोनों ही क्रमशः चित्तशुद्धि एवं ज्ञानयोगसिद्धि का कारण है, यह प्रतिपादन कर एवं सांग एवं सलक्षण योग (अर्थात् उस ज्ञानयोग का अंग तथा लक्षण क्या है वह) निरूपण कर तदनन्तर योगभ्रष्ट की (विनाश की) शंका दूर कर, जो ब्रह्मविद् हैं, उनको सदा ब्रह्मनिष्ठा में ही स्थित रहना चाहिए ऐसा कहा गया है। अब जो ब्रह्मनिष्ठ में ब्रह्मविद् स्थित रहेंगे वह ब्रह्म कैसा है ? उनका लक्षण क्या है ? ब्रह्मविद् को उस ब्रह्मस्वरूप में किस प्रकार से स्थित रहना चाहिए ? ऐसी आशंका होने से उसका (अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप इत्यादि के निरूपण के लिए सप्तम अध्याय का प्रारम्भ किया

गया है। उसमें सर्वप्रथम ईश्वर का शरणागत होकर जो मुमुक्षु ब्रह्मतत्त्व के सम्बन्ध में श्रवण करने के इच्छुक हैं उनके श्रोतव्य अर्थ में अर्थात् सुनने के योग्य विषय में सावधान रहना चाहिए। यह कहने के लिए एवं भगवान् में ही आश्रित रहने से एवं भगवान् में ही मन संलग्न रहने से उनका स्वरूप जानना सम्भव है, इसे समझाने के लिए अर्जुन को श्रीभगवान् निर्देश कर रहे हैं हे पार्थ!—हे पृथापुत्र (अर्जुन) योगम्—तुम योग का अर्थात् 'दुःख के संयोग के वियोग का योग जानलो' (गीता ६।२३) इत्यादि लक्षण-युक्तयोग के विषय में जो पहले कहा गया है वह योग युञ्जन्—अनुष्ठान करने में इच्छुक होकर मदाश्रयः—मदाश्रय होकर सभी की आत्मा सभी के अन्तर्यामी, भक्तत्राणपरायण परमेश्वर मैं ही जिनका आश्रय (आलम्बन अर्थात् शरण) हैं वे मदाश्रय हैं। जिसप्रकार स्वर्गकामीका अग्निहोत्रादि कर्म आश्रय होता है अथवा जिसप्रकार जिगीषु (जय करने की वासना से युक्त) व्यक्ति का शस्त्र, अस्त्र, इत्यादि ही आश्रय होता है उसप्रकार मैं मुमुक्षु योगी का आश्रय हूँ। इसलिए स्मृति में कहा गया है 'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना' (ईश्वरानुग्रह के द्वारा ही पुरुष की अद्वैतवासना होती है)। मदाश्रय होने से ही मुमुक्षु का ज्ञान, ज्ञान के साधन का बाहुल्य (पुष्टि) एवं मोक्ष निर्विघ्न से सिद्ध होता है, इसलिए तुम मेरे आश्रित होकर एवं मयि—मुझमें अर्थात् बाद में जैसा कहा जायगा उस प्रकार लक्षणयुक्त ज्ञातव्य परब्रह्म में ही आसक्तमनाः—मनको आसक्त (संलग्न अर्थात् निविष्ट) कर अर्थात् मेरा तत्त्व, मेरा लक्षण, मेरे महत्त्व का विचार—इन सबों को जानने के लिए एवं निश्चयादि करने में ही जिसका मन आसक्त (संलग्न) रहता है वे मुझमें 'आसक्तमनाः' हैं, ऐसा समझना पड़ेगा। उसप्रकार मुझमें आसक्तमना होकर अर्थात् मन को अन्य विषय में आसक्त (युक्त) न कर माम्—मुझको [अर्थात् माया, उसका गुण, उसका धर्म, उसकी शक्ति, उसके वैभव (ऐश्वर्य) के द्वारा उपलक्षित मुझको अर्थात् मायायुक्त मुझको एवं वस्तुतः (पारमार्थिक दृष्टि से) उस मायारहित (शुद्धचैतन्यस्वरूप) मुझको (अर्थात् जिनका परमात्मा के रूप में इस अध्याय में एवं परवर्ती अध्याय में प्रतिपादन किया जा रहा है उनको) असंशयम्—संशयहीन होकर समग्रम्—साक्षात्कार द्वारा पूर्णरूप से यथा—जिसप्रकार ज्ञास्यसि—जानोगे [अर्थात् 'यही परमतत्त्व है' ऐसा जिससे जान सको उसप्रकार से मैं तुम्हें कहूँगा] तत् शृणु—वह तुम श्रवण करो, यही अर्थ है।

(४) नारायणी टीका—[षष्ठाध्याय के अन्तिम श्लोक में 'युक्ततम' योगी का लक्षण कहा गया है अर्थात् श्रद्धायुक्त होकर परमेश्वर में चित्त

जिनका निविष्ट रहता है वे योगी ही युक्ततम हैं, ऐसा कहा गया। पुनः सप्तम अध्याय के प्रथम श्लोक में उस श्लोक की ही विस्तृत व्याख्या की गयी हैं। समस्त विषयों को परित्याग कर श्रीभगवान् को एकमात्र आश्रय कर उनमें ही चित्त समाहित होने पर परमतत्त्व का समग्र ज्ञान अर्थात् पूर्णज्ञान की प्राप्ति होती है। अतः इस प्रकार से पूर्णज्ञान जिसको होता है वैसे योगी को ही श्रीभगवान् ने युक्ततम (सर्वश्रेष्ठ योगी) कहा है (गीता ६।४७)। किस उपाय से इस पूर्णज्ञान की प्राप्ति होती है वही सप्तमाध्याय में विस्तृत रूप से कहा जा रहा है]।

गीतोक्त युक्त, युक्ततर एवं युक्ततम योगी का क्या लक्षण है ? वह षष्ठाध्याय के अन्तिम श्लोक की नारायणी टीका में विस्तृतरूप से कहा गया है। किन्तु प्रश्न है भगवान् में मन, प्राण निविष्ट कर भगवान् को श्रद्धा-पूर्वक भजन करने से ही यदि युक्ततम योगी होना सम्भव है (गीता ६।४७) तो साधन की प्रथमावस्था में जो सर्वकर्म का फल भगवान् में ही समर्पण कर कर्मरूप पुष्पांजलि के द्वारा भगवान् को भजते हैं उन निष्कामकर्मयोगी तथा युक्ततम योगी में क्या भेद है ? अर्थात् निष्काम कर्मयोगी को अपेक्षा युक्ततम योगी कौन अंश में श्रेष्ठ है ? इसके उत्तर में कहा जायगा—निष्काम कर्म की दो अवस्थायें हैं—(१) निम्नतम अवस्था—चित्त अशुद्ध रहने के कारण साधक की प्रथमावस्था में साधक को प्रारब्ध संस्कारवश कर्म करना पड़ता है। अतः कर्मफल भगवान् में समर्पण कर निष्कामरूप से कर्म करने से भी कर्म ही मुख्य रहता है और भगवान् का आश्रय लिया जाता है ताकि वह कर्म निर्विघ्न से समाप्त हो जाय एवं साथ साथ वह बन्धन का कारण भी न हो। ऐसी अवस्था में शास्त्रविहित कर्म अथवा लोकसेवा, देशसेवा इत्यादि जो कोई भी कर्म किया जाता है वह अहंकार के द्वारा ही किया जाता है। इस अवस्था में भगवद्भजन भी अहंकार को आश्रय करके ही भगवान् की प्रसन्नता अथवा कृपा प्राप्त करने के लिए एवं चित्तशुद्धि प्राप्त करने के लिए ही होता है। अतः कर्म ही प्रधान रहता है इसलिए कर्मयोगी 'मद्गतान्तरात्मा' 'मदाश्रय' नहीं हो सकता है। (२) निष्काम कर्म की उच्चतम अवस्था—चित्तशुद्धि प्राप्त कर आत्मसंस्थ होकर योगी जब समस्त चिन्ताओ (कल्पनाओं) को परित्याग कर शुद्धचैतन्यस्वरूप 'मैं' को (आत्मा को) आश्रय कर स्थित रहते हैं तभी ही सिद्धयोगारूढ़ अवस्था की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में योगी परमात्मा के साथ एक हो जाते हैं अर्थात् योगी की अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती है। अतः योगी 'मद्ग-

तान्तरात्मा' 'मय्यासक्तमनाः' एवं 'मदाश्रय' हो जाते हैं। तब और अहंकार के द्वारा प्रेरित होकर कर्म नहीं करते हैं—उनका शरीर, मन, प्राण, इन्द्रिय सभी ही भगवान् की अचिन्तनीय कल्पना-शक्ति (माया) के द्वारा ही प्रेरित होकर कर्म करते रहते हैं अर्थात् उस अवस्था में योगी समस्त काम तथा संकल्प से रहित होकर भगवान् के यन्त्र के रूपसे शरीरादि से कर्म करता रहता है (गीता १८।६१)। यन्त्रको जिस प्रकार किसी कर्म का शुभाशुभ, पापपुण्य स्पर्श नहीं करता है इस प्रकार त्रिगुणमय शरीरादि के कर्म के द्वारा शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान् के साथ एकीभूत योगारूढ़ योगी भी किसी कर्म के फल (पाप-पुण्य इत्यादि) के द्वारा लिप्त नहीं होते हैं। यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है। प्रकृति से (शरीरादि) से पुरुष (शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा) तब पृथक् हो जाता है—प्रकृति (शरीरादि) जो कुछ स्वभाववश करती है वह पुरुष के लिए ही करते हुए सती स्त्री की सदृश पुरुषको ही निरन्तर भजन (स्मरण) करती है एवं पुरुष के साथ ही सर्वदा युक्त रहती है। इसलिए इसे युक्ततम अवस्था (योग की श्रेष्ठ अवस्था) कही गयी है। अतः निष्काम कर्मयोग में कर्म प्रधान (मुख्य) है और भगवद्भजन गौण रहता है और 'युक्ततम' अवस्था में भगवद्भजन (निरन्तर भगवत्स्मरण अथवा भगवान् के साथ एकत्वबोध) प्रधान रहता है और कर्म गौण रहता है क्योंकि तब योगी का कर्म अहंकारशून्य, कामशून्य एवं संकल्पशून्य काष्ठपुत्तलिका के कर्म की सदृश होता रहता है। यही विशेषता है।

पहले ही प्रथम षट्कमें (१—६ अध्यायों में) 'त्वं' पदार्थ के शोधन का (जीवात्मा किस प्रकार अज्ञान से मुक्त होकर अपना शुद्ध स्वरूप जान सकता है उसका) उपदेश दिया गया है। जीवात्मा अज्ञान के द्वारा वशीभूत होकर ही विषय में आसक्त होता है एवं यह आसक्ति ही अज्ञानी जीवको कर्म करा लेती है एवं कर्मफल भोग कराने के लिए जन्ममृत्यु के प्रवाह में निक्षिप्त कर देता है। यह विषतासक्ति ही चित्त के अशुद्धि का कारण है, क्योंकि जबतक मायामरीचिकारूप विषय के प्रति आसक्ति रहती है एवं जीव पुरुषार्थ रूप से विषयको ही आश्रय करता है अर्थात् 'विषयासक्तमनाः' एवं 'विषयाश्रय' रहता है तबतक शुद्ध परमार्थस्वरूप भगवान् के प्रति (ब्रह्मस्वरूप आत्मा के प्रति) आसक्ति नहीं हो सकती है एवं एकमात्र भगवान् को ही आश्रय (अवलम्बन) कर स्थित नहीं रह सकता है। इसलिए निष्काम कर्मयोग के द्वारा अर्थात् सर्वकर्म तथा कर्मफल भगवान् में समर्पण कर (कर्मसंन्यासात्मक साधना के द्वारा) शास्त्र विहित कर्म के अनुष्ठान के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त

कर एवं मुख्यसंन्यास के द्वारा चित्त को आत्मसंस्थ कर जीवात्मा का परमात्मा के साथ एकत्व सम्पादन कर 'युक्ततम' होकर त्वं पदार्थ का (जीवात्मा का) शोधन करना पड़ता है। यह प्रथम छ अध्यायों में कहा गया हैं। मध्यम षट्क में 'तत्पदार्थ' का निर्णय हो रहा है अर्थात् योगारूढ़ साधक समाहित चित्त होकर श्रद्धा के साथ जिस भगवान् का भजन कर युक्ततम योगी होंगे (गीता ६।४७) उस समस्त विभूतिवल ऐश्वर्यादि सम्पन्न भगवान् का स्वरूप निर्णय किया जा रहा है। उपास्य का स्वरूप समग्ररूप से (सगुण, निर्गुण सब कुछ वे ही हैं—वे ही सभी की आत्मा हैं ऐसा) जानने से ही उपास्य के प्रति पूर्ण श्रद्धा तथा प्रेम होना सम्भव है क्योंकि जो पूर्ण हैं वे ही सर्वोत्तम श्रद्धा के पात्र हो सकते हैं एवं जो आत्मा है, वे ही प्रियतम होते हैं इस स्वरूप के सम्बन्ध में कोई संशय रहने से (असम्भावना तथा विपरीत भावना रहने से) अतिशय श्रद्धा तथा प्रेम होना असम्भव है। इसलिए जिससे संशय का लेशमात्र भी न रहे इसप्रकार से परमतत्त्व को जानना पड़ेगा। संशय की निवृत्ति साक्षात् अनुभव के विना सम्भव नहीं है। इसलिए सर्वात्मा भगवान् का साक्षात्कार करने के लिये एकमात्र भगवान् को ही परम पुरुषार्थ के रूप से आश्रय कर (विषय को नहीं) योग (मन की स्थिरता) साधना करना पड़ेगा यह ही 'योगं युञ्जन्' पद का तात्पर्य है। किन्तु किसी वस्तु को आश्रय करने से उसी में मन आसक्त होगा ऐसी कोई बात नहीं है, जिसप्रकार लोग स्वार्थसिद्धि के लिए किसी राजा अथवा धनी व्यक्ति का आश्रय ग्रहण करने पर भी उनके प्रति आसक्त न रहकर स्त्री पुत्रादि में आसक्त रह सकते हैं। किन्तु आसक्ति नहीं रहने से कभी भी योग अथवा मिलन होना सम्भव नहीं है इस लिए केवल 'मदाश्रय' होकर समाधि का अनुष्ठान करने से ही नहीं चलेगा 'मय्यासक्तमनाः' भी होना पड़ेगा अर्थात् भगवान् का केवल शरणापन्न होने से ही नहीं चलेगा उसमें परम प्रेम पूर्वक मनको विलय कर दे सकने से ही निर्विकल्प समाधि के द्वारा वे कौन हैं एवं कितने बड़े हैं वह (गीता १८।५५) [अर्थात् वे ही सत्यस्वरूप एवं अनन्त (पूर्णस्वरूप) आत्मा हैं एवं वे ही ब्रह्म (सर्वव्यापी सर्वोत्कृष्ट) हैं यह वात] संशय रहित होकर जानना सम्भव है, 'असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि' इस वाक्य के द्वारा यही सूचित हो रहा है। श्रीभगवान् जब कृपा कर जीव के शुद्धचित्त में गुरु के रूप से आविर्भूत होकर भक्त का उद्धार करने के लिए अपना समग्र स्वरूप (पूर्णस्वरूप) स्वयं ही प्रगट कर देते हैं तभी उनको ठीक-ठीक (यथार्थ रूप से)

जानना सम्भव है—दूसरा कोई उपाय नहीं हैं, यही इस श्लोक में कहने का अभिप्राय है।

[पूर्ववर्ती श्लोक में 'ज्ञास्यसि' अर्थात् तुम जान सकोगे, ऐसा कहने में जिस ज्ञान के सम्बन्ध में भगवान् कहेंगे वह तो परोक्ष ज्ञान भी हो सकता है एवं यदि परोक्ष ज्ञान ही हो तब उसके द्वारा अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती है अतः उस ज्ञान के सम्बन्ध में उपदेश देने की सार्थकता नहीं है, ऐसी शंका हो सकती है। इस शंका को दूर करने के उद्देश्य से एवं जिस ज्ञान के सम्बन्ध में पूर्व श्लोक में कहा गया है उस विषय में श्रोताओं के सुनने का आग्रह ताकि वृद्धि हो इसलिए उस ज्ञान की प्रशंसा की जा रही है—]

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

अन्वय—अहं ते सविज्ञानम् इदं ज्ञानम् अशेषतः वक्ष्यामि, यज्ज्ञात्वा इह भूयः अन्यत् ज्ञातव्यं न अवशिष्यते।

अनुवाद—मैं तुमको विज्ञान सहित (श्रवण के बाद जो अनुभव होता है उसके साथ) मद्विषयक ज्ञान निःशेष रूप से (सम्पूर्ण रूप से) उपदेश दे रहा हूँ। यह ज्ञान प्राप्त करने से इस जगत् में कोई वस्तु और ज्ञातव्य (जानने योग्य) नहीं रहेगा अर्थात् इस ज्ञान को प्राप्त करने से ही तुम सर्वज्ञ हो सकोगे एवं कृतार्थ होओगे।

भाष्यदीपिका—अहं ते—मैं तुमको सविज्ञानम्—[आत्मविषयक ज्ञान स्वतः परोक्ष होने से भी आत्मा ब्रह्म नहीं हो सकता है, ऐसा असम्भावनादि प्रतिबन्धक रहने के कारण वह ज्ञान फल उत्पन्न नहीं कर सकता है अर्थात् अविद्या नाश नहीं कर सकता है। इसलिए (वह आत्मविषयक ज्ञान स्वरूपतः अपरोक्ष होने पर भी) उसको गौणरूप से परोक्ष ज्ञान के नाम से अभिहित किया जाता है। ऐसे परोक्षज्ञान के साथ नहीं परन्तु] विज्ञान के साथ अर्थात् स्वानुभव के साथ (अपरोक्षज्ञान के साथ) ['तत्त्वमसि' प्रभृति वेदान्तवाक्य श्रवण करने के बाद विचार परिपक्व (सुदृढ़) होने से (वेदान्तवाक्य के विचार से उत्पन्न शब्द प्रमाण के प्रभाव से ही) जो अनुभव (विशेष ज्ञान) उत्पन्न होता है उसके द्वारा असम्भावना तथा विपरीत भावना प्रभृति (जो नित्य सिद्ध ब्रह्म अथवा भगवान् स्वरूप आत्मा के प्रकाश का

प्रतिबन्धक होता है वह) दूर होता है तथा अविद्या का नाश होकर आत्म-साक्षात्कार होता है। इसे ही विज्ञान (विशेष ज्ञान) कहा जाता है। (मधुसूदन)] ऐसे विज्ञान के साथ इदं ज्ञानम् अशेषतः वक्ष्यामि—मद् विषयक यह समग्र ज्ञान [अपरोक्ष ज्ञान (आनन्दगिरि)] निःशेष रूप से [अर्थात् जिससे कि वस्तु का साक्षात् अनुभव हो सके उस प्रकार से इस ज्ञान का साधन तथा फल प्रभृति के साथ निरवशेष रूप से (सम्पूर्ण रूप से)] कहूँगा। ब्रह्म, भगवान्, आत्मा तथा शुद्ध 'अहं' पर्यायवाचक शब्द है। अतः वे शब्द एक ही वस्तु को (शुद्ध चैतन्य स्वरूप सत्ता को) लक्ष्य कर कहा जाता है। मद्विषयक ज्ञान अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा के सम्बन्ध में जो ज्ञान है वह सभी को ही स्वभावतः अपरोक्ष है क्योंकि 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव किसी को भी नहीं होता है। पहले ही कहा गया है ऐसा होने से भी असम्भावना तथा विपरीतभावनारूप प्रतिबन्धक रहने के कारण अज्ञानवश मेघाच्छादित सूर्य सदृश वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता है अर्थात् वह परोक्ष ही रहता है। श्रवणादि के द्वारा जब अज्ञानरूप आवरण की निवृत्ति होती है तभी विज्ञान (अर्थात् साक्षात्कार के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान) उत्पन्न होता है। 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्य के द्वारा जिसप्रकार अस्तित्वज्ञान का उदय होता है उसप्रकार श्रवण के द्वारा अर्थात् शब्द ज्ञान द्वारा भी आत्मस्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है। यत् ज्ञात्वा—जिस विज्ञान-सहित ज्ञान को जानकर। [यत् (जो अर्थात् नित्यचैतन्यस्वरूप जो ज्ञान है उसको) ज्ञात्वा (जानने पर अर्थात् वेदान्तवाक्य की परिपक्वता से जो विशेष मनोवृत्ति उत्पन्न होती है उस मनोवृत्तिको विषयीभूत करने पर)—(मधुसूदन)] इह—इस श्लोक में—इस संसार में [अर्थात् व्यवहार भूमि में (मधुसूदन)] भूयः—पुनः अन्यत्—अन्य कुछ ज्ञातव्यं—जानने योग्य (पुरुषार्थ का साधन) न अवशिष्यते—अवशिष्ट नहीं रहेगा अर्थात् पुरुषार्थ साधन के लिए (मोक्ष के लिए) योग्य अन्य किसी वस्तु को जानने के लिए अवशेष नहीं रहेगा अर्थात् आवश्यकता नहीं होगी क्योंकि इसके द्वारा ही तुम कृतार्थ होओगे। अतः मेरे तत्त्व को जो जानते हैं वे सर्वज्ञ हैं। [कल्पित (मिथ्या) द्वैतप्रपंच की अधिष्ठान सत्ता का (ब्रह्म का अथवा शुद्धचैतन्य स्वरूप 'में' का) ज्ञान होने पर समस्त अविद्याकल्पित जागतिक वस्तु बाधित हो जाती है एवं केवलमात्र सभी के अधिष्ठानरूप ब्रह्मसत्तामात्र ही अवशिष्ट रहता है। अधिष्ठान सत्ता से मिथ्या कल्पित वस्तु की अन्य कोई पृथक् सत्ता नहीं रह सकती है। अतः एकमात्र सत् ब्रह्म के ज्ञान से ही

समस्त वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान होता है श्रुति में भी कहा गया है—'आत्मनि वा अरे विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' अर्थात् आत्मा को जानने से ही दृश्य प्रपंच नामक जो कुछ हैं वे सभी ही विज्ञात होते हैं (अर्थात् समस्त वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है)।] इसप्रकार विशिष्ट (उत्तम) फल लाभ के हेतु यह ज्ञान दुर्लभ है। इसे प्राप्त करने से ही तुम कृतकृत्य होओगे, इस विषय में कोई संशय नहीं है यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पूर्वश्लोकोक्त ज्ञान की स्तुति कर रहे हैं] ज्ञानं—शास्त्रीय ज्ञान सविज्ञानं—अनुभवसहित इदं—मद्‌विषयक अर्थात् स्वानुभव मेरा यह स्वरूपविषयक ज्ञान अशेषतः वक्ष्यामि—सम्पूर्ण रूप से तुम्हारे निकट वर्णन करूँगा यत् ज्ञात्वा—जिसे जानने पर इह—श्रेयोमार्ग में (मोक्षमार्ग में) चलने वाले पुरुष के लिए पुनः ज्ञातव्यं न अवशिष्यते—और ज्ञातव्य (जानने योग्य अन्य कुछ अवशिष्ट (शेष) नहीं रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि साधक उसके द्वारा ही (विज्ञान के साथ ज्ञान के द्वारा ही) कृतार्थ हो जाते हैं।

(२) शंकरानन्द—जिस ज्ञान का उपदेश प्रदान करने के लिए श्रीभगवान् ने प्रतिज्ञा किया था, उस ज्ञान के सम्बन्ध में वे कह रहे हैं—

अहं ते—मैं तुम्हें ज्ञानं—मद्‌विषयक (मेरे सम्बन्धी) ज्ञान सविज्ञानं—विज्ञानसहित अर्थात् उपदेश देने के बाद ही क्षणभर में जो अनुभव उत्पन्न होता है उस अनुभव के साथ अशेषतः—अशेषरूप से अर्थात् जितने परिमाण में उपदेश सत् वस्तु के अनुभव के लिए आवश्यक हैं उतना उपदेश निःशेष रूप से (अर्थात् सम्पूर्णरूप से) वक्ष्यामि—कहूँगा अर्थात् प्रदान करूँगा यद् ज्ञात्वा—जो जानकर अर्थात् मेरे द्वारा उपदिष्ट जो ज्ञान प्राप्त होकर इह—यह अर्थात् ब्रह्म के सम्बन्ध में तुम्हारा भूयः—पुनः ज्ञातव्यं—ज्ञातव्य अर्थात् प्राप्तव्य अन्यत्—अन्य पुरुषार्थ साधन न अवशिष्यते—अवशिष्ट (अपेक्षित) नहीं रहेगा अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा तुम कृतार्थ हो जाओगे वह सविज्ञान ज्ञान अब मैं तुम्हें दूँगा, यही अर्थ है। अथवा अहं ते-मैं जगद्‌गुरु तुम्हारे लिए अर्थात् शुद्धात्मा मुमुक्षु तुम्हारे लिए ज्ञानं—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति वाक्य के अनुसार जो केवलमात्र 'ज्ञानस्वरूप' हैं एवं जिनको प्रत्यक्षरूप से विद्वान् (ब्रह्मवित्) पुरुष अनुभव करते हैं अथवा जो सभी के अहम् (मैं) इस शब्द के अर्थ के रूप से साक्षात् अपरोक्ष है अथवा इदन्तरूप से निर्दिष्ट ब्रह्मतत्त्व का सविज्ञानं—सानुभव अर्थात् जिस प्रकार से उसका अनुभव हो उस प्रकार से अशेषतः—समग्ररूप से वक्ष्यामि—

उपदेश दूँगा यद् ज्ञात्वा—जिसको जानने पर अर्थात् जिसका साक्षात् अनुभव करने पर अथवा जो विशेषरूप से अर्थात् पूर्णरूप से ज्ञात होने पर इह भूयः—यहाँ (इस संसार में अथवा मनुष्य जीवन में) पुनः न ज्ञातव्यं अवशिष्यते—ज्ञातव्य (विशेषरूप से जानने योग्य) वस्तु अवशिष्ट नहीं रहता है। 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (जिनके द्वारा अश्रुत श्रुत होता है, अज्ञात ज्ञात होता है तथा अननुभूत अनुभूत हो जाता है'), 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (भगवन्, किसको जानने पर यह समस्त जगत ही ज्ञात हो सकता है) इत्यादि के द्वारा एक के विज्ञान में ही (एक परमार्थतत्त्व सम्यक्रूप से ज्ञात होने से ही) सब का विज्ञान (सम्यक् ज्ञान) होता है, ऐसा श्रुति में कहा गया है। अतः स्वयं परब्रह्म स्वरूप मुझको ज्ञात होने से पुनः विद्वान् के लिए जानने योग्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। अतः जो मेरे तत्त्व को जान जाते हैं वे सर्वज्ञ हो जाते हैं, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—श्रुति में कहा गया है 'कस्मिन् नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति', अर्थात् हे भगवन्, किन्हें जानने से सब कुछ का ज्ञान प्राप्त होता है ? अर्थात् किन्हे जानने से ज्ञातव्य और कोई वस्तु अवशिष्ट नहीं रहती है ? श्रुति इसका उत्तर दूसरी जगह दे रही है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' अर्थात् आत्मा ही दृष्ट होने से, आचार्य एवं आगम (वेद) से श्रुत होने से, युक्ति के द्वारा विचारित होने से, एवं निश्चितरूप से ज्ञात होने पर ये सब ही ज्ञात होते हैं। शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्माधिष्ठान में ही यह विश्वप्रपंच कल्पित है। अतः उस अधिष्ठानसत्ता का साक्षात् अनुभव होने से ही कल्पित सभी वस्तुओं के ही यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है, यही श्रुति का तात्पर्य है। वर्तमान श्लोक में भी उसी श्रुतिवाक्य का ही अभिप्राय कहा जा रहा है। अतीन्द्रिय आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए पहले शास्त्र तथा गुरुमुख से उसका परिचय जानकर निःसंशय होना पड़ता है। इसलिए भगवानने कहा—'इदं ज्ञानं अशेषतः'। उसके बाद गुरु के द्वारा उपदिष्ट साधनपद्धति अवलम्बन कर उस आत्मा का साक्षात्कार कर स्वरूप का यथार्थ ज्ञान (विज्ञान) प्राप्त करना पड़ता है—'सविज्ञानम्'। निर्विकल्प समाधि के द्वारा निरुपाधिक आत्मा का साक्षात्कार होने से समस्त दृश्यवस्तुओं का मिथ्यात्व निश्चय होने के कारण परमानन्द में स्थिति होती है। वही ब्राह्मीस्थिति अथवा ज्ञाननिष्ठा है। अतः और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं रहती है क्योंकि तब 'वासुदेवः सर्वमिति' (एक अखंडाद्वय वासुदेवरूपी आत्मा ही सब कुछ है) इस बोध से ब्रह्मनिष्ठ पुरुष और विच्युत

नहीं होते हैं। ऐसे विज्ञान के साथ आत्मस्वरूप का ज्ञान भगवान् अर्जुन को उपदेश देंगे, ऐसी प्रतिश्रुति दे रहे हैं।

'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वेदान्त महावाक्यों के विचार से (श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से) ब्रह्म तथा आत्मा का (परमात्मा का तथा प्रत्यगात्मा का) अभिन्नता बोधरूप अपरोक्ष प्रमा (यथार्थज्ञान अथवा अनुभूति) होती है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—(क) अनुभूति तथा (ख) स्मृति। अनुभूति प्रमाणसापेक्ष है अर्थात् प्रमाण के द्वारा इसकी सिद्धि होती है। प्रमाण मतभेद से तीन, चार, पाँच, छ अथवा उससे भी अधिक होते हैं। वेदान्तियों ने (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमिति (३) उपमिति (४) शब्द (५) अर्थापत्ति तथा (६) अनुपलब्धि ये छ प्रकारों के प्रमाण बतलाया है। सभी के मतों में ही केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से अपरोक्षज्ञान को (साक्षात् ज्ञान की) उत्पत्ति होती है एवं प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों के द्वारा जो अनुभूति होती है उसको परोक्ष ज्ञान कहा जाता है। यह अनुभव भी पुनः प्रमा (यथार्थज्ञान) एवं अप्रमा (अयथार्थ ज्ञान) के भेद से दो प्रकार का है। अब प्रश्न है 'तत्त्वमसि' प्रभृति वेदान्तवाक्यों के विचार से जो ज्ञान उत्पन्न होता है अथवा अब भगवान् जो कहेंगे उससे जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह तो केवल शाब्दिक ज्ञान ही होगा। अतः वह ज्ञान जब परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष नहीं है तब उससे (उस शाब्द ज्ञान से) अपरोक्ष अनुभव की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? शब्द से जो अपरोक्ष ज्ञान भी उत्पन्न हो सकता है उस सम्बन्ध में एक लौकिक दृष्टान्त है। दश आदमी एकसाथ एक नदी को तैरकर जब नदी के दूसरे तट पर पहुंचे तब वे आपस में देखने लगे कि सभी व्यक्ति निरापद पहुँचे हैं या नहीं। प्रत्येक व्यक्ति पृथक् पृथक् रूप से आपस में गिनने लगे। तथा प्रत्येक व्यक्तिः स्वयं को छोड़कर गिनने लगे तो हर समय गिनने पर नौ व्यक्ति ही निकलते थे। तब सभी ही सोचने लगे कि दसवां व्यक्ति नदी में डूब गया है। ऐसा समझ कर वे रोने लगे। उसी समय कोई पथिक ने उन लोगों को शोकार्त्त देखकर पुनः गणना करने के लिए कहा। उन्होंने गणना करने के बाद यह बताया कि नौ व्यक्ति ही हैं, दशवाँ व्यक्ति नहीं है। तब उस आगन्तुक ने स्वयं गणना कर प्रत्येक को अंगुलि से निर्देश कर कहा 'दशमस्त्वमसि' अर्थात् तुम ही वह दशम व्यक्ति हो। इस प्रकार जो अपरोक्ष भ्रम के कारण वे लोग इतनी देर तक शोक कर रहे थे वह 'दशमस्त्वमसि' इस शब्द के श्रवणमात्र से ही अपरोक्षज्ञान (मैं वह दशम व्यक्ति हूँ, यह ज्ञान) उत्पन्न हुआ तथा

भ्रमकी निवृत्ति हुई। अतः शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। अपरोक्ष वस्तु यदि ज्ञान का विषय हो तब वह ज्ञान भी अपरोक्ष होगा। 'तत्त्वमसि' प्रभृति वेदान्तवाक्यों का विषय है प्रत्यक् चैतन्य (अहंपद का लक्ष्य चैतन्यस्वरूप आत्मा)। अहंज्ञान (मैं हूँ, यह ज्ञान) प्रत्येक के निकट सर्वदा अपरोक्ष है। अतः वेदान्त श्रवणजन्य ज्ञान शब्द ज्ञान होने पर भी प्रत्यक्चैतन्यरूप अपरोक्ष वस्तु (आत्मा) उस ज्ञान का विषय होने के कारण वह ज्ञान भी अपरोक्ष ही होता है। तथापि जो सभी को वेदान्तवाक्य श्रवण करने से ही उसी समय अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है उसका कारण है चित्त की अशुद्धिरूप प्रतिबन्धक (अर्थात् अज्ञानजनित असम्भावना, विपरीतभावना प्रभृति प्रतिबन्धक)। उस प्रतिबन्धक की निवृत्ति के लिए ही पुनः पुनः श्रवण एवं उसका मनन तथा निदिध्यासन आवश्यक हैं। इस कारण से ही शांकर भाष्य में इस ज्ञान को दुर्लभ कहा गया है।

[यह महाफलदायक तत्त्वज्ञान मेरे (ईश्वर के) अनुग्रह विना प्राप्त करना सम्भव नहीं हैं, इसलिए यह अत्यन्त दुर्लभ है। इसे ही अत्र प्रतिपादन कर रहे हैं—]

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

अन्वय—मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् सिद्धये यतति, यतताम् सिद्धानाम् अपि कश्चित् माम् तत्त्वतः वेत्ति।

अनुवाद—सहस्र-सहस्र मनुष्यों में कोई एक सिद्धिलाभ के लिए (सत्त्व शुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्ति के लिए) प्रयत्न करता है, पुनः (सहस्र-सहस्र मोक्षलाभ के लिए) यत्नशील सिद्धों में (चित्तशुद्धि सम्पन्न व्यक्तियों में) कोई एक मुझको तत्त्वतः (अर्थात् यथार्थरूप से मेरे स्वरूप को) जानने में समर्थ होता है।

भाष्यदीपिका—मनुष्याणां सहस्रेषु—हजार-हजार मनुष्यों में। मनुष्य भिन्न अन्य किसी प्राणी को बन्ध तथा मोक्ष का ज्ञान नहीं रहता है, यही सूचित करने के लिए एवं मनुष्य का ही शास्त्रविहित कर्म के अनुष्ठान में एवं वेदान्तवाक्य के श्रवणादि में अधिकार है, यह निर्देश करने के लिए 'मनुष्य' शब्द व्यवहृत हुआ है।

कश्चित् सिद्धये यतते—कोई कोई व्यक्ति अनेक जन्मों के संचित पुण्यराशि के फलस्वरूप से एवं श्रद्धापूर्वक निष्काम कर्मयोगानुष्ठान के फल

रूप से नित्यानित्य वस्तु का विवेक (पार्थक्य) करने में समर्थ होकर एवं वैराग्य, शम, दमादि उत्तम साधनों से सम्पन्न होकर सिद्धि के लिए अर्थात् सत्त्वशुद्धिपूर्वक तत्त्वज्ञान प्राप्ति के लिए (अर्थात् मोक्ष के लिए) श्रवण मननादि के द्वारा प्रयत्न करते हैं।

यततां सिद्धानाम् अपि कश्चित्—प्रयत्नशील अर्थात् जो व्यक्ति ज्ञान प्राप्ति के (अथवा मोक्ष के) लिए सतत चेष्टा कर रहे हैं उन सिद्धों में (साधक गणों में) भी कोई एक साधक [जो लोग मोक्षप्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं वे भी (एक प्रकार से) सिद्ध हैं अर्थात् उन साधकों को भी सिद्ध कहा जाता है। यहाँ 'यतताम्' शब्द के द्वारा साधक को ही सिद्ध कहा गया है, ऐसा समझना पड़ेगा।]

माम्—[मुझको—परमेश्वर को] तत्त्वतः वेत्ति—यथार्थ रूप से जानते हैं। [साक्षात्कार करते हैं (मधुसूदन)। गुरु के द्वारा उपदिष्ट 'तत्त्वमसि' प्रभृति वेदान्त महावाक्यों के श्रवण के बाद मनन तथा निदिध्यासन की परिपक्वता होने से प्रत्यगात्मा का (जीवात्मा का) तथा मेरा (परमात्मा का) ऐक्य (अभिन्नरूप से) साक्षात्कार कर मेरा अर्थात् अखंडाद्वय चिद्घन परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप को जानने में समर्थ होते हैं। करोड़ों मनुष्यों में भी आत्मज्ञान प्राप्त करने में इच्छुक (मुमुक्षु) होकर आत्मज्ञान साधन का अनुष्ठान करते हैं ऐसे व्यक्ति अति दुर्लभ हैं। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील सिद्धों में (साधकों में) भी जो जीवात्मा तथा परमात्मा का एकत्व साक्षात् कर मेरा (परब्रह्म का) स्वरूप यथार्थ रूप से जानकर मोक्ष के भागी होते हैं, ऐसे महाभाग्यशाली व्यक्ति परम (अत्यन्त) दुर्लभ हैं। अतः इस ज्ञान का जो असीम माहात्म्य है उसे भाषा की सहायता से प्रकाश करना सम्भव नहीं है। इस दुर्लभ आत्मज्ञान के सम्बन्ध में अब तुम्हें कह रहा हूँ, तुम ध्यान से इसे सुनो—यही कहने का अभिप्राय है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[मेरे प्रति भक्ति के विना मेरे सम्बन्ध में ज्ञान लाभ करना दुर्लभ है, यही श्री भगवान कह रहे हैं—] मनुष्याणां सहस्रेषु—असंख्य जीवों में। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी जीव की कल्याण मार्ग में (मोक्षमार्ग में) प्रवृत्ति नहीं होती है। (ऐसे ज्ञान के अधिकारी) सहस्र सहस्र मनुष्यों में भी कश्चित्—कोई एक साधक प्रकृष्ट (श्रेष्ठ) पुण्य के बल से सिद्धये—सिद्धि का (अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्ति के) लिए यतते—प्रयत्न करता है। यतताम् अपि कश्चित् मां वेत्ति—जो लोग आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं ऐसे सहस्र-सहस्र साधकों में

भी कोई एक पुरुष ही श्रेष्ठ पुण्य के बल से मुझको अर्थात् आत्मा को जान सकता है। सिद्धानाम् अपि कश्चित् मां तत्त्वतः वेत्ति—आत्मज्ञान में सिद्ध सहस्र-सहस्र सिद्धों में कोई एक दुर्लभ व्यक्ति ही मुझको (परमात्मा को) मेरी कृपा से तत्त्वतः अर्थात् यथार्थ रूप से [अखंडाद्वय शुद्धचैतन्यरूप से तथा सर्वभूत की आत्मा के रूप से] जान सकता है। अभिप्राय यह है कि यह विज्ञान सहित मेरा स्वरूपविषयक ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी मैं उसे तुमको कहूँगा—तुम यत्न के साथ इसे सुनो।

(२) शंकरानन्द—शंका—यदि ब्रह्म का अर्थ 'मैं' ही हो तो 'ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि सर्वत्र क्यों नहीं होती है ?

समाधान—तुम ठीक ही कह रहे हो। यद्यपि 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' [जो साक्षात् हैं अपरोक्ष ब्रह्म हैं—(बृ० उ०) इस प्रकार श्रुति में ब्रह्म की साक्षात् अपरोक्षता कही गयी हैं तथापि उक्त प्रकार से आत्मा की उपलब्धि नहीं होती है क्योंकि अनेक जन्मों से अर्जित पुण्य समूह से चित्त का परिपाक उत्पन्न होने से मनुष्य जब विवेक, वैराग्य, शम, दम संन्यास इत्यादि उत्तम साधनयुक्त एवं परमेश्वर के अनुग्रह का पात्र (अर्थात् अनुग्रह भाजन) होता है तभी ही श्रवण, मनन इत्यादि के द्वारा उसको वह ज्ञान प्राप्त होता है। मलिनबुद्धि, ईश्वर की कृपा से रहित एवं कामानल में (कामरूप अग्नि में) दग्ध व्यक्ति को ऐसा ज्ञान प्राप्त नहीं होता है, जिस प्रकार सर्वगत सूर्य की प्रभा को (किरण को) अन्ध प्राप्त नहीं कर सकता है (नहीं देख सकता है)। इसलिए आत्मज्ञान दुर्लभ है—यही यहाँ कहा जा रहा है—

मनुष्याणाम्—मनुष्यों में अर्थात् हजार हजार मनुष्यों में। 'मनुष्याणां सहस्रेषु' इस वाक्य में 'मनुष्याणाम्' शब्द के द्वारा मनुष्यत्व के ग्रहण के द्वारा मनुष्य से भिन्न दूसरे के बन्धन अथवा मोक्ष के सम्बन्ध में ज्ञान का अभाव रहता है, यह सूचित किया जा रहा है। मनुष्य का ही बन्ध मोक्ष के ज्ञान सम्बन्धी शास्त्र में अधिकार है, एवं वे ही शास्त्रों के अनुशासन के अनुसार अपने को गठीत करने के योग्य है। इसलिए मनुष्यत्व प्राप्तकारी का एवं उसमें भी जो लोग ब्राह्मणत्व प्राप्त हुए हैं उनलोगों को अवश्य ही मोक्ष के लिए यत्न करना चाहिए, ऐसा समझाने के लिए 'मनुष्याणाम्' शब्द का प्रयोग किया गया है। उन मनुष्यों में भी जो लोग पापपूरित (पाप से पूर्ण) देह धारण किये हुए हैं उनकी मुक्ति की योग्यता नहीं है, यह सूचित करने के लिए 'सहस्रेषु' शब्द का प्रयोग किया गया है। **सहस्रेषु**—यह शब्द हजार, दस हजार, लाखों के उपलक्षण है, क्योंकि जो केवलमात्र देव की

(परमात्मा की) कृपा के द्वारा ही प्राप्त होना सम्भव है वह मुमुक्षा (मोक्ष लाभ करने की प्रवृत्ति) अत्यन्त दुर्लभ है। इस कारण से उक्त संख्यक मनुष्यों में कश्चिद्—केवलमात्र मोक्ष की कामना के द्वारा, श्रद्धाभक्ति के द्वारा, ईश्वरार्पण बुद्धि के द्वारा, बहु जन्म में अनुष्ठित पुण्यकर्म के परिपाक के द्वारा शुद्धचित्त होकर एवं विवेक, वैराग्य, शमदम आदि उत्तम साधनसम्पन्न होकर कोई एक व्यक्ति सिद्धये—सिद्धि के लिए अर्थात् ज्ञानसिद्धि के लिए यतति—यत्न करता है (नित्य, निरन्तर श्रवणादि निष्ठा के द्वारा यत्न करता है)। वे ही सिद्ध होते हैं जिनका चित्त दृष्ट एवं अदृष्ट सम्पूर्ण विषयादि से विमुख होकर श्रवणादि में ही स्थित रहते हैं। अतः यतताम् अपि सिद्धानाम्—उक्त लक्षणसम्पन्न एवं ज्ञानसिद्धि के लिए श्रवणादि में प्रयत्नशील (एकनिष्ठ) हजार, करोड़ सिद्धों में भी कश्चिद्—कोई एक विरल व्यक्ति ही गुरु आत्मा एवं ईश्वर का प्रसादसम्पन्न होकर नित्य निरन्तर निर्विकल्पक समाधिनिष्ठा के द्वारा परिपक्व उत्तम ब्रह्मविद् मां—'सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकार साक्षात् मुझको अर्थात् आनन्दैकरस, चिद्‌घन, अद्वितीय परब्रह्म को वेत्ति—जानते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं। यदि शंका हो कि विष्णु, ईश्वर, राम एवं कृष्ण को देवता, मनुष्य आदि सभी ही जानते हैं, ऐसी अवस्था में मुझको कोई विरल व्यक्ति ही जानता है, ऐसा तुमने कैसे कहा ? तो इसके उत्तर में कहा जायगा कि यह शंका युक्त नहीं है क्योंकि वे लोग उनलोगों से भिन्न परिच्छिन्न (सीमित) मेरे अयथाभूत (मायिक) स्वरूप को ही जानते हैं, यथार्थस्वरूप को नहीं जानते हैं ऐसा कहने के लिए ही 'तत्त्वतः' शब्द प्रयोग किया गया है। तत्त्वतः—तत्त्व के द्वारा। श्रुति 'एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्ये' (उस अदृश्य अनात्म्य से) इस प्रकार दृश्यविशिष्टतारहित रूप में (अर्थात् मैं दृश्य नहीं हूँ—सदा ही द्रष्टा हूँ, इस रूप में) मुझको प्रतिपादित किया है। अतः माया का एवं माया के कार्यलेश के साथ सम्बन्ध शून्य नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, आनन्दैकमूर्त्ति, अद्वितीय उस परम तत्त्व को एकमात्र ब्रह्मविदुत्तम ही (श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही) अपनी आत्मा के रूप से साक्षात् जानते हैं, अन्य कोई नहीं जान सकता है। इससे ब्राह्मणादि समस्त वर्णों की मुमुक्षुता, चित्तशुद्धि, ज्ञान के उद्देश्य से नियत श्रवणादि में प्रवृत्ति, उससे उत्पन्न सम्यक् ज्ञानसिद्धि एवं केवल उन्हीं के द्वारा होनेवाला मुक्ति का क्रम पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर अति दुर्लभ है, यही सूचित किया गया। इसलिए विवेकसम्पन्न पुरुषों को प्रयत्न कर उक्त साधनसम्पत्ति के द्वारा मुक्ति सम्पादन करना (मोक्षप्राप्त करना) चाहिए, यही सिद्ध किया गया।

(३) नारायणी टीका । (क) मनुष्याणाम् इत्यादि–'मनुष्य' शब्द के द्वारा आत्मतत्त्व का अधिकारी—भी दुर्लभ है यह सूचित किया जा रहा है । ब्रह्मांड में अनन्त कोटी जीव हैं उनमें मनुष्य भिन्न अन्य कोई जीव आत्मतत्त्व नहीं जान सकता है क्योंकि केवल मनुष्य ही शास्त्र आदि के द्वारा विहित कर्मानुष्ठान कर चित्तशुद्धि सम्पादन कर आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है । मनुष्यों में निष्काम कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर साधनचतुष्टय से सम्पन्न होकर आत्मज्ञान सिद्धि के लिए जो लोग प्रयत्न करते हैं उनकी संख्या अति अल्प है । इस प्रकार प्रयत्नबल से एवं गुरुमुख से वेदान्त वाक्यादि का श्रवण तथा मनन के द्वारा जिनलोगों का परोक्षज्ञान सिद्ध हुआ है अर्थात् संशयरहित (असम्भावना तथा विपरीतभावना रहित) होकर आत्मतत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चयबुद्धि प्राप्त किये हैं उनलोगों की संख्या और भी अल्प है । पुनः परोक्ष ज्ञान में सिद्ध महात्माओं में भी निदिध्यासन (निर्विकल्प समाधि) के द्वारा जो लोग आत्मतत्त्व को (अखंडाद्वयशुद्धचैतन्यस्वरूप परमात्मा को) यथार्थरूप से जानते हैं उनकी संख्या नितान्त ही अल्प है क्योंकि स्वयं ब्रह्म न होने पर कोई ब्रह्मस्वरूप का तत्त्व ठीक ठीक नहीं जान सकता है । अथवा जो लोग सिद्धिलाभ करने के लिए (इष्टदेवता का दर्शन अथवा अणिमा लघिमा इत्यादि सिद्धियाँ लाभ करने के लिए) यत्न करते हैं अर्थात् तदनुकूल शास्त्रनिर्दिष्ट उपाय के द्वारा प्रयत्न करते हैं उनकी संख्या अत्यन्त विरल है । इस प्रकार साधनशील होकर जो लोग सिद्ध हुए हैं (अर्थात् इष्टदेवता का दर्शन प्राप्त होकर अथवा अणिमादि विभूति (ऐश्वर्य) प्राप्त होकर सिद्ध हुए हैं) एवं सिद्ध होकर बाद में मेरा यथार्थस्वरूप (तत्त्वतः) जानने के लिए प्रयत्न करते हैं (यतताम्) उनमें भी कोई एक भाग्यवान महात्मा ही निर्विकल्प समाधि के द्वारा ब्रह्म तथा आत्मा का एकत्व साक्षात्कार कर मुझे (अहंपदलक्ष्य शुद्ध-चैतन्यस्वरूप आत्मा को) तत्त्वतः जान सकते हैं ।

तत्त्वज्ञान दुर्लभ क्यों है ?—(ख) यद्यपि अहम् शब्द का लक्ष्यार्थ वस्तु ब्रह्म है एवं श्रुति में भी कहा गया है 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म साक्षात् एवं अपरोक्ष है तथापि अज्ञान के द्वारा चित्त मलिन रहने के कारण सदा अन्तर में स्थित साक्षात् तथा अपरोक्ष ब्रह्मस्वरूप आत्मा को अज्ञानी लोग नहीं जान सकते हैं । अनेक जन्मार्जित पुण्य समूह के द्वारा प्रेरित होकर ही जीव निष्काम रूप से एवं ईश्वरार्पण बुद्धि से अपना अपना आश्रमानुकूल शास्त्रविहित कर्म अनुष्ठान कर चित्तशुद्धि प्राप्त करता है एवं

साधन के परिपाक होनेपर विवेक, वैराग्य, शम, दम, संन्यासादि उत्तम साधन से सम्पन्न होकर परमेश्वर के अनुग्रह से श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा वह ज्ञान प्राप्त होता है। मलिनचित्त, ईश्वरकृपा से वंचित एवं कामरूप अग्नि के द्वारा दग्ध पुरुष को वह ज्ञान प्राप्त नहीं होता है जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अन्ध व्यक्ति के द्वारा उपलब्ध नहीं होता है। इसलिए आत्मज्ञान अतिशय दुर्लभ है।

(ग) तत्त्वतः—तत्त्वतः शब्द के द्वारा सर्वोपाधिरहित शुद्धचैतन्य-स्वरूप आत्मा का तत्त्वज्ञान निर्देश किया गया है, क्योंकि वैसे तत्त्वज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, दूसरे किसी उपाय के द्वारा नहीं। 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्मेऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति'। (तै० उ०) अर्थात् जब यह साधक दृश्यत्वरहित अर्थात् सर्वप्रकार से विकार रहित, शरीर रहित, वाणी का अविषय निराधार (स्वयं-प्रकाश) अर्थात् माया तथा माया के कार्य के साथ लेशमात्र सम्बन्धशून्य, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, आनन्दैकमूर्ति, अद्वितीय, भयरहित, परब्रह्म का अपनी आत्मा से अभिन्नरूप से साक्षात्कार कर उनमें ही स्थिति लाभ करते हैं तब वे अभय प्राप्त करते हैं अर्थात् सर्वसंसाररूप भय से मुक्त होते हैं। अतः 'तत्त्वतः' शब्द के द्वारा माया-उपाधिविशिष्ट सगुण ब्रह्म के स्वरूप को जानने के सम्बन्ध में नहीं कहा गया है।

(घ) 'सिद्धये', 'सिद्धानां' ये दो शब्दों का तात्पर्य--

गीता में 'सिद्धि' शब्द विविध अर्थों में व्यवहृत हुआ है। यथा—

३ / ४—सिद्धि = ज्ञानयोग के द्वारा जो नैष्कर्म्य (कर्मशून्यता) रूप निष्ठा (स्थिति) प्राप्त होती है वह।

४ /१२—सिद्धि=फल निष्पत्ति (फलप्राप्ति)

६ /४३—संसिद्धि=पूर्णसिद्धि (मोक्ष)

७ / ३—सिद्धये=(मोक्ष की) सिद्धि के लिये

१२/२०—सिद्धि=[चित्तशुद्धि के बाद योगानुष्ठान के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर] परमसिद्धि (मोक्ष प्राप्ति)

१४/ १—सिद्धि (परा) = मोक्ष।

१६/२३—सिद्धि = पुरुषार्थ योग्यता (किसी कर्म के द्वारा सुफल प्राप्त करने की योग्यता)

१८/४५—संसिद्धि = अपने कर्तव्य कर्म के अनुष्ठान के द्वारा चित्त की अशुद्धि क्षय होने से (कामवासना की निवृत्ति होने से) शरीर तथा इन्द्रियों की ज्ञाननिष्ठा प्राप्ति की योग्यता।

१८/४६—सिद्धि = ज्ञाननिष्ठा की योग्यता

१८/५०—सिद्धि = अपने-अपने कर्म के द्वारा ईश्वर की पूजा कर ईश्वर की कृपा से शरीर तथा इन्द्रियों की ज्ञाननिष्ठा प्राप्त करने की योग्यता।

२/४८, ४/१२, ४/२२, १८/१३—सिद्धि = कर्म की फलप्राप्ति

७ / ३—सिद्धि = जो मोक्ष के लिए प्रयत्न करते हैं वे भी एक तरह से सिद्ध ही हैं।

१०/२६—सिद्ध = जन्म से ही जो अतिशय धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य प्राप्त हुए हैं ऐसे पुरुषको सिद्ध कहा जाता है (जैसे कपिल मुनि)

१६/१४—सिद्ध = सम्पन्न अर्थात् पुत्र पौत्र इत्यादि के द्वारा सम्पन्न।

[उपर्युक्त व्याख्या शंकराचार्य ने किया है। दूसरे टीकाकारगण ने दूसरे प्रकार से भी व्याख्या किया है। वह यथास्थान दिखाया जायगा।]

[पूर्ववर्ती श्लोक में श्रीभगवान् ने तत्त्वज्ञान का माहात्म्य वर्णन कर श्रोता अर्जुन की रुचि वृद्धि कर आत्मज्ञान की ओर अभिमुख किया। किन्तु श्रुति में कहा गया है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सब कुछ ही ब्रह्म है। यह एक ही निर्विकार ब्रह्म किस प्रकार से विकारशील एवं अनन्त नाम तथा रूप एवं क्रिया रूप में परिणत हो सकता है ऐसी शंका यदि हो तो वेदान्त इसके उत्तर में कहता है—ब्रह्म अथवा आत्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है और जगत् अर्थात् जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय सभी ही मिथ्या है क्योंकि वह वस्तुतः नहीं रहते हुए भी माया शक्ति से रज्जुसर्पवत् विवर्त के रूप से ब्रह्मरूप अधिष्ठान में प्रतीयमान हो रहा है। अधिष्ठान सत्ता के अतिरिक्त मिथ्यावस्तु की दूसरी कोई सत्ता नहीं है, अतः तात्त्विक दृष्टि से सभी ही ब्रह्मस्वरूप है। तथापि जगत्भ्रान्ति निवारण करने के लिए माया तथा उसके कार्य का परिचय देना आवश्यक है। इसलिए अब उसका वर्णन कर रहे हैं। माया अथवा प्रकृति द्विविध है—अपरा एवं परा। अपरा प्रकृति के विषय में इस प्रकार से कह रहे हैं—]

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अन्वयः—भूमिः, आपः, अनलः, वायुः, खम्, मनः, बुद्धिः, अहंकारः एव च इति मे इयं प्रकृतिः अष्टधा भिन्ना ।

अनुवाद—मेरी अनादि अपरोक्ष प्रकृति (माया) पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार के भेद से आठ प्रकार की है ।

भाष्यदीपिका—भूमिः, आपः, अनलः, वायुः, खम्, मनः, बुद्धिः एव च—पंचतन्मात्रा (पंचमहाभूत की सूक्ष्मावस्था—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द—ये पाँच तन्मात्रा हैं), अहंकार, महत् तथा अव्यक्त ये आठ प्रकृतियाँ हैं। पंचमहाभूत [भूमि (पृथ्वी), आप (जल), अनल (तेज) अग्नि, वायु तथा ख (आकाश)], पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय इन दोनों का साधारण (Common) मन, ये सोलह विकृतियाँ (विकार पदार्थ) हैं। सांख्य के मतानुसार इन आठ प्रकृतियों तथा १६ विकृतियों को चतुर्विंशति तत्त्व कहा गया है। पंचमहाभूत 'विकृति के' अन्तर्गत हैं। अतः वे 'प्रकृति' नहीं हैं। अतः भूमि इत्यादि को अष्ट प्रकृति के अन्तर्गत कहने से यहाँ पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश नामक पंचमहाभूत की स्थूलावस्था को नहीं समझाया जा रहा है। किन्तु उनकी सूक्ष्मावस्था गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द इन पाँच तन्मात्राओ को ही लक्ष्य कर इन सबों को 'प्रकृत' कहा गया है। मन शब्द के द्वारा जो साधारणतः समझा जाता है वह भी विकृति के अंश ही है (अर्थात् उपरोक्त सोलह विकार के ही एक विकार है)। अतः मन शब्द लक्षणावृत्ति के द्वारा मन का कारण जो अहंकार है उसीको समझाया जा रहा है क्योंकि श्लोक में मन पंच तन्मात्रा के साथ पठित होने के कारण मन की प्रकृति ही माना गया है। बुद्धि शब्द के द्वारा अहंकार का कारण जो महत् तत्त्व (समष्टि बुद्धि) है वही यहाँ समझाया जा रहा है।

अहंकारः एव च—जिस प्रकार विषयुक्त अन्न को भी विष ही कहा जाता है उस प्रकार यहाँ अहंकार शब्द के द्वारा सर्वप्रकार वासना के द्वारा वासित अर्थात् अविद्यासंयुक्त अव्यक्त (मूलप्रकृति) ही यहाँ लक्षण बल से बोधित हुआ है। संसार में देखा जाता है कि अहंकार ही सभी की प्रवृत्ति का बीज (प्रवर्तक) है अर्थात् सभी को विभिन्न कर्म में प्रवृत्त कराता है। [क्योंकि 'मैं' इस बोध के द्वारा अहंकार उत्पन्न होने से ही

'मेरा' यह बोध साथ-साथ उत्पन्न होता है। और 'मैं' तथा 'मेरा' बोध रहने से ही कर्म में प्रवृत्ति सम्भव होती है अन्यथा नहीं, 'एव च' शब्द का यही तात्पर्य है।]

इति—इस प्रकार से इयं मे प्रकृतिः—जो प्रत्यक्ष रूप से दीखती है यह मेरी प्रकृति अर्थात् ईश्वरी माया शक्ति अष्टधा भिन्ना—आठ भाग में विभक्त हुई है अर्थात् मेरी ईश्वरी (मेरी आश्रिता एवं मेरी ऐश्वर्योपाधिभूता) शक्ति जिसको त्रिगुणमयी माया कहा जाता है, वही उस भूमि प्रभृति के रूप में आठ प्रकार से विभक्त होकर प्रतीत होती है। सांख्य के मतानुसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति को (जो महदादि आकार में परिवर्तित होती है एवं जो स्वतंत्ररूप से जगत् का उपादान कारण है उसको) प्रधान कहा जाता है किन्तु भाष्यकार ने 'प्रकृति' शब्द का 'मेरी ईश्वरी माया' ऐसा अर्थ कर सांख्यमत का निराकरण किया है। वेदान्त मत से माया कोई वस्तु नहीं है। वह परब्रह्म की कल्पना शक्ति मात्र है। [यह माया अथवा प्रकृति साक्षी-चैतन्य के द्वारा प्रकाशित होती है, अतः स्वतंत्र नहीं है। किन्तु स्वयं अनिर्वचनीयस्वभावा है अर्थात् सत् अथवा असत् है यह निर्वाचन (निरूपण) नहीं किया जा सकता है। यह परमेश्वर की ही त्रिगुणमयी शक्ति है। सभी जड़पदार्थ ही इन आठ प्रकार की प्रकृति के अन्तर्भुक्त है। पहले ही कहा गया है कि वेदान्त के मतानुसार माया ब्रह्म का (भगवान् का) ईक्षण अथवा संकल्पशक्ति है। ईक्षण तथा संकल्प के रूप में माया का जो परिणाम होता है उसको ही क्रम से बुद्धि तथा अहंकार कहा जाता है और अपंचीकृत जो पंचमहाभूत है वही पंचतन्मात्रा है (मधुसूदन)]। संकल्प कोई वस्तु नहीं है। इसके अतिरिक्त, माया जब ईश्वरी शक्ति है तब अग्नि की दाहिका शक्ति जिस प्रकार अग्नि से अभिन्न है उस प्रकार माया भी ब्रह्म से भिन्न अन्य कुछ नहीं है। इसलिए प्रकृति माया को स्वीकार करने से भी अद्वैत हानि नहीं होती है।

टिप्पणी (१) मधुसूदनसरस्वती—मधुसूदन ने, इस श्लोक का भाष्यदीपिका में जैसा अर्थ किया गया है उसको स्वीकार कर विकल्प में अन्य प्रकार का अर्थ भी किया है [श्रीधर स्वामीने भी ऐसा ही विकल्प अर्थ किया है]—[सांख्यमतावलम्बिगण कहते हैं कि पंचतन्मात्रा, अहंकार, महत् तथा अव्यक्त ये आठ प्रकृतियाँ हैं। अतः] भूमिः, आपः, अनलः, वायुः, खं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द—ये पाँच तन्मात्रा हैं। बुद्धिः—समष्टि-बुद्धि अर्थात् महत् (महत्तत्त्व) अहंकार—अहंकार, मनः—अव्यक्त अथवा प्रधान। इस प्रकार से सांख्यमत से अष्ट प्रकृतियाँ सिद्ध होती हैं। साधारणतः

मन प्रकृति का विकार है अर्थात् विकृति के अन्तर्गत हैं। किन्तु श्लोक में मनको प्रकृति कहा गया है इस कारण उस शब्द का समानाधिकारिता निबन्धन 'मन' शब्द का मुख्य अर्थ परित्याग कर अवशिष्ट प्रकृति जो अव्यक्त है वही मन शब्द के लक्षक के रूपसे ग्रहण करना पड़ेगा।

(२) श्रीधर—[इस प्रकार श्रोता को (अर्जुन को) आत्मज्ञान की ओर अभिमुख करके अब प्रकृति द्वारा सृष्टि आदि का कर्ता होने के कारण ईश्वर भाव बताने की जो प्रतिज्ञा की थी उस ईश्वरतत्त्व का निरूपण करते हुए अब 'भूमिः' इत्यादि दो श्लोकों के द्वारा परा तथा अपरा के भेद से दो प्रकार की प्रकृतियों का वर्णन कर रहे हैं—]

भूमिः आपः अनिलः वायुः खम्—यहाँ इन शब्दों के द्वारा क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, तथा शब्द इन पंचतन्मात्राओं का वर्णन किया जा रहा है। मनः बुद्धिः अहंकारः एव च—मन शब्द के द्वारा उसके कारणभूत अहंकार को, बुद्धिशब्द के द्वारा उसके कारणभूत महत्तत्त्व को एवं अहंकार शब्द के द्वारा उसकी कारणभूत अविद्या को प्रतिपादन किया गया है। इति इयं मे प्रकृतिः अष्टधा भिन्ना—इस प्रकार यह मेरी प्रकृति आठ प्रकार से विभक्त है।

अथवा, भूमि आदि शब्द के द्वारा पंच महाभूत सूक्ष्मभूत के साथ (तन्मात्रा के साथ) एकत्र गृहीत हुआ है। अहंकार शब्द के द्वारा अहंकार एवं उसका कार्य इन्द्रियों को भी ग्रहण किया गया है। बुद्धि शब्द के द्वारा महत्तत्त्व का एवं मन शब्द के द्वारा मन के द्वारा जिसका उन्नयन (अनुमान) किया जाता है उस अव्यक्त रूप प्रधान को ग्रहण किया गया है। इस प्रकार मेरी प्रकृति अर्थात् मायानामक शक्ति आठ भेदों में विभक्त है। यद्यपि प्रकृति (प्रधान) २४ (चतुर्विंशति) भेदों में विभक्त है तथापि उक्त आठ भागों में ही अन्य सभी अन्तर्भुक्त हैं, इसे कहने की इच्छा कर 'मेरी प्रकृति आठ प्रकार से विभक्त है' ऐसा कहा गया है। किन्तु परवर्ती क्षेत्राध्याय में (त्रयोदश अध्याय में) भगवान् इस प्रकृति को चतुर्विंशतितत्त्व के रूप से विस्तार करेंगे—यथा, 'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः' ॥ इत्यादि (गीता १३।५)।

(३) शंकरानन्द—ब्रह्म कैसा है? उसका लक्षण क्या है? इस प्रकार प्रश्नकर्ता के प्रति 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्' (अर्थात् 'मैं तुम्हारे लिए विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा') ऐसा कह कर ब्रह्म का ज्ञानस्वरूपत्वलक्षण व्यक्त कर अब 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' ('वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इन श्रुतिवाक्यों के अनुसार यह जगत् ब्रह्मरूप ही है, ब्रह्म से

भिन्न नहीं है) एवं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (ये सभी अवश्य ही ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतिवाक्य के अर्थ को अवलम्बन कर के ब्रह्म के कार्य और विवर्त होने के कारण सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है, यह समझाने के लिए ब्रह्म निर्विकार होने से भी प्रकृति के द्वारा वे जगत् की सृष्टि स्थिति लय का कारण हो सकते हैं इसे सिद्ध करने के लिए पहले अपरा प्रकृति का निर्देश करते हैं—

भूमिः—भूमि अर्थात् गन्धतन्मात्रलक्षणयुक्त कारणस्वरूप सूक्ष्म पृथ्वी (कार्य्यात्मक स्थूल पृथ्वी नहीं) चूँकि 'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' इसके द्वारा भूमि आदि आठ तत्त्वों का प्रकृतित्त्व प्रतिपादन किया गया है। 'महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त' (अर्थात् 'महत् आदि सप्त प्रकृति तथा विकृति') इसके द्वारा महत् से भूमि तक सात तत्त्व विकृति के अन्तर्गत होने से उसमें प्रकृतित्त्व कैसे सम्भव है ? (उत्तर) ऐसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि उससे जगदारम्भकत्व (अर्थात् जगत् सृष्टि का कारणत्व) रहने के कारण उनका प्रकृतित्त्व सिद्ध होता है। तथा आपः—जल अर्थात् रसतन्मात्रा, अनलः-तेज (अग्नि) अर्थात् रूपतन्मात्रा, वायुः-वायु अर्थात् स्पर्शतन्मात्रा, खम्-आकाश अर्थात् शब्दतन्मात्रा, मनः—'मन' शब्द के द्वारा संकल्प तथा विकल्पको समझा जा रहा है। दोनों में अहंकार की ही प्रधानता है। अत एव संकल्प-विकल्पात्मक मन के द्वारा मन के कारण अहंकार का ग्रहण किया गया है। बुद्धिः—बुद्धि। 'बुद्धि' इस शब्द के द्वारा सभी की समष्टि—बुद्धि अर्थात् महत्तत्व लक्षित हुआ है। अहंकारः—इस शब्द के द्वारा अहंकार—वासना-विशिष्ट अविद्यात्मक अव्यक्त को समझा जा रहा है, [क्योंकि बीज में शाखा, पत्र, पुष्प आदि की वासना जिस प्रकार विद्यमान रहती हैं उस प्रकार सर्वकारण अव्यक्त में महदादि सर्वविकारों की वासना रहना सम्भव है। इति—यह अर्थात् 'कारणगुणा हि कार्य्यगुणानारभन्ते' (अर्थात् कारण का गुण ही कार्य के गुणराशिको आरम्भ करता है) इस न्याय के अनुसार इयं प्रकृतिः—यह प्रकृति अर्थात् केवल कार्य के द्वारा ही जिसको जाना जा सकता है वह मेरी प्रकृति स्वयं पूर्वोक्तरीति से अष्टधा भिन्ना—आठ प्रकार से भिन्न अर्थात् आठ प्रकारों के भेद को प्राप्त हुई है मे—मेरा अर्थात् परमात्मा रूपी मैं स्वयं निर्गुण होने पर भी वह प्रकृति अपने गुण के द्वारा मुझको गुणी एवं सृष्टि आदि का कारण (कर्ता) रूप में प्रतीत कराने के लिए हेतु (उपाधि) होती है। यही वह माया है, क्योंकि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' ('मायाको तुम प्रकृति जानो') ऐसा श्रुति में कहा गया है। मरुमरीचिका की सदृश यह जगत्-जाल उस माया का ही (प्रकृति का ही) कार्य है।

(४) नारायणी टीका—सांख्य मत के अनुसार चतुर्विंशति तत्त्व को माना जाता है अव्यक्त, महान् (महतत्त्व), अहंकार एवं गन्ध, रस, रूप, तथा शब्द ये पाँच तन्मात्रा—इन आठ को प्रकृति—कहा जाता है। भूमि, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश ये पंचस्थूलभूत, पंचकर्मेन्द्रिय (वाक् , पाणि, पाद, पायु, उपस्थ), पंच ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा तथा त्वक्) एवं कर्म तथा ज्ञानेन्द्रिय का साधारण मन—ये सोलह प्रकार की विकृतियाँ मानी जाती हैं। इस श्लोक में उक्त भूम्यादि पाँच अर्थ पञ्चतन्मात्रा के रूप से सभी टीकाकारोंने ही ग्रहण किया है क्योंकि (१) ये विकृति के अन्तर्भुक्त होने के कारण इन्हें प्रकृति नहीं कहा जा सकता है। (२) गीता में १३।५ श्लोक में 'महाभूतान्यहंकारो···पञ्च चेन्द्रियोचराः' इत्यादि के द्वारा महाभूत शब्द के द्वारा सूक्ष्मभूत को ही लक्ष्य किया गया है—स्थूल पंचमहाभूत को नहीं। (३) सृष्टि तत्त्व में अविद्या, महान् , एवं अहं के बाद पंचतन्मात्रा की सृष्टि होती है—पंचमहाभूत की सृष्टि इसके भी बाद होती है। अतः भूम्यादि का पंचतन्मात्रा अर्थ न कर वे स्थूलभूत हैं ऐसा मानने पर सृष्टिक्रम का व्यतिक्रम होता है।

सांख्य के मतानुसार प्रकृति (१) प्रकृति—विकृति सात एवं विकृति (१६)—इस प्रकार २४ तत्त्व स्वीकार किये जाते हैं। किन्तु भगवान् ने कहा है 'मेरी प्रकृति आठ भागों में विभक्त हैं' तब क्या सृष्टितत्त्व के सम्बन्ध में सांख्य मत से भगवान् का मत पृथक् है ? (उत्तर) नहीं, सांख्य मत में सत्त्व, रजः तथा तमः गुण के साम्यावस्था ही अव्यक्त (मूलप्रकृति) है। उस साम्यावस्था में विषमता होने से महान् (महत्तत्त्व अर्थात् समष्टबुद्धि) की सृष्टि होती है एवं महान् से अहंकार की एवं अहंकार से पंच तन्मात्रा की (शब्दस्पर्शादि की) सृष्टि होती है। महान्, अहंकार तथा पंचतन्मात्रा ये सात प्रकृति–विकृति हैं क्योंकि ये पूर्ववर्ती कारण का अर्थात् यथाक्रम से प्रकृति, महान्, तथा अहंकार को विकृति—हैं एवं परवर्ती कार्यों का अर्थात् यथाक्रम से अहंकार पञ्चतन्मात्रा तथा पचमहाभूत इत्यादि की प्रकृति भी होती हैं। सांख्यने मूलप्रकृति को प्रकृति नाम से अभिहित कर अन्य सात को प्रकृति–विकृति कहा है। किन्तु भगवान् 'मूल प्रकृति' को उन सातों के साथ मिलाकर 'मेरी प्रकृति आठ भागों में विभक्त है' ऐसा कहा हैं। अतः शब्द का भेद रहने पर भी तात्पर्य का कोई भेद नहीं है। वेदान्त-मतानुसार सृष्टिक्रम कैसा है ? वह गीता के द्वितीय अध्याय के पृ० १४१ में दिखाया गया है। सांख्य के मतानुसार सृष्टिक्रम इस प्रकार है।

मूलप्रकृति (अव्यक्त)–सत्व, रजः व तमः गुणों की साम्यावस्था [अव्यक्त प्रकृति जब विशुद्ध सत्त्वगुण में रहती है अर्थात् रजः व तमः गुण जब सत्त्वगुण द्वारा पूर्णरूप से अभिभूत रहते हैं तब इसका नाम होता है **माया** और जब सत्त्वगुण रजः एवं तमः गुणों से मिश्रित रहता है तब उसी अवस्था को अविद्या कहा जाता है।]

महान्—[त्रिगुण का वैषम्य होने से प्रकृति का प्रथम विकार महान् या महत्तत्व अर्थात् समष्टिबुद्धि की उत्पत्ति होती है]

अहंकार—['मैं' इस बोध का उदय होने के पहले अर्थात् अहं अभिमान करने के पहले 'मैं महान् या बृहत् हूँ' इस प्रकार एक बोध जाग्रत होता है। इसलिये महत्तत्व अहंकार का कारण है।]

- सात्त्विक अहंकार (वैकारिक अहंकार)
  - मन अर्थात् संकल्प विकल्पात्मक मन। [अहं अभिमान (अहंकार) न रहने से संकल्प विकल्प उठ नहीं सकता है। इसलिए अहंकार मन का कारण है]
  - सात्त्विक अहंकार से पंच ज्ञानेन्द्रिय व पंच कर्मेन्द्रियों के देवताओं की सृष्टि होती है यथा—
    (१) चक्षुः से रवि (सूर्य) देवता
    (२) श्रोत्र (कर्ण) से दिक्॥
- राजस अहंकार (तैजस अहंकार)
  - पंचकर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायू एवं उपस्थ)
  - पंचज्ञानेन्द्रिय [कर्ण, त्वक्, चक्षु, रसना, (जिह्वा) एवं नासिका]
- तामस अहंकार
  - अपंचीकृत सूक्ष्म पंचभूत (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध–ये पंचतन्मात्रा)
    - पंचीकृत पंच स्थूल महाभूत
      - आकाश (शब्द तन्मात्रासे)
      - वायु (स्पर्श तन्मात्रासे)
      - तेज (रूप तन्मात्रासे)
      - जल (रस तन्मात्रासे)
      - पृथिवी (गंध तन्मात्रासे)

(३) त्वक् से वायु ॥
(४) रसना (जिह्वा)
से वरुण ॥
(५) घ्राण से अश्विनी
कुमारद्वय ॥
(६) वाक् से अग्नि ॥
(७) पाणि से इन्द्र ॥
(८) पाद से उपेन्द्र ॥
(९) पायु (मलद्वार)
से मित्र ॥
(१०) उपस्थ (जननेन्द्रिय)
से प्रजापति ॥

[भूमि, आप (जल), अनिल (अग्नि), वायु और आकाश इन सभी पंचभूत तन्मात्रामय। भूमि को अति सूक्ष्म अवस्था में ले आने से भूमि का जो तन्मात्रा गंध है वह ही तत्र अवशिष्ट रहता है। अतएव अति सूक्ष्म भूमि ही गंध है। इस प्रकार अन्य परिभूत भी उनकी तन्मात्रा में ही पर्यवसित (शेष) होता है अर्थात् पंचभूत तन्मात्रामय है। इसलिये गीता के ७।४ श्लोक में (भूमिरापो०) इत्यादि शब्दों के द्वारा श्रीभगवान् भूमि आदि के कारण पंचतन्मात्रारूप प्रकृति को समझा रहे हैं। इस प्रकार मन शब्द द्वारा उसका कारण अहंकार एवं बुद्धि शब्द द्वारा अहंकार के कारण समष्टिबुद्धि या महत्तत्व को निर्देश कर रहा है। और अहंकार शब्द द्वारा सर्व कार्य को प्रवर्तक मूल प्रकृति को (अव्यक्त अर्थात् माया अथवा अविद्या को) समझा रहे हैं। इस प्रकार से प्रकृति का आठ प्रकार का भेद दिखाया है।

[इस प्रकार क्षेत्र नामक प्रकृति ही अपरा प्रकृति है यह कह कर अब क्षेत्रज्ञरूप पराप्रकृति के सम्बन्ध में कह रहे हैं—]

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे महाबाहो ! इयम् अपरा, इतः तु अन्यां जीवभूतां मे परां प्रकृतिं विद्धि, यया इदं जगत् धार्यते ।

अनुवाद—हे महाबाहो ! यह पूर्वोक्त अष्टधा विभक्त मेरी प्रकृति अपरा प्रकृति है अर्थात् जड़ होने के कारण निकृष्टा है । इससे भिन्न (पृथक्) मेरी जो प्रकृति हैं उसको 'जीव' कहा जाता है—वही मेरी परा प्रकृति है ऐसा जानो, उसके द्वारा ही यह जगत् धृत हुआ है ।

भाष्यदीपिका । हे महाबाहो !—हे शक्तिशाली अर्जुन ! जीवरूप प्रकृति से अर्थात् मैं जीव हूँ इस भाव से अपने को मुक्त कर ब्रह्म के साथ ऐक्य लाभ कर के संसार गति से उद्धार होने को शक्ति तुममें है ऐसा आश्वासन देने के लिए 'महाबाहो' कह कर सम्बोधन कर रहे हैं । इयं अपरा—जो आठ प्रकार को प्रकृति के सम्बन्ध में कहा गया है वह अपरा अर्थात् निकृष्टा है चूँकि वह जड़, अशुद्धा (त्रिगुणमिश्रिता है), सभी प्रकार से अनर्थकरी एवं संसारबन्धन का हेतु है अर्थात् जीवों को संसार में बद्ध करना ही इसका स्वभाव है । इतः तु—और इस क्षेत्रनामक जड़ प्रकृति से । जड़ से चेतना प्रकृति की अत्यन्त विलक्षणता (विभिन्नता) सूचित करने के लिए 'तु' शब्द का व्यवहार किया गया है । अन्याम्—सम्पूर्ण विलक्षण जीवभूताम्—जो जीवभूत अर्थात् प्राणधारण के निमित्तभूत (चेतनात्मक) क्षेत्रज्ञ रूप से प्रसिद्ध है उसको मे परां प्रकृतिं विद्धि—मेरी आत्मभूता परा (अर्थात् प्रकृष्टा एवं विशुद्धा) प्रकृति जानोगे यया—जिस प्रकृति के द्वारा अर्थात् मेरी जो प्रकृति सभी के अन्तर में अनुप्रविष्ट होकर जीवभाव को प्राप्त हुई है (अर्थात् जीव रूप में अथवा क्षेत्रज्ञ रूप में विद्यमान है) एवं 'जो सभी प्राणियों के प्राण धारण के निमित्त (कारण) होती है' उस परा प्रकृति के द्वारा इदं जगत्—यह अचेतन (जड़) जगत् धार्यते—विशेष रूप से धृत हुआ है । विकारी जगत् स्वभावतः विशीर्ण (विध्वस्त) होने के लिये उन्मुख है किन्तु क्षेत्रज्ञरूप मेरी परा प्रकृति के प्रभाव से ही जगत् ऊर्ध्व में विधृत (विशेषरूप से धृत) है । [यही इसके श्रेष्ठत्व का कारण है एवं इसलिए ही इसको 'परा' कहा जाता है ।] श्रुति भी कहती है—'अनेन

जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० उ० ६।३।२।) अर्थात् इस जीवरूप आत्मा के द्वारा अर्थात् मायाकल्पित अपने अंश द्वारा मैं सभी में अनुप्रविष्ट होकर नाम तथा रूप व्याकृत करता हूँ। अभिप्राय यह है कि क्षेत्रज्ञलक्षण जीवरूपी पराप्रकृति से ही (क्षेत्रज्ञरूपा चेतना शक्ति से ही) अपने कर्मों द्वारा इस अचेतन जगत् धारण किया जाता है, (श्रीधर) जीव-रहित जगत् विधृत नहीं हो सकता है (क्योंकि भोक्ता जीव नहीं रहने से जगत्‌रूप भोग्य वस्तु का कोई तात्पर्य नहीं रहता है)। और यह जीव ही क्षेत्रज्ञनाम से प्रसिद्ध परा प्रकृति है, (मधुसूदन)।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—[पूर्वोक्त अपरा प्रकृति का उपसंहार करते हुए अब परा प्रकृति का परिचय दे रहे हैं—]

इयम् अपरा—उक्त आठ भेदों में विभक्त प्रकृति को अपरा प्रकृति कहा जाता है क्योंकि वह जड़ है तथा पर के लिए होने से (पर अर्थात् पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए ही उसकी सार्थकता है इसलिए) वह निकृष्ट है। इतः—इसकी अपेक्षा अन्यां जीवभूतां मे प्रकृति परां विद्धि—दूसरी जीवरूपा मेरी प्रकृति को परा अर्थात् श्रेष्ठ जानो। क्यों वह श्रेष्ठ है? यह कह रहे हैं—यया-जिसके द्वारा अर्थात् जिस क्षेत्रज्ञरूप चेतन प्रकृति से अपने कर्मों द्वारा इदं जगत् धार्यते—यह जगत् धृत है। जीवरूपी प्रकृति को परा (श्रेष्ठ) कहा जाता है क्योंकि जीव ने स्वकर्म के द्वारा इस अचेतन जगत् को धारण किया है।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार सृष्टि आदि के हेतु प्रकृति का आठ प्रकार का स्वरूप (भेद) निरूपण कर इस प्रकृति से दूसरी प्रकृति की भिन्नता तथा नाम कह कर उस प्रकृति का भी निर्देश अब कर रहे हैं—

अपरेयम्—जिस प्रकृति के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है वह अपरा है अर्थात् उसका नाम अपरा प्रकृति है, वह परा प्रकृति से भिन्न है एवं निकृष्ट है क्योंकि अपरा प्रकृति अनृत, जड़ एवं दुःखस्वरूप तथा अशुद्ध है, पुरुष के अधीन है, वेद्य (ज्ञेय) है एवं ज्ञान के द्वारा निवृत्त हो जाती है। इसलिए वह परा प्रकृति से निकृष्ट है।

तु—परा प्रकृति से अपरा प्रकृति की विलक्षणता दिखाने के लिए 'तु' शब्द का व्यवहार किया गया है। इतः—उक्त-अपरा प्रकृति से अन्यां—अन्य भिन्न (विलक्षण) प्रकृति को पराम्—परा (श्रेष्ठ) जानो। यह शुद्ध होने के कारण, 'अपरा प्रकृति के उपजीव्य होने के कारण, (अर्थात् अपरा प्रकृति परा प्रकृति की प्रयोजन सिद्धि के लिए ही सब कार्य करती है इसलिए) एवं अपरा प्रकृति के (अर्थात् समस्त दृश्य पदार्थ के) परा प्रकृति ही सत्ता स्फूर्त्तिदायक (सत्ता को प्रकाश करनेवाली) है इसलिए इस परा प्रकृति को

श्रेष्ठ जानो। 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' (उस परमात्मा की पराशक्ति अनेक प्रकार की सुनी जाती है) इस प्रकार श्रुति से प्रसिद्ध मे प्रकृतिं जीवभूतां—मेरी जीवभूत (क्षेत्रज्ञरूप परा) प्रकृति को विद्धि—जानो। यया—जिस अन्तरंगस्थ क्षेत्रज्ञस्वरूप परा-प्रकृति के द्वारा इदं जगत्—यह जगत् धार्यते-धृत है क्योंकि सर्वत्र देह, इन्द्रिय आदि रूप जगत् का जीव ही (क्षेत्रज्ञरूप पराप्रकृति ही) धारण करता है। जिस प्रकार 'मैं' 'मेरे' अभिमान के द्वारा तोषण, पोषण, रक्षण आदि क्रिया का सम्पादन किया जाता है, उस प्रकार बाहर में भी 'यह घट है', 'यह पट है' इस प्रकार सत्तास्फूर्त्ति देकर (दृश्यवस्तु मात्र की सत्ता को प्रकाश कर) नाम रूप आदि भेद कल्पना से, भोग्यत्व की सम्भावना से (यह मेरा भोग्य है, ऐसी भावना से), एवं विनियोग से (उसको भोग के लिये प्रयोग करने से) जगत् का निर्वाह भी जीव से ही किया जाता है।

(३) नारायणी टीका—भगवान् अपनी प्रकृति को दो भागों में विभक्त कर वर्णन रहे हैं—(१) अपराप्रकृति (जड़ अथवा अचेतन प्रकृति जो दृश्य अथवा भोग्य वस्तु के रूप से प्रतीत होता है) (२) परा प्रकृति (चेतन जीव प्रकृति) जो देहादि अनात्मवस्तु में आत्मबुद्धि कर अविद्यावश जन्ममृत्यु के चक्र में भ्रमण करती है। [त्रयोदश अध्याय में परा तथा अपरा प्रकृति को क्रमशः क्षेत्रज्ञ तथा क्षेत्र कहा गया है।] इनकी वास्तविक कोई सत्ता नहीं है क्योंकि मायाशक्ति से (कल्पना के द्वारा) दोनों ही ब्रह्मस्वरूप आत्मा में कल्पित होकर प्रतीत होती हैं, अतः वे दोनों ही मिथ्या हैं। दोनों ही ब्रह्मस्वरूप आत्मा के सान्निध्य से जगत्रूप नाट्यकार्य में प्रेरित होती हैं। अतः यह भोक्ता (परा प्रकृति जीव) भोग्य (अपराप्रकृति) एवं प्रेरिता ब्रह्म इन तीनों का ज्ञान होने से ही यथार्थज्ञान प्राप्त किया जा सकता है एवं उसके पश्चात् कुछ जानने की आवश्यकता नहीं रहती है (गीता ७।१-२)। इसलिए इनके सम्बन्ध में पूर्णज्ञान प्रदान करने के लिए श्रीभगवान् ने प्रकृतिद्वय का स्वरूप वर्णन किया। श्रुति में भी कहा गया है—"एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थम्, नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्"। (श्वे० उ०) अर्थात् भोक्ता जीव को (पराप्रकृति को), भोग्य (जीवभिन्न सर्वपदार्थ को) अर्थात् अपरा प्रकृति को एवं प्रेरिता को (अन्तर्यामी परमेश्वर को) [ब्रह्मज्ञगण सृष्टि की समुदाय वस्तु को इन तीन प्रकार से विभक्त कर कहे हैं अतः] इन तीनो का ब्रह्मरूप से जानकर यह ब्रह्म ही सदा अपनी आत्मा के रूप में स्थित हैं ऐसा साधक को जानना होगा क्योंकि इस ब्रह्मज्ञान के बाद जानने का और कुछ नहीं रहता है।

अपरा प्रकृति का विस्तृत विवरण पूर्व श्लोक को नारायणी टीका में दिया गया है। परा (जीव) प्रकृति की उत्पत्ति कैसे होती है ? यह कहा जा रहा है। शान्त, चिन्मात्र परमब्रह्म निष्क्रिय, निश्चल अविकारी है। इस चैतन्य स्वरूप ब्रह्म में ईक्षणरूपा अर्थात् संकल्पविकल्पमयी (मनोमयी) स्पन्द शक्ति है। [श्रुति में कहा गया है—स ऐक्षत अहं बहु स्यां प्रजायेयेति अर्थात् वे ईक्षण किये (संकल्प किये) कि मैं अनेक होकर सृष्टि करूँगा।] चित् के इस भाव को (ईक्षण को) चेत्यभाव अथवा माया कहा जाता है। इसलिए शास्त्र में कहा गया है—'तस्य काचित् स्वतःसिद्धा शक्तिर्मायेति विश्रुता; यही प्र (प्रकृष्टरूप से) कृति (कार्य) करती है, इसलिए इसको प्रकृति भी कहा जाता है। अतः शक्ति, माया, प्रकृति, चेत्यभाव, चिति, अविद्या इत्यादि पर्यायवाचक शब्द हैं। अर्थात् वे सभी एक ही वस्तु को लक्ष्य करते हैं। परमात्मा के निर्गुणस्वरूप में यह माया, शक्ति अथवा चेत्यभाव परमात्मा के साथ एक हो जाते हैं। मणि की ज्योति के जैसा अनिर्वचनीय किन्तु स्वतःसिद्ध ईक्षण (मैं अनेक होऊँगा ऐसी सृष्टीकरण की इच्छा) जाग्रत् होता है तब चेत्यभाव परमात्मा को अधिष्ठान कर कल्पित द्वैत (अनात्म) वस्तु को प्रतीत कराता है। चिदात्मा (परमात्मा) यद्यपि उनके पूर्णस्वरूप से कभी भी विच्युत नहीं होती हैं तब भी यह चेत्यभाव अथवा मायाशक्ति खंडित (सीमित) दृश्यरूप से प्रतीत होती रहती है एवं वह चैतन्यस्वरूप आत्मा मानो अविद्या से वशीभूत होकर उस अनात्मा दृश्यवस्तु में अहं बोध कर जीवरूप से नाटक आरम्भ करते हैं। [माया और अविद्या एक ही वस्तु हैं। सूक्ष्म अनात्म वस्तु में अहं बोध को माया एवं अनात्म स्थूल शरीर में अहं बोध को अविद्या कही जाती है। मायाउपाधियुक्त चिदात्मा को ईश्वर एवं अविद्याउपाधियुक्त चिदात्मा को जीव कहा जाता है। 'अनात्मनि शरीरादावात्मबुद्धिस्तु या भवेत् सैव माया तयैवासौ संसारः परिकल्प्येत ॥ देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता'। अर्थात् शरीरादि अनात्मवस्तु में आत्मबुद्धि ही माया है एवं इस माया के द्वारा ही संसार परिकल्पित होता है। 'मैं देह हूँ' इस बुद्धि को अविद्या कही गयी है।] परमात्मा अखंड, अद्वय, पूर्णस्वरूप होने के कारण, उनसे किसी द्वैत विकारी वस्तु की सृष्टि होना असम्भव है। इसलिए परमार्थ (यथार्थ) तत्त्व यह है कि परमात्मा सर्वदा अपने पूर्णस्वरूप में रहकर भी उनकी स्वतःसिद्ध अनिर्वचनीय मायाशक्ति के द्वारा जीव तथा जगत् के रूप से विवर्तित हुए हैं [एक वस्तु अज्ञानवशतः (भ्रान्तिवशतः) अन्यवस्तु के रूप में प्रतीत होने से उसको विवर्त कहा जाता है, जिसप्रकार रज्जु में सर्पभ्रान्ति।]

मायाशक्ति तीन भागों में इस प्रकार विभक्त है (१) ज्ञानशक्ति, (२) इच्छाशक्ति और (३) क्रियाशक्ति ।

माया (संकल्पात्मिका स्पन्द-शक्ति या चेत्यशक्ति)

सत्त्व	रजः	तमः
प्रकाश	प्रवृत्ति	आवरण
ज्ञानशक्ति (प्रकाश स्वरूपिणी सात्त्विकी माया)	इच्छाशक्ति (जीव चैतन्य या परा प्रकृति)	क्रियाशक्ति (सांख्य का चतुर्विंशति तत्त्व या अपरा प्रकृति अर्थात् दृश्य जगत् प्रपंच)
[चेत्यभाव का प्रथम स्फुरण है ज्ञानशक्ति यह ज्ञानशक्ति भी कर्म में परिणत होती है इसलिये यह भी प्रकृति ही है। सत्त्वगुण जब रजः और तमोगुण को अभिभूत कर	[इच्छा विना सृष्टि या क्रिया नहीं होती है इसलिये शास्त्र में समष्टि इच्छाशक्ति को ब्रह्मा (सृष्टि कर्त्ता) कहा गया है। वासना इच्छा से ही भावना का उदय होता है एवं	[प्रत्येक क्रियाशक्ति के मूल में रहती है इच्छा शक्ति। देह मन इन्द्रियादि की क्रिया जीव की (या परा प्रकृति की) इच्छाशक्ति से ही चालित हुआ करती है। इसलिये दृश्य प्रपंच सभी अनात्म

विशुद्ध सत्त्व होता है तब परमात्मा का स्वरूप प्रकट करने में समर्थ होता है। इसलिये गीता में कहा गया है सत्त्वात् संजायते ज्ञानं (गीता १४।१७) क्योंकि तब स्पन्दन शान्त होता है एवं एकमात्र सत्य वस्तु जो ब्रह्म है वही तब प्रकट होता है। शास्त्र में समष्टि ज्ञानशक्ति ही विष्णु=(पालन या स्थिति का कर्त्ता) कहा जाता है क्योंकि ज्ञान शक्ति विना किसी भी वस्तु की सत्ता का बोध नहीं होता है।]

भावना से स्पन्द का चांचल्य होने से वह क्रियारूप में परिणत होकर दृश्य प्रपंच (स्थूल और सूक्ष्म) सृष्टि करता है। इसलिये जीव चैतन्य ही बाह्य जगत् को धारण किये रहते हैं। एवं अपरा प्रकृति की (दृश्य प्रपंच की) अपेक्षा जीवचैतन्य को परा (श्रेष्ठ) प्रकृति कहा जाता है।]

वस्तु को अपरा प्रकृति कहा जाता है। समष्टिरूप से क्रियाशक्ति को रुद्र (लय कर्त्ता) कहा जाता है कारण सभी क्रिया-शक्ति के अन्तिम परिणाम होता है—लय या विनाश। क्रिया शक्ति के सभी कार्य जो अनात्म वस्तु हैं वे आत्मा को आवृत कर रहते हैं। इसलिये इनको आवरणरूपिणी तामसी माया कही जाती है। क्रियाशक्ति (तमः) एवं इच्छाशक्ति (रजः) शान्त होने पर शुद्ध सत्त्व गुण से आत्मस्वरूप का प्रकाश होता है एवं परा प्रकृति (जीवभाव) तथा अपरा प्रकृति (जगत् भाव) तब ब्रह्मस्वरूप आत्मा में लय प्राप्त होती है।]

जीवरूपा परा प्रकृति को क्षेत्रज्ञ भी कहा जाता है। यह जीवचैतन्य प्राण धारण का हेतु होता है इस लिये समस्त शरीर के अभ्यन्तर में प्राणरूप से उपष्टम्भक होने के कारण गृह को जैसे स्तम्भ धारणा करते हैं उस प्रकार शरीर को धारण करने के कारण इसको पराप्रकृति कही जाती है [बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के उपक्रम में शांकर भाष्य द्रष्टव्य है उसमें कहा गया है कि अविद्या का (माया का) दो प्रकार से विभाग होता है अर्थात् दृश्यप्रपंच की समस्त वस्तु ही दो प्रकार की होती हैं। बाहर का आवरण शरीर (अपराप्रकृति) किन्तु अभ्यन्तर में (भीतर में) प्राण ही (जीवचैतन्य या पराप्रकृति ही) उपष्टम्भक है जिस प्रकार स्तम्भ प्रभृति गृह का उपष्टम्भक होते हैं अर्थात् गृह को पकड़े रहते हैं उसी प्रकार यह प्राण ही उपष्टम्भक अर्थात् स्थायी, प्रकाशक और अमृत (अविनाशी) हैं। वस्तु का बाह्यांश कार्यात्मक अप्रकाशक (जड़) एवं उत्पत्ति-विनाशधर्मी होते हैं जैसे गृह का मृत्तिका, तृण, कुशादि होते हैं। ऐसा ही शरीरादि बाह्यांश जडांश चेतनधर्मा प्राणांश को आच्छादन करते है यद्यपि प्राण ही शरीरादि जड़ वस्तु को धारण किया हुआ है। पुनः बाह्य जड़ पदार्थ का (अपराप्रकृति का) नाना प्रकार का भेद और परिणामवश प्राणांश का भी (पराप्रकृति का अर्थात् जीवचैतन्य का भी) अशेष प्रकार भेद और जन्मादि विकार देखे जाते हैं। यद्यपि प्राण या चितिशक्ति अविनाशी और अधिकारी है शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा में माया द्वारा जीव, जगत्, और ईश्वर विवर्तरूप से उत्पन्न होने के कारण ही इस प्रकार प्रतीत होते हैं।

ययेदं धार्य्यते जगत्—जीवरूपा पराप्रकृति किस प्रकार से जगत् को धारण किया है वह उपर्युक्त इच्छा शक्ति और क्रियाशक्ति की व्याख्या में कहा गया है यह युक्ति द्वारा इस प्रकार से भी सिद्ध किया जा सकता है।

(१) जो जिसमें अभिव्यक्त (प्रकाशित) होता है वह उसके द्वारा धृत होता है जैसे चित्र पट में चित्रित दृश्य समूह अभिव्यक्त होते हैं इसलिये पट दृश्यको धरे हुए हैं, इस प्रकार कहा जाता है। मायाशवलित (माया रूप उपाधियुक्त) ब्रह्म में (जिसको समष्टिभाव से ईश्वर एवं व्यष्टिभाव से जीव कहा जाता है उसमें) यह दृश्य प्रपंचरूप जगत् अभिव्यक्त होने के कारण ईश्वर या जीवचैतन्य इस जगत को धारण किये हुए हैं यह स्वीकार करना पड़ेगा।

(२) जिससे जो वस्तु आत्मलाभ करते हैं अर्थात् मूर्तिमान होते हैं उनसे वह वस्तु धृत हुई रहती है मृत्तिका से घटादि पदार्थ आत्मलाभ करते

हैं (निर्मित होते हैं) इसलिये मृत्तिका द्वारा वे विधृत रहते है। चित्स्वरूप परमात्मा से चेत्यभाव अर्थात् चितशक्ति या जीवचैतन्य आत्मलाभ करते है (प्रकट होते हैं) इसलिये परमात्मा द्वारा जीवचैतन्य धृत हुये रहते हैं। फिर परमात्मा को मनोमयी (कल्पनात्मिका) स्पन्दरूपिणी चिति (जीवचैतन्य या इच्छा शक्ति) से जगत् प्रपंच आत्मलाभ करते हैं इस लिये जगत् प्रपंच स्पन्दरूपिणी चिति या जीवचैतन्य द्वारा विधृत हुए रहते हैं।

(३) आधार आधेय को धारण कर रखता है। अधिष्ठान चैतन्य ही जगत् का आधार अर्थात् शुद्ध स्वरूप परमात्मा ही परा और अपरा प्रकृति का आधार एवं वे सब आधेय हैं इस प्रकार से जीवचैतन्य ही प्राणरूप में और प्रकाशकरूप से सभी शरीर का अधिष्ठान (आधार) होने से उससे ही विश्वप्रपंच विधृत हुए हैं।

[शुद्ध ब्रह्म की संकल्पविकल्पात्मिका स्पन्दरूपिणी चितिशक्ति में प्रतिबिम्बित (अथवा उपहित) जो चैतन्य है वही समष्टिभाव से ईश्वर एवं व्यष्टिभाव से जीव नाम से अभिहित होते है। चिति का दूसरा नाम है महाप्राण यह महाप्राण सर्वत्र व्याप्त हैं (सबके भीतर और बाहर व्याप्त किये हुये हैं) इसलिये श्रुति में कहा गया है (प्राण एष सर्वभूतैर्विभाति अर्थात् सर्वभूत के रूप से प्राण ही प्रकाश पा रहे हैं। देह जड़ होने पर भी प्राण सर्व देहको जब तक व्याप्त किये रहते हैं तब तक जैसे देह चेतनायुक्त रहता है उस प्रकार चित्ति अर्थात् जीवरूपा पराप्रकृति ही आधार रूप से विद्यमान रहकर समस्त जगत को धारण किये हुए हैं। जगत की सभी वस्तु खंडित भाव से प्रकाशित होती हैं, इसलिये परा प्रकृति भी (जीवचैतन्य भी) वस्तु भेद से खंडित (द्वैत) रूप से अभिव्यक्त होते हैं इसी बाह्य भेद-दृष्टि अवलम्बन कर ही गीता में कहा जायगा—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गीता १५।७) अर्थात् जीवलोक में (संसार में) जो जीवरूपाशक्ति भोक्ता, कर्ता इत्यादि नाम से प्रसिद्ध है वह मेरा ही (महाप्राण स्वरूप परमात्मा का ही) सनातन (अविनाशी) अंशरूप से कल्पित होती है (अर्थात् यद्यपि 'मैं' पूर्ण होने के कारण मेरा कोई अंश नहीं रह सकता है तथापि अविद्याकृत उपाधि द्वारा परिच्छिन्न होने के कारण जीवचैतन्य को मेरा अंश माना जाता है)। प्रश्न होगा—प्राणधारण के निमित्तभूत जीवचैतन्य यदि सर्वत्र व्याप्त रहता है तब तो जड़ नाम की कोइ वस्तु नहीं रह सकती है। इसके उत्तर में कहा जायगा कि यद्यपि विश्वप्रपंच एवं जीवभाव (अपरा और पराप्रकृति) दोनो ही शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा में कल्पित हैं अतः इनकी वास्तविक

कोई सत्ता नहीं है तथापि जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता है तब तक वह जीवचैतन्य (चिति शक्ति) कहीं अभिव्यक्त एवं कहीं अपने ही तमः गुण के आवरण से विशेष रूप से आवृत होकर रहता हैं यह विशेष आवृतावस्था ही जड़त्व है ।

प्रश्न— (क) परमात्मा ही जीवरूप से सभी जड़ जगत् को धारण किये हुये हैं । यह यदि स्वीकार किया जाय तब जीव और परमात्मा तो एक ही हुये तब बद्ध ही कौन होते हैं ? एवं मुक्त भी कौन होते हैं ? (ख) फिर जीव जो जड़ प्रकृति को (अपराप्रकृति को) धारण किया हुआ है उस जड़-प्रकृति द्वारा ही वह बद्ध होता है—यह भी किस प्रकार से सम्भव है ?

उत्तर—(क) निष्क्रिया, निर्विकार सच्चिदानन्द परमात्मा सदा ही पूर्ण हैं । चित् शब्द का अर्थ है ज्ञान परमात्मा ज्ञानस्वरूप हैं इसलिये उनको चिन्मात्र कहा जाता है । किन्तु अनिर्वचनीय कल्पनाशक्ति (माया) उस परमात्मारूप अधिष्ठान में स्वतः ही उदय होकर सृष्टि के लिये जब उन्मुख होती है तब वही भावनामयी स्पन्दन शक्ति के प्रभाव से परमात्मा 'केवल मैं ही हूँ', यह ज्ञान विस्मृत होकर 'मैं अन्य कुछ हूँ' इस प्रकार के भाव मानो ग्रहण करते है, ऐसा प्रतीत होता है । [परमात्मा सदा ही एक रूप हैं केवल माया या अज्ञान द्वारा ही इस प्रकार प्रतीत होते हैं ।] 'मैं अन्य कुछ हूँ' यही अज्ञान है एवं 'केवल मैं हूँ' यह भूलकर अन्य कुछ के जैसा प्रतीत होने को ही प्रकृति—कही जाती है । अज्ञान द्वारा उपहित (परिच्छिन्न) चित् (ज्ञान) ही प्रकृति है यह प्रकृति "मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ" रूप से अर्थात् कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानयुक्त जब होती हैं तब वह जीवभाव अवलम्बन करती है एवं उसको तब 'परा प्रकृति' कही जाती है । और जब पराप्रकृति की मनोमयी वासना के स्पन्दन का परिणाम से सूक्ष्म और स्थूल नामरूपात्मक दृश्य और भोग्य जगदाकार से प्रतीयमान होती है तब उसको अपरा प्रकृति कहा जाता है पराप्रकृति (जीवभाव) नित्यप्रकाशरूप परमात्मा को आवृत कर ही बद्ध होता है । यह आवरण को हटा देने से ही जीव और ब्रह्म एक हैं यह तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर परम प्रकाश में स्थिति होती है । वही मुक्ति है । पहले अभ्यास और वैराग्य द्वारा मनोमयी कल्पना के स्पन्दन शान्त करके (चित्तवृत्ति निरोध कर) अपरा प्रकृति से (दृश्य एवं भोग्य जगत् से) मुक्त होकर जीवचैतन्य को साक्षात्कार करना चाहिए उसके बाद निर्विकल्प समाधि द्वारा जीवचैतन्य और अखण्ड ब्रह्म चैतन्य का एकत्व अनुभव करने से ही (अर्थात् परा प्रकृति से भी मुक्त होकर निजस्वरूप में

स्थित होने से ही जीव मुक्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्म ही (परमात्मा ही) हो जाते हैं। अत एव बद्ध एवं मुक्त उभय ही माया का (अज्ञान का) कार्य है अर्थात् अपने को ब्रह्म से अन्यरूप कल्पना करना ही बन्धन है और अपने स्वतःसिद्ध स्वरूप शुद्ध चैतन्य में स्थित रहना ही मुक्ति है। तत्त्वदृष्टि से कोई कभी बद्ध नहीं होता है अत एव मुक्त भी नहीं होता है। आत्मा तो सदा ही मुक्त है। केवल कल्पना शक्ति द्वारा ही (माया द्वारा ही) अन्य प्रकार प्रतीत होता है।

(ख) पूर्व में कहा गया है कि चित्त की स्वतःसिद्ध कल्पना शक्ति का ही चैत्यभाव या माया कही जाती है। इस माया की दो शक्तियां हैं (क) आवरण और (ख) विक्षेप। माया अपनी आवरणशक्ति द्वारा अपना ही आश्रय अखंडाद्वय ब्रह्म (आत्मा) जैसी नहीं है, जैसे वह चैत्यभाव (जीवभाव) प्राप्त होकर असंख्य रूप से वासनामय मानसस्पन्दन द्वारा चालित होकर नानाविध चेष्टा कर रहा है, इस प्रकार प्रतीयमान कराती है अर्थात् आवरणशक्ति द्वारा (अज्ञान द्वारा) ब्रह्म को भोक्ता जीवरूप से प्रतीत कराती हैं और (ख) विक्षेपशक्ति द्वारा अपने ब्रह्मरूप आश्रय में विवर्त रूप से नामरूपात्मक भोग्य जगत्प्रपंच की सृष्टि करती है।

भोक्ता (जीव या पराप्रकृति) न रहने से भोग्य वस्तु की (अपरा प्रकृति की) कोई सार्थकता नहीं रहती है। अतएव भोक्ता की कल्पनामयी वासना द्वारा ही भोग्य जगत् धृत हुआ है। भोग्य वस्तु के प्रति अज्ञानजनित आसक्ति के कारण ही जीव संसार में बद्ध होता है। परोक्षज्ञान द्वारा जागतिक विषय का मिथ्यात्व निर्णय कर काम (वासना) एवं तज्जनित आसक्ति नष्ट होने से ही जीव कल्पनारहित होता है (अर्थात् कल्पनामयी माया का आवरण नष्ट होता है) एवं जीव व ब्रह्म का एकत्र अनुभव रूप विज्ञान प्राप्त हो सकता है अर्थात मैं एवं सब कुछ ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार साक्षात्कार होता है। इस प्रकार से ज्ञान और विज्ञान द्वारा मुक्तिलाभ होता है।

जो कहा गया है उसका सारांश यह है—असीम अपार चित्स्वरूप परमात्मा आकाश जैसा असंग एवं निर्लेप हैं। उनके स्वरूप में जीवभाव (परा प्रकृति) या जगत्भाव (अपरा प्रकृति) नहीं है। यह नित्य शुद्ध अधिकारी-परमात्मा में एक अनिर्वचनीय कल्पनाशक्ति या माया है, किन्तु यह माया या कल्पना कोई वस्तु नहीं है। जिसकी वास्तविक कोई सत्ता न रहने पर भी प्रतीतिमात्र होता है, उसको माया या प्रकृति कही जाती है। चित्स्वरूप परमात्मा इस संकल्पशक्ति के बल से अर्थात् माया द्वारा कलंकित होकर अपने को जीव समझते हैं। अतः प्रकृतिउपहित चैतन्य ही जीव है,

संकल्प ही बंधन है, और संकल्पनाश ही मुक्ति है। सर्वव्यापी चित् ब्रह्म में (ज्ञानस्वरूप परमात्मा में) संकल्प के उदय होने से वे चित् चेत्यभाव अर्थात् जीवभाव प्राप्त होते हैं, अर्थात् परा प्रकृति में परिणत हुआ है वैसा प्रतीत होते हैं। जीवभाव से मनोभाव का (वासना, आसक्ति इत्यादि का) उदय होता है एवं मनोभाव से देहेन्द्रियादि (अपरा प्रकृति) की उत्पत्ति होती है। इसलिये काम संकल्प रहित होने से ही अपरा प्रकृति और परा प्रकृति (पुरुष) मूलप्रकृति के साथ (माया के साथ) परमपुरुष में (आत्मा में) लय होती हैं एवं जीव मुक्ति प्राप्त होता है, यह ही कहने का अभिप्राय है। (गीता ४।१९ इत्यादि श्लोक द्रष्टव्य)]

[पहले दो श्लोकों में जो परा और अपरा प्रकृति की बात कही गयी है, उनका कार्य क्या है ? और इनके द्वारा भगवान् किस प्रकार जगत् की सृष्टि स्थितिपालन के कर्त्ता होते हैं वह अब कह रहे हैं—]

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

अन्वयः—सर्वाणि भूतानि एतद्योनीनि इति उपधारय; अहम् कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः तथा प्रलयः (अस्मि)

अनुवाद—इस द्विविध प्रकार की प्रकृति से सभी भूतों की उत्पत्ति हुई है, यह तुम अवधारण करो (अर्थात् जानो)। (ये मेरी उपाधि हैं एवं इनके द्वारा) मैं ही इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का एकमात्र कारण हुआ करता हूँ।

भाष्यदीपिका। सर्वाणि भूतानि—ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी भूत अर्थात् भवनधर्मा (उत्पत्तिशील) चेतन और अचेतन सभी पदार्थ ही एतद्योनीनि—इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ रूपिणी अपरा और परा दो प्रकृतिरूप योनि से (कारण से) उत्पन्न हुए हैं। (पूर्ववर्त्ती दो श्लोकों में उक्त परा व अपरा प्रकृतिद्वय ही सभी भूतों की योनि अर्थात् कारण है, इसलिए सभी भूतों को 'एतद्योनि' कहा गया है।) इति उपधारय—यह तुम अच्छी प्रकार से जान लो [सभी कार्य ही चेतन और अचेतन के संयोग से उत्पन्न होता है। अतः परा प्रकृति (चेतन क्षेत्रज्ञ) और अपरा प्रकृति (अचेतन या जड़क्षेत्र)] इन दोनों के संयोग से ही सभी जागतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं यह अनायास ही अनुमित होता है।

[यतः मेरे ही उपाधिस्वरूप इस प्रकृतिद्वय सभी भूतों की उत्पत्ति के

हेतु (कारण) हैं इसलिए अहं—मैं अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, अनन्तशक्ति-सम्पन्न, मायोपाधि विशिष्ट ईश्वर कृत्स्नस्य जगतः—स्थूल, सूक्ष्म व कारण रूप सभी चराचरात्मक जगत् का (निखिल कार्यवर्ग का) प्रभवः—उत्पत्ति के कारण तथा प्रलयः—एवं विनाश के कारण हूँ। इन दो प्रकृतियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं, क्योंकि ये मेरी उपाधि हैं। इनके द्वारा (निमित्त) बना कर (अर्थात् इनके द्वारा) सर्वज्ञ, सर्वेश्वर मैं सभी जगत् की उत्पत्ति (स्थिति) एवं प्रलय का कारण होता हूँ। स्वप्न में जड़ और चेतन जो कुछ भी देखा जाता है वह स्वप्नद्रष्टा की कल्पना द्वारा ही सृष्ट होता है। अतः स्वप्नद्रष्टा ही जिस प्रकार सभी स्वाप्निक पदार्थों की सृष्टि, स्थिति और विनाश का कारण होता है एवं वही स्वप्न दृश्य के द्रष्टा भी हैं, वैसा ही जागतिक जड़ व चेतन सभी पदार्थ ही चैतन्यस्वरूप सर्वात्मा परमेश्वर की माया या कल्पनाशक्ति के द्वारा सृष्ट होने के कारण परमेश्वर को ही मायावी रूप से इस मायामय प्रपंच की सृष्टि, स्थिति और विनाश का कारण कहा जाता है एवं इन सभी के द्रष्टा भी वे ही हैं।

[शंकरानन्द प्रभव तथा प्रलय शब्द का इस प्रकार अर्थ किये हैं—

प्रभवः—प्रभवति अस्मादिति प्रभवः अर्थात् इससे उत्पत्ति होती है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रभव शब्द का अर्थ है उपादान कारण।

प्रलयः—प्रलीयते निष्पाद्यतेऽनेनेति प्रलयः निमित्तकारणम् अर्थात् जिसके द्वारा कार्य निष्पन्न (सम्पादित) होता है उसको प्रलय अर्थात् निमित्त कारण कहा जाता है। अतः प्रभाव तथा प्रलय शब्द के द्वारा भगवान् ही परा तथा अपरा प्रकृति द्वारा समस्त जगत् का अभिन्न निमित्त-उपादान कारण है, वह कहा गया।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[शरीर (क्षेत्र) तथा जीव (क्षेत्रज्ञ) इन दोनों का प्रकृतित्व वर्णन करके उनके द्वारा किस प्रकार भगवान् स्वयं सृष्टि आदि के कारण होते हैं वह अब कहते हैं—]

प्रभवति—प्रकर्षेण भवत्यस्मादिति प्रभवः—परं कारणमहमित्यर्थः अर्थात् प्रकृष्टरूप से जिससे उत्पन्न होता है उसको प्रभव (परम कारण) कहा जाता है। मैं ही वह परम कारण हूँ।

क्षेत्र (अपरा अथवा जड़ प्रकृति) तथा क्षेत्रज्ञ (परा अथवा चेतन प्रकृति) ये दोनों ही समस्त भूतों की (समस्त जगत् की) योनि (कारण) हैं अर्थात् यह स्थावर जंगमात्मक सर्वभूत इन दोनों प्रकृति से—ही उत्पन्न

हुए हैं। इनमें जड़ प्रकृति देह रूप में परिणत होती है एवं मेरी अंशभूता चेतन प्रकृति भोक्ता के रूप से देह में प्रवेश कर अपने कर्मों के अनुसार देहादिको धारण करती है। वे दोनों प्रकृतियाँ ही मुझसे सम्भूत (उत्पन्न) हुई हैं। इसलिए मैं ही प्रकृति सहित समस्त जगत् का प्रभाव हूँ [अर्थात् जिससे कार्य मात्र प्रकर्षपूर्वक उत्पन्न होता है उसको प्रभव (परम कारण) कहा जाता है वह प्रभव (परम कारण) में ही हूँ फिर जिसके द्वारा सभी का विलय होता है उसको प्रलय (संहार करने वाला) कहा जाता है मैं ही जगत् का प्रलय अर्थात् संहारकर्ता हूँ।]

(२) शंकरानन्द—उक्त दो प्रकार की प्रकृति का कार्य क्या है ? यह इस श्लोक में कहा जा रहा है—

सर्वाणि भूतानि एतद्योनीनि—उक्त दो प्रकार के लक्षण युक्त प्रकृति जिनके जिनके योनि (कारण) हैं, वे ही 'एतद्योनि' हैं। भूतानि—भूत अर्थात् जन्म के द्वारा सत्ता प्राप्त होने के कारण ब्रह्मा से स्तम्ब तक जंगम तथा स्थावर, सभी सृष्ट पदार्थों को 'भूत' कहा जाता है। समस्त भूतों की ही योनि (जननी) ये दोनों प्रकृतियाँ हैं, इति उपधारय—ऐसा समझना। प्रश्न—यदि तुम्हारी उभय प्रकृति ही जगत् का कारण हो तब 'यतो वा इमानि भूतानि' ('जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं') इत्यादि श्रुति के अनुसार तुम स्वयं जगत्—कारण कैसे हो सकते हो ? उत्तर—प्रकृति के कार्य जो जगत्-सृष्टि है वह मेरा ही कार्य है, क्योंकि मैं चैतन्यरूप से सर्वत्र व्याप्त हूँ इसलिए मेरी सन्निधि से ये दोनों प्रकृतियाँ जगत् सृष्टि करने में समर्थ होती हैं (स्वतन्त्ररूप से ये जगत् सृष्टि नहीं कर सकती हैं) जीव चैतन्य सर्वदेह में व्याप्त रहने के कारण ही जड़ देह की पुण्य-पापरूप क्रिया करने की शक्ति रहती है, केवल देह की वह शक्ति नहीं है। यदि केवल देह ही पुण्यपाप करे, ऐसा मान लिया जाय तो केवल देह को ही स्वर्गादिभोग की प्राप्ति होगी (किन्तु ऐसा नहीं होता है)। इसलिए देह-उपाधियुक्त जीव की ही जिस प्रकार पुण्यपापकारिता स्वीकार किया जाता है उस प्रकार ये दोनों उपाधियुक्त (परा तथा अपरा प्रकृतिरूप उपाधि युक्त) सर्वज्ञ मैं ही सम्पूर्ण जगत्सृष्टि का कर्ता हूँ। चूँकि 'सोऽकामयत बहु स्याम्' ('उसने कामना किया, मैं अनेक हूँगा') इससे मेरा ही अनेक होने का संकल्प श्रुति में वर्णित है। अतः सर्वज्ञ 'ईश्वर ही समस्त जगत का कारण है', यह अब स्पष्ट किया जा रहा है—

अहं कृत्स्नस्य जगतः—समस्त जगत् का अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप सम्पूर्ण जगत् का मैं ही प्रभवः—प्रभव अर्थात् उपादान—जिससे

प्रभव (उत्पत्ति) होता है उसको प्रभव अथवा उपादान कहा जाता है तथा— एवं प्रलयः—प्रलय अर्थात् निमित्त कारण भी मैं ही हूँ [जिससे उपसर्ग वश प्रलय (निष्पादन) किया जाता है, वह प्रलय अर्थात् निमित्तकारण है।]। [इस प्रकार समस्त जगत का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों ही मैं हूँ, यही कहने का अभिप्राय है।]

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती दो श्लोकों की नारायणी टीका में क्षेत्रज्ञरूप जीव (पराप्रकृति) एवं क्षेत्ररूप अपरा प्रकृति के सम्बन्ध में विस्तृतरूप से वर्णन किया गया है। शास्त्र में परा प्रकृति को पुरुष (जीव) अपरा प्रकृति को प्रकृति एवं परमात्मा को परम पुरुष कहा गया है। पुरुष और प्रकृति के संयोग से ही (चित् तथा जड़ के मिश्रण से ही) समस्त विश्व की सृष्टि होती है। इसलिए कहा गया 'एतद्‌योनीनि भूतानि सर्वाणि' अर्थात् जगत में जो कुछ प्रतीयमान होता है उन सब का योनि (उपादान कारण) है ये प्रकृतिद्वय। जिस उपादान कारण से जिस पदार्थ की सृष्टि होती है उस पदार्थ का लय भी उस उपादान कारण में ही होता है। जिस प्रकार उपादान कारण मृत्तिका से घट की उत्पत्ति होती है पुनः जब घट का नाश होगा तब उस मृत्तिका में ही घट का विलय हो जायगा। ये प्रकृतिद्वय स्वतंत्ररूप से सृष्टि अथवा प्रलय का कारण नहीं हो सकती है, चूँकि ये दोनों ही मायिक हैं। माया मायावी को (चैतन्यस्वरूप परमात्मा को) आश्रय कर के ही कार्य कर सकती है। अतः परमात्मा ही निमित्तकारण है। जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा ही कल्पनाशक्ति के द्वारा स्वाप्निक भोक्ता एवं भोग्य दृश्य प्रपंच की उत्पत्ति के कारण होता है एवं स्वप्न का अन्त होने पर जिस प्रकार भोक्ता तथा भोग्य सभी स्वाप्निक पदार्थ स्वप्न द्रष्टा में ही विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार साक्षी, केवल, निर्गुण (श्वेता० उ०) परमात्मा माया को अर्थात् स्वतःसिद्ध कल्पना शक्ति को उपाधि कर जीव (पुरुष) तथा प्रकृति (जड़ दृश्य) के रूप से विभक्त होकर उनके संयोग से विश्व सृष्टि कर स्वयं उनके उत्पत्ति तथा प्रलय के कारण होते हैं। मायासृष्ट सभी पदार्थ ही मिथ्या हैं—अधिष्ठानस्वरूप परमात्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है। अतः पराप्रकृति, अपराप्रकृति, उनके संयोग से विश्व की सृष्टि तथा प्रलय इत्यादि जो कुछ प्रतीत होते हैं वे उनकी अधिष्ठान सत्ता (परमात्मा) से भिन्न और कुछ भी नहीं है अर्थात् परमात्मा ही माया का आश्रय तथा विषय होकर उन सकल रूप से प्रतीत होते हैं। निर्विकल्प समाधि से उन मिथ्या वस्तुओं का आत्यन्तिक प्रलय होने से ही परमात्मा अपने स्वरूप से प्रकाशित

होते हैं। क्षेत्रज्ञ जीव भी तब प्रकृति से मुक्त होकर अपने यथार्थ स्वरूप को जानकर परमात्मा ही हो जाता है। ये सब मुमुक्षु के लिए स्पष्ट रूप से जानना अवश्य कर्तव्य है। इसलिए भगवान ने कहा "अवधारय" (अर्थात् भलीभाँति जान लो)।

प्रलयस्तथा—सृष्टि का प्रलय तीन प्रकार से होता है (१) दैनन्दिन प्रलय—सुषुप्ति में पराप्रकृति (जीवत्वभाव) तथा अपराप्रकृति (बुद्धि, अहंकार, चित्त एवं इन्द्रियादि के कार्य) आत्मा में लय हो जाती हैं एवं इसलिए विश्व प्रपंच का कोई अनुभव नहीं रहता। प्रत्येक जीव को सुषुप्ति में ऐसा होता है। इसलिए इसको दैनन्दिन प्रलय कहा जाता है। अज्ञानरूप बीज रहने के कारण आत्मा में सबका लय होने पर भी इस अवस्था में आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता है। मायिक तथा क्षणिक अर्थात् अल्पस्थायी सुषुप्ति के बाद पुनः जाग्रत् अवस्था उपस्थित होने पर वे जगत्प्रपंच प्रवाहमान प्रतीत होता है। अतः सुषुप्ति में मोक्ष नहीं होता है।

(२) महाप्रलय—ब्रह्मा की आयु समाप्त होने पर जगत् प्रपंच का महाप्रलय होता है। सृष्टि अथवा प्रलय सम्पूर्णरूप से मायिक होने पर भी उनका क्रम है। पुराणादि शास्त्र में संहार का क्रम इस प्रकार वर्णित है—महाप्रलय में पंचमहाभूत जब परस्पर को ध्वंस करने के लिए उद्यत होते हैं तो पहले पृथ्वी को जलराशि ग्रास करती हैं। पृथ्वी का कारण है जल। कार्यकारण में ही लय हो जाता है, अतः पृथ्वी का सार जो गन्धतन्मात्रा है वह जल का सार रसतन्मात्रा में लीन हो जाता है। वह जलराशि पुनः अग्नि तथा सूर्य के उत्ताप से शुष्क हो जाती है एवं रसतन्मात्रा रूपतन्मात्रा में लीन (निःशेष) हो जाता है। पुनः वायु अग्निराशि को ग्रास करता है तो रूपतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रा में लीन हो जाता है। उसके बाद वायु राशि आकाश में लीन होता है एवं स्पर्शतन्मात्रा शब्दतन्मात्रा में पर्यवसित (लीन) हो जाता है। शब्द तन्मात्रा तामस अहंकार में लीन होता है। ऐसी अवस्था में पृथ्वी आदि पञ्चभूत अथवा शब्दादि पञ्चतन्मात्रा नहीं रहते। देहादि स्थूल पदार्थ पहले ही नष्ट हो जाते हैं। इन्द्रियों का तेजस (राजस) अहंकार में लय होता है तथा इन्द्रियों की अधिष्ठात्री देवताओं का तथा मन का वैकारिक अहंकार में (सात्विक अहंकार में) लय हो जाता है। अहंकार महत्तत्व में लीन होता है एवं महत्तत्व भी त्रिगुणमयी प्रकृति में लय प्राप्त होता है। उसी अवस्था में सत्त्व, रजः तथा तमोगुण की विषमता नहीं रहती है। एक साम्यावस्था अर्थात आद्या प्रकृति जिसे अव्यक्त, अनिर्वचनीया माया इत्यादि

नामों से अभिहित किया जाता है। माया भी तब परमात्मा के साथ एकीभूत हो जाती है किन्तु माया में जगत् संस्कार का बीज निहित रहने के कारण कल्प के अन्त में (महा प्रलय के पश्चात्) सृष्टि होती है एवं जीव अपना-अपना संचित कर्म के अनुसार पुनः जन्म ग्रहण करता है। अतः महाप्रलय में भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(३) आत्यन्तिक प्रलय—शास्त्रविहित निष्काम कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरु से आत्मा के स्वरूप का परोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सर्व संशय से मुक्त होकर अभ्यास तथा वैराग्यपूर्वक एकमात्र नित्यसत्य परमात्मा का स्मरण करते हुए निर्विकल्प समाधि के द्वारा आत्म-साक्षात्कार कर आत्मा में ही लीन होने पर अज्ञान एवं अज्ञानजनित सर्वकर्म एवं कर्मफल भस्मीभूत हो जाते हैं (गीता ४।३७)। अज्ञान के साथ कर्मों के समस्त बीज नष्ट होने के कारण और पुनर्जन्म नहीं होता है। इसे ही आत्यन्तिक प्रलय अथवा मोक्ष कहा जाता है।

[कोई-कोई परमात्मा (ब्रह्म) से भिन्न 'प्रधान' प्रभृति को जगत् का कारण मानकर श्रुतिविरुद्ध मत पोषण करते हैं। उन मतों का निराकरण कर सभी का कारण तथा आधार एकमात्र परमात्मा ही है, यह अब श्रीभगवान् स्पष्ट कर कह रहे हैं—]

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे धनंजय ! मत्तः परतरम् अन्यत् किंचित् न अस्ति, सूत्रे मणिगणाः इव मयि इदं सर्वं प्रोतम्।

अनुवाद—हे धनंजय ! मुझसे परतर (श्रेष्ठ) अन्य कोई वस्तु ही (इस विश्व के कारणान्तर के रूप में) नहीं रह सकता है, सूत्र में मणियों के सदृश यह समस्त जगत् मुझमें ही ग्रथित है।

भाष्यदीपिका—हे धनंजय ! हे अर्जुन [अर्जुन समस्त जगत को भगवन्मय जानकर मोक्षरूप धन की जय करने में समर्थ है, इसे सूचित करने के लिए श्रीभगवान् ने यहाँ 'धनंजय' कहकर सम्बोधन किया।]

मत्तः—मुझसे अर्थात् परा तथा अपरा प्रकृति जिनकी उपाधि है एवं श्रुति 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' अर्थात् सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्तस्वरूप ब्रह्म कहकर जिनका निर्देश किया है उन परमेश्वर से परतरम्—अन्य कारणान्तर

(अन्य कोई श्रेष्ठ एवं स्वतन्त्र कारण) अर्थात् सांख्य परिकल्पित प्रधान अथवा नैयायिकों के द्वारा परिगृहीत परमाणु अथवा दूसरे श्रुतिविरुद्ध मत के अनुसार जगत् के कल्पित कारण अन्यत् किंचित् न अस्ति—अन्य कुछ भी नहीं है। क्योंकि चेतन परमेश्वर से भिन्न जड़प्रधान प्रकृति जगत् का कारण नहीं हो सकती है, इसे स्पष्ट रूप से 'ईक्षतेनाशब्दम्' इस वेदान्त सूत्र के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। श्रुति में ब्रह्म अथवा परमात्मा ही जगत्सृष्टि आदि का एकमात्र कारण है उस सम्बन्ध में शत शत वचन हैं, यथा—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति स इमांल्लोकानसृजत। (ऐते० उ० १।१-२) अर्थात् जगत्सृष्टि के पहले यह जगत् एकमात्र आत्मा के रूप से ही (ब्रह्म के रूप से ही) विद्यमान था तब अन्य कुछ भी क्रियाशील नहीं था। उस सर्वज्ञ आत्मा ने संकल्प किया—मैं प्राणियों के कर्मफलभूत लोकसमूह की सृष्टि करूँगा। इसके बाद उसने इस लोक की सृष्टि की। 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्य्याम्येष योनिः सर्वस्य' अर्थात् ये सभी के ईश्वर हैं, ये सर्वज्ञ हैं, ये अन्तर्यामी हैं, ये सभी के कारण हैं; "प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्" अर्थात् समस्त भूतों की उत्पत्ति तथा प्रलय का कारण है; चूँकि प्रधान, परमाणु प्रभृति के जगत्कारणत्व का कोई वैदिक प्रमाण नहीं है अतः परमात्मा ही एकमात्र जगत का कारण है, यही कहने का अभिप्राय है। सूत्रे मणिगणा इव—जिस प्रकार मणिगण सूत्र में ग्रथित रहते हैं उस प्रकार मयि—मुझमें अर्थात् जगत् कारण परमेश्वर में इदं सर्वं—ये भूतसकल अर्थात् सम्पूर्ण प्राणी तथा परिदृश्यमान चराचरात्मक जगत् प्रोतं—अनुगत अर्थात् अनुविद्ध (अनुस्यूत एवं ग्रथित) रहता है। समस्त जड़ जगत् मुझमें ही कल्पित होने के कारण मुझको ही आश्रय कर प्रतीयमान होता है। अतः मुझसे परमार्थतः वह भिन्न नहीं है। तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः (वे० द० २।१।१४) इस ब्रह्मसूत्र से यह स्पष्ट किया गया है अर्थात् श्रुति में कहा गया है 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (नाम सकल वाक्य के विलास भिन्न और कुछ भी नहीं है, अतः मिथ्या है। उसका जो कारण है वही केवलमात्र सत्य है) इस प्रकार श्रुति वाक्य से कारण कार्य से अनन्य हैं (अभिन्न है अर्थात् पृथक् नहीं है), यही सिद्ध होता है। अतः निखिल प्रपंचरूप अध्यास का (अर्थात् मिथ्या कल्पित जागृतिक पदार्थों के नाम तथा रूप का) अधिष्ठानस्वरूप स्वप्रकाश सत्यानन्द परमात्मा से भिन्न कोई सत्ता नहीं है अर्थात् परमात्मा ही सर्व वस्तुओं में ओतप्रोत रूप से अनुस्यूत (व्याप्त) हैं, यह सिद्ध होता है। किस प्रकार चैतन्यस्वरूप परमात्मा

सर्ववस्तु में ओतप्रोत (व्याप्त) है, उसे निर्देश करने के लिए भाष्यकार ने दूसरा दृष्टान्त दिया—'दीर्घतन्तुषु पटवत्' अर्थात् पट जिस प्रकार लम्बाई तथा चौड़ाई से तन्तु में व्याप्त रहता है एवं पट तन्तु से भिन्न नहीं है, जिस प्रकार घट कलस प्रभृति बाहर तथा अन्दर मृत्तिका से भिन्न और कुछ नहीं है अथवा हार कुंडल प्रभृति सोना से भिन्न और कुछ नहीं है उस प्रकार नाम-रूपात्मक जगत् बाहर तथा भीतर परमात्मा (ब्रह्म) से भिन्न नहीं है, 'सूत्रे मणिगणा इव' यह दृष्टान्त परमात्मा के सर्ववस्तु का आधारत्व निर्देश करने के लिए दिया गया है। जिसप्रकार मणियाँ सूत्र के द्वारा व्याप्त एवं धृत होकर रहते हैं एवं सूत्र के अभाव से वे सभी विकीर्ण हो जाते हैं उस प्रकार आत्मभूत मेरे द्वारा (परमेश्वर द्वारा) समस्त जगत् व्याप्त एवं धृत हैं एवं मुझसे विच्छिन्न होने पर ये विनष्ट हो जायेंगे यही कहने का अभिप्राय है।

शंकरानन्द कहते हैं कि श्लोक में 'सूत्रे मणिगणा इव' दृष्टान्त के द्वारा ही ब्रह्म से जगत् अभिन्न है यह प्रमाणित हो सकता है। यदि प्रश्न हो कि यह कैसे सम्भव है ? क्योंकि मणि और सूत्र में जो भेद है वह तो प्रत्यक्षसिद्ध है। इसके उत्तर में वे कहते हैं—भेद केवल मूढ़ दृष्टि से ही प्रतीत होता है क्योंकि सूक्ष्मदृष्टि से दोनों के व्यावहारिक कल्पित (मिथ्या) नाम रूप को त्याग कर यदि विचार किया जाय तो देखा जाता है कि वे दोनों (मणि और सूत्र) ही भौतिक अर्थात् पंचभूत के सृष्ट पदार्थ हैं। अतः भौतिकत्व तथा सूत्र मणियों में समानरूप से व्याप्त हैं। अतः सूत्र के द्वारा मणिसकल केवल धृत रहते हैं इतना ही नहीं, बल्कि नाम-रूप उपाधिशून्य होने से सूत्र एवं मणि की सत्ता एक ही है अर्थात् भौतिकत्व की दृष्टि से वे दोनों अभिन्न हैं, यह प्रमाणित होता है। उस प्रकार जागतिक पदार्थों में भी नामरूप-उपाधि से विवर्जित होने पर ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं क्योंकि कल्पित वस्तु की सत्ता अधिष्ठान सत्ता से कभी पृथक् नहीं हो सकती है। इसलिए 'ब्रह्मैवेदं' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है ऐसे अनेक अद्वैत प्रतिपादक वाक्य श्रुति में स्पष्ट रूप से कहा गया है।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—मत्तः परतरम् अन्यत् किञ्चित् न—[मैं ही जब माया के द्वारा समस्त जगत की स्थिति, उत्पत्ति तथा ध्वंस का हेतु हूँ तो परमार्थतः] स्वाप्निक वस्तु जिस प्रकार स्वप्न द्रष्टा से भिन्न नहीं है, ऐन्द्रिजालिक वस्तु (जादु) जिस प्रकार मायावी (जादुगर) से भिन्न नहीं है एवं अज्ञानकल्पित रजत जिस प्रकार शुक्ति के खंडावच्छिन्न चैतन्य से भिन्न नहीं है उसी प्रकार मेरी ही कल्पना शक्ति से (अनिर्वचनीया माया से)

समस्त जगत् सृष्ट होने के कारण माया के अधिष्ठान स्वरूप तथा सर्वप्रकाशक मुझसे [अर्थात् जो 'सत्' के रूप से एवं चित्त के रूप से (स्फुरण के रूप से) सकल पदार्थों में अनुस्यूत (व्याप्त) है एवम् जो स्वयंप्रकाश परमानन्द स्वरूप है उस परमेश्वर से] परतरं—परमार्थ सत्य अन्यत् किंचित् न—अन्य कुछ भी नहीं है । [जो मेरे आधार पर कल्पित है वह परमार्थतः मुझसे भिन्न नहीं हो सकता, यही कहने का अभिप्राय है ।] अतः मयि—सत् स्वरूप एवं चित्तस्वरूप (स्फुरणरूप) मुझमें (परमेश्वर में) सर्वम् इदम्—निखिल जड़ जगत् प्रोतं—ग्रथित (अर्थात् आश्रित) है अर्थात् समस्त जड़ पदार्थ मेरी ही सत्ता से सत् होकर एवं मेरे ही स्फुरण से (प्रकाश से) प्रकाशमान होकर मायामय व्यवहार के उपयोगी होते हैं । समस्त वस्तु चैतन्यस्वरूप परमात्मा में किस प्रकार ग्रथित हैं, इसका एक दृष्टान्त नीचे दिया जा रहा है—सूत्रे मणिगणा इव—जिस प्रकार मणिगण सूत्र में ग्रथित रहते हैं । स्वप्नद्रष्टा जिस प्रकार स्वप्नसृष्ट मणियों के (स्वप्न दृश्यों के) हेतु है एवं वे स्वप्न दृश्य जिस प्रकार स्वप्न द्रष्टा में ही ग्रथित रहते हैं, अर्थात् उनकी स्वप्नद्रष्टा से कोई पृथक् सत्ता नहीं होती, उसी प्रकार मैं ही (परमेश्वर ही) इस अखिल जगत का कारण हूँ दूसरा कोई स्वतन्त्र कारण नहीं है एवं इस जगत् की मुझसे कोई पृथक् सत्ता नहीं है । क्योकि माया के द्वारा मुझको (मुझे) आधारकर यह जगत् निवर्त के द्वारा रूप से प्रतीयमान हो रहा है । अथवा 'सूत्रे मणिगणा इव' यह अंश परमेश्वर मे जगत् किस प्रकार ग्रथित है उसी का ही दृष्टान्तमात्र है—यह कारणत्व का उदाहरण नहीं है । इस स्थान में 'कनके कुंडलवत्' कहने से और भी योग्य दृष्टान्त होता अर्थात् सुवर्ण में सुवर्ण-निर्मित कुंडलादि जिस प्रकार सुवर्ण से अभिन्नरूप से विद्यमान रहते हैं उस प्रकार परमेश्वररूप कारण से अभिन्नरूप से जगत् उसमें ही ग्रथित (विद्यमान) है ।

(२) श्रीधर—[चूँकि ऐसा होता है इसलिए]

मत्तः परतरम्—हे धनंजय ! जगत की सृष्टि तथा संहार का मुझसे (परमेश्वर से) श्रेष्ठ एवं स्वतंत्र कारण किंचित् अपि न अन्यत् अस्ति—अन्य कुछ भी नहीं है स्थिति का कारण भी मैं ही हूँ, यह कह रहे हैं—मयि—मुझमें (परमेश्वर में) इदं सर्वम्—यह समस्त जगत् प्रोतं—ग्रथित अर्थात् आश्रित रहता है ['सूत्रे मणिगणा इव' यह दृष्टान्त स्पष्ट है]

(३) शंकरानंद—कोई कोई ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरे में जगत्कारणता की कल्पना कर श्रुतिविरुद्ध जगत् के कारण तथा आधार का वर्णन करते हैं ।

उनके मत का खंडन करते हुए सभी के आधार मैं ही (ईश्वर ही) हूँ यह स्पष्ट कर अब कह रहे हैं। मत्तः—मुझसे अर्थात् प्रकृतिरूप उपाधिवाले सत्य आदि ('सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादि) लक्षणयुक्त परमेश्वर से परतरम्—परतर (अन्य) कारण अर्थात् सांख्यमतावलम्बी के द्वारा कल्पित प्रधान अथवा नैयायिकों द्वारा परिगृहीत (स्वीकृत) परमाणु अथवा अन्यत्—अन्य किंचित्—कोई भी कारण नास्ति—नहीं है अर्थात् प्रकृति आदि के प्रमाणत्वमें कोई प्रमाण नहीं है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० उ०) अर्थात् जिससे ये भूतवर्ग 'ग्रहण करते हैं' इत्यादि श्रुतिवाक्य इस विषय में प्रमाण है ऐसा यदि कहो तो कहूँगा कि (ब्रह्मसूत्र के) 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि अधिकरण के द्वारा जगत् के कारण चेतनत्व आदि धर्मयुक्त होना होगा यह प्रतिपादन किया है। अतः उक्त श्रुति के अर्थ का विषय न होने के कारण (अर्थात् चेतनत्वधर्मयुक्त न होने के कारण) प्रकृति आदि के कारणत्व का निरास (निषेध) किया है [अर्थात् जड़ प्रकृति आदि जगत् का कारण नहीं हो सकते हैं यह प्रमाणित हुआ है]। 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः' ('जो सर्वज्ञ, सर्वविद् है, जिसका ज्ञानमय तप है'), 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य' ('यह सभी के ईश्वर हैं, यह सर्वज्ञ हैं, यह अन्तर्यामी है, यह सब का कारण है'), 'प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्, (भूतों का उपादान तथा निमित्त कारण) इत्यादि श्रुतिवाक्य प्रसिद्ध है। अतः चेतन एवं सर्वज्ञ मैं ही सम्पूर्ण जगत् का कारण हूँ, यही यहाँ कहने का अभिप्राय है। और भी 'कस्मिन् सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति' (किसमें सब स्थित हैं) ऐसा उपक्रम कर श्रुतिने रसातल से ब्रह्मलोक तक समस्त लोकों का निषेध कर के' सर्वे लोका आत्मनि ब्रह्मणि मणय इवौताः प्रोताश्च' (ब्रह्मस्वरूप आत्मा में समस्त लोक मणियों के सदृश ओतप्रोत हैं) इसके द्वारा सबकी आत्मा जो ब्रह्म है उसमें ही सब लोगों का ओत प्रोत होना प्रतिपादन किया है। इसलिए प्रकृति आदि समस्त लोगों का आधार (कारण) है यह मिथ्या प्रतिपन्न करने के लिए 'मैं ही सभी का आधार हूँ' ऐसा श्रीभगवान् कह रहे हैं।

सूत्रे मणिगणा इव मयि—सूत्र में मणिसमूह के समान मुझमें अर्थात् जगत् के कारण सभी के अधिष्ठान ब्रह्म में इदं सर्वम्—ये समस्त चराचर जगत् अर्थात् अव्याकृत से लेकर स्थूल तक सम्पूर्ण जगत् प्रोत—अनुगत है अर्थात् तन्तु में पट के समान, सूत्र में मणिसमूह के समान मेरी सत्ता में ही अनुवृत्त होकर स्थित है, अतः वे मुझसे पृथकरूप से स्थित नहीं है, यही अर्थ है। यदि शंका हो कि दृष्टान्त में तो इस मणिसमूह के आधारभूत

सूत्र का एवं उसमें ग्रथित सुवर्ण आदि मणिसमूह का जैसा भेद है उस प्रकार तुममें ग्रथित जगत् का एवं उस जगत् के आधारभूत तुम्हारा भी भेद है, ऐसी धारणा करना युक्त ही (ठीक) ही है, तो कहा जायगा कि यह धारणा युक्त (ठीक) नहीं है, क्योंकि सूक्ष्मबुद्धि एवं युक्ति से विचार करने पर भेद प्रतीत नहीं होता है। स्थूलबुद्धिसम्पन्न पुरुष के सूत्र में एवं मणिसमूह में परस्पर यद्यपि भेद प्रतीत (दृष्ट) होता है, तथापि सूक्ष्मबुद्धि वाले पुरुष युक्ति के द्वारा विचार करने से यह समझ सकते हैं कि आधार रूप सूत्र एवं आधेय रूप मणिसमूह में भौतिकत्व रहने के कारण अर्थात् वे दोनों ही पंचभूत के विकार होने के कारण एक ही है—अतः उनमें भेद नहीं है।

यदि शंका हो कि उनमें सूत्र तथा मणि इनके प्रत्येक का विशेष विशेष रूप रहने के कारण भेद तो है ही, तो कहूँगा कि यह भी युक्त नहीं हैं क्योंकि वह तो मूढ़ों के व्यवहार के लिए कल्पित है, अतः वैसा भेद अप्रामाणिक है। सभी रूप रूपत्वावच्छिन्न (रूपत्वविशिष्ट) रहने के कारण एक ही हैं, यह सिद्ध होता है। तथापि विशेष विशेष उपाधि से युक्त होने के कारण रूपों में विशेषता (भेद) प्रतीत होती है किन्तु वह भेद स्वाभाविक नहीं है अर्थात् वह भेद मिथ्या ही है। चित्रपट में भी अंकित चित्रों में सर्वत्र अनुगत रूप के एकत्व अनुभव होता है, इसलिए भौतिकत्वसामान्य के .सभी में अनुगत रहने के कारण उस भौतिकत्व विशिष्ट वस्तु में भी एकत्व मानना युक्तियुक्त ही होता है अतः 'ये सब ही भौतिक है' ऐसा सर्वत्र केवल भौतिक प्रत्यय उत्पन्न होने से व्यक्तिविशेष द्वारा (अर्थात् भिन्न भिन्न नामरूपात्मक वस्तु समूह द्वारा) कल्पित प्रत्यय (चित्तवृत्ति) का उदय नहीं होता है क्योंकि 'यह समुद्र है' ऐसा प्रत्यय होने से तरंग फेन, बुद्बुद आदि का प्रत्यय देखने में नहीं आता। प्रधान का ग्रहण होने से, अप्रधान का ग्रहण करना अनुचित होने के कारण व्यक्तिविशेष के द्वारा सम्पादित भेद सिद्ध नहीं होता है। जैसे एक ही भूमि विद्यमान है तथापि उसमें स्थित गृहादि की कल्पना से भेद व्यवहार होता है वैसे ही भौतिकत्व के रूप से एकत्व रहने से भी सूत्र आदि में 'यह सूत्र है' 'यह मणि है', इस प्रकार जो भेद देखा जाता है वह व्यवहार के लिए कल्पित है—परन्तु वह वास्तविक नहीं है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो भौतिकत्व के अभाव का प्रसंग एवं भेद निरूपण करना असम्भव होने के कारण सर्वत्र एकत्व ही है यह स्वीकार करना उचित (संगत) होगा। जिस प्रकार दृष्टान्त में उसीप्रकार दार्ष्टान्तिक में भी ब्रह्म एवं जगत् के एकत्व का ही अंगीकार करना उचित है। अन्यथा 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' ('ये सब ब्रह्म ही हैं')

इत्यादि अद्वैत-प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों से विरोध उपस्थित होगा, यही कहने का अभिप्राय है।

(४) नारायणी टीका। मत्तः परतरम् इत्यादि—परतर शब्द का अर्थ श्रेष्ठ परमार्थ सत्य है। अपरा प्रकृति से परा प्रकृति श्रेष्ठ है। किन्तु परा अथवा अपरा प्रकृति दोनों ही कल्पित हैं, अत एव ये परमार्थ सत्य वस्तु नहीं है। पुनः परा प्रकृति से सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप मैं श्रेष्ठ हूँ कारण जीव तथा जगत् (परा तथा अपरा प्रकृति) मेरी ही कल्पनामयी मायाशक्ति के द्वारा मुझको आश्रय कर विवर्त्त रूप से प्रतीयमान होते हैं इस कारण मैं ही एकमात्र परमार्थ सत्य वस्तु हूँ। अतः मुझसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। मायिक जीव तथा जगत् की व्यावहारिक सत्ता तबतक रहती है जब तक अज्ञान रहता है अर्थात् आत्मा के (परमात्मा के) स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है माया की अथवा माया के कार्य की कोई पारमार्थिक सत्यता नहीं है। चलचित्र में जो कुछ दीखता है उसमें जिस प्रकार एकमात्र श्वेतवस्त्रखंड ही (जो चलचित्र का आधार है वही) सत्यवस्तु है और सब मिथ्या है; अथवा जैसे स्वप्नदृश्य का कुछ भी सत्य नहीं है—एकमात्र स्वप्नद्रष्टा ही सत्य है, उस प्रकार मैं ही एकमात्र परमार्थ सत्यवस्तु हूँ, और सभी ही कल्पित (मिथ्या) हैं। सृष्टि-स्थिति प्रलय मुझको ही आश्रय कर प्रकाशित होते हैं अतः मेरी सत्ता से ही सत्तावान् एवं मेरे प्रकाशित होने के कारण मैं ही उस सृष्टिस्थिति प्रलय का परम कारण हूँ। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव—मणिमाला की प्रत्येक गुटिका जिस प्रकार सूत्र के द्वारा ग्रथित रहती है उस प्रकार यह जगत् प्रपंच ब्रह्मरूप सूत्र में ग्रथित है, एवं अन्त में ब्रह्म में ही लय हो जाता है। श्वेतवस्त्रखंड जिस प्रकार चलचित्र के प्रत्येक दृश्य का आधार होने के कारण समस्त दृश्यों में व्याप्त रहता है एवं वह (श्वेतवस्त्रखंड) न रहने से जिस प्रकार चलचित्र—सम्भव नहीं हो सकता है उसी प्रकार सर्वाधिष्ठान मेरे द्वारा परा तथा अपरा प्रकृति विशेष रूप से धृत हैं एवं इस कारण मुझमें ही ग्रथित होकर व्यवहारक्रिया सम्पादन करती है किन्तु मेरे आधाररूप से विद्यमान न रहने से यह विश्वप्रपंच प्रतीत नहीं हो सकता है मालामें जिस प्रकार सूत्र अदृश्य रहता है, उस प्रकार विश्वप्रपंच में सभी के आश्रय तथा अन्तर्यामी आत्मा नहीं देखा जाता है नामरूपात्मक जीव तथा जगत को ही देखा जाता है। यद्यपि सूत्र से मणिगण पृथक् रहते हैं किन्तु नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म से पृथक् नहीं है, जिस प्रकार कुंडलादि स्वर्ण से पृथक नहीं है परन्तु कुंडलादि से स्वर्ण श्रेष्ठ है क्योंकि स्वर्ण ही कुंडलादि का

उपादान कारण है। उस प्रकार ब्रह्म से सृष्ट सकल पदार्थ पृथक् नहीं है तथापि ब्रह्म सबसे 'परतर' अर्थात् श्रेष्ठ है। इसलिए 'सूत्रे मणिगणा इव' दृष्टान्त से ब्रह्मस्वरूप आत्मा सर्वत्र प्राप्त होकर मायासृष्ट सर्ववस्तुको धारण किया हुआ है यही समझा रहा है और परमात्मा माया के द्वारा सर्ववस्तु के रूप से प्रतीयमान हो रहे हैं एवं सृष्टि-स्थिति-प्रलय के परमकारण (श्रेष्ठ स्वतंत्र कारण) है यह श्लोक के प्रथमांश में सूचित किया गया है।

[अच्छा, रस, गन्ध इत्यादि पदार्थों में ही तो जल, पृथ्वी प्रभृति प्रोत (अनुगत अथवा व्याप्त) प्रतीत होते हैं तो यह समस्त जगत् किन किन धर्म के द्वारा विशिष्ट तुममें प्रोत है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! अहम् अप्सु रसः, शशिसूर्ययोः प्रभा, सर्ववेदेषु प्रणवः, खे शब्दः नृषु पौरुषम् अस्मि।

अनुवाद—हे अर्जुन ! मैं जल में रस के रूप से, चन्द्र सूर्य में प्रभा के रूप से, समस्त वेदो में प्रणव के रूपसे, आकाश में शब्द तन्मात्रा के रूप से आकाश में शब्द तन्मात्रा के रूप से एवं मनुष्यों में पौरुष के रूप से अवस्थित हूँ।

भाष्यदीपिका—हे कौन्तेय-हे अर्जुन ! मनुष्यों में तुम्हारा पौरुष अति प्रसिद्ध है। वह पौरुष ही मेरी विभूति है। भक्त में ही मेरी सात्त्विक विभूति का विशेष प्रकाश होता है, इस कारण मेरी परम भक्त कुन्ती से उत्पन्न हुए वीर अर्जुन के रूपसे मैं ही अवस्थित हूँ, इसे स्मरण करने के लिए 'कोन्तेय' कहकर भगवान् ने सम्बोधन किया। भगवान् बाद में कहेंगे—'पांडवानां धनंजय' (गीता १०।३७)। अहम् अप्सु रसः—मैं जल में रस के रूप से विद्यमान हूँ। जल का जो सार है उसी को ही रस कहा जाता है। वह रसस्वरूप मुझमें (परमेश्वर में) सकल जल प्रोत (अनुस्यूत अर्थात् अनुगत) है। रस तन्मात्रा के रूप में जो मधुर रस है (जो जल का सार है एवं कारण है एवं जो सकल जल में अनुगत अथवा व्याप्त है) वह मैं ही हूँ अर्थात् मेरी सत्ता से ही सत्तावान् होकर सर्वकारण के भी कारण मुझमें ही अभिन्न रूप से स्थित है। ऐसा अर्थ अन्यत्र भी करना पड़ेगा। जिस प्रकार मैं जल में रस हूँ उस प्रकार शशिसूर्ययोः प्रभा—चन्द्र तथा सूर्य में जो प्रभा देखी जाती है उस प्रभा (प्रकाश) के रूप में मैं ही विद्यमान हूँ अर्थात् प्रभास्वरूप

(नित्य प्रकाशस्वरूप) मुझमें ही चन्द्रसूर्य प्रोत (ग्रथित) है। सर्ववेदेषु प्रणवः—प्रणव शब्द का अर्थ है ॐकार। ॐकार समस्त वेदों में ही है। समस्त वेदों में मैं ही ॐकार के रूप से विद्यमान हूँ अर्थात् प्रणव (ॐकार) रूप मुझमें (परमात्मा में) ही समस्त वेद प्रोत (अनुस्यूत अथवा ग्रथित) है [समस्त वेदों में प्रणव (ॐकार) के रूप से मैं ही व्याप्त हूँ]। श्रुति भी यही कहती है—'तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक्' अर्थात् जिस प्रकार शंकु में समस्त पत्र विद्ध (ग्रथित) है अर्थात् पेड़ के प्रत्येक अंश ही जिस प्रकार शिरा प्रशिरादि के रूप से व्याप्त रहता है उस प्रकार ॐकार में भी समस्त वाक् (अर्थात् समस्त वेद) विद्ध अर्थात् ग्रथित है।

खे शब्दः—इसप्रकार शब्द ही (शब्दतन्मात्रा ही) आकाश का सारभूत है। उस शब्दरूपी मुझमें आकाश प्रोत है। [ख शब्द का अर्थ आकाश है] नृषु पौरुषम्—पुरुषों में पौरुष के रूप से भी [अर्थात पुरुष का स्वभाव जिसके द्वारा लोक में 'यह पुरुष है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है वह भी] मैं ही हूँ [अर्थात् निखिल पुरुष का असाधारण धर्म जो पुरुषत्व सामान्य है वह भी] मैं हो हूँ। अतः पौरुषरूप मुझमें (ईश्वर में) सकल पुरुष प्रोत हैं। [कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्यरूप मुझमें (परमात्मा में) समस्त विशेष पदार्थ ही प्रोत अर्थात् अनुस्यूत हैं। बृहदारण्यक श्रुति में दुन्दुभादि दृष्टान्त के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि यथा दुन्दुभि वादित होने पर उसके गम्भीर शब्दों में समस्त बाह्य विशेष विशेष शब्द अन्तर्भूत होने पर उनको और पृथक् नहीं किया जा सकता है, उसप्रकार मुझमें समस्त विशेष पदार्थ अन्तर्भूत है, यही इस श्लोक का एवं परवर्ती कुछ श्लोकों का तात्पर्य है (मधुसूदन)।]

टिप्पणी। (१) श्रीधर—अप्सु रसः अहम् इत्यादि–मैं जल में रसस्वरूप हूँ। कहने का अभिप्राय यह है कि रसतन्मात्रारूपा विभूति के द्वारा जल का आश्रय होकर मैं जल में विद्यमान हूँ। उस प्रकार चन्द्र तथा सूर्य में जो प्रकाश है वह भी मैं हूँ अर्थात् चन्द्र और सूर्य में प्रकाशरूपा विभूति के द्वारा चन्द्र तथा सूर्य का आश्रय होकर मैं ही स्थित हूँ। इस प्रकार परवर्ती चार श्लोंको में जो कहा जायगा उसका अर्थ भी ऐसा ही करना पड़ेगा। प्रणवः सर्ववेदेषु—वैखरी वाणीरूप समस्त वेदों में मैं ही उनके मूल स्वरूप प्रणव अर्थात् ॐकार हूँ। शब्दः खे—आकाश में शब्दतन्मात्रा के रूप से मैं ही विद्यमान हूँ पुनः नृषु पौरुषम्—नर अर्थात् पुरुषों में पौरुष अर्थात् उद्यम मैं ही हूँ। पुरुष उद्यम में ही स्थित रहतां है अर्थात् उद्यम ही पुरुष का लक्षण है।

(२) शंकरानन्द—[इसके द्वारा 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (छा० उ०) अर्थात् जो अग्नि का लाल रूप है, वही तेज का रूप है—जो श्वेत है वह जल का एवं जो कृष्णवर्ण है वह अन्न का (पृथ्वी का) रूप है। अग्नि का अग्नित्व चला गया है क्योंकि जितने भी विकार देखे जाते हैं वे वाणी के द्वारा आरब्ध नाममात्र है,—तीनों रूप ही सत्य है'], 'यदादित्यस्य रोहितं रूपम्' ['जो आदित्य का रक्तवर्ण (लाल) रूप है'] इत्यादि श्रुतियों में जैसा कहा गया है उस प्रकार से अर्थात् रस, प्रभा, प्रणव आदि के रूप से एवं जल आदि के कारण के रूप से स्थित हुए परमेश्वर आत्मा से भिन्न जल, सूर्य आदि की सत्ता का अभाव प्रतिपादन कर अपने अभेद की सिद्धि कर रहे हैं। अहमप्सु रसः—मैं जल में रस अर्थात् रस के रूप से स्थित हूँ। इसलिए जल के कारणस्वरूप रसात्मक मुझमें जल प्रोत है अर्थात् जल मेरा स्वरूप होने के कारण मेरे साथ एकसत्ता प्राप्त होकर मुझमें स्थित है। जिस प्रकार मृत्तिका के कार्य घट का मृत्तिका स्वरूप से स्थित रहना प्रत्यक्षसिद्ध है, उस प्रकार ही जल आदि अपने कारण रूप से स्थित हैं अर्थात् मुझसे पृथक् नहीं है यही अर्थ है।

तथा शशिसूर्ययोः—चन्द्र, सूर्य में प्रभा अस्मि—प्रभा है अर्थात् चन्द्रसूर्य के कारण प्रभा रूप से उन दोनों में मैं ही स्थित हूँ। इसलिए उनके कारण एवं स्परूपभूत मुझमें दोनों प्रोत हैं अर्थात् केवल मेरी सत्ता के द्वारा ही सत्तायुक्त होकर मेरे आत्मभूत (स्वरूपभूत) होकर मुझमें ही विद्यमान हैं अतः मुझसे वे भिन्न नहीं हैं, यही अर्थ है सर्ववेदेषु—समस्त वेदों में अर्थात् ऋग्वेदादि में प्रणवः—मैं प्रणव हूँ अर्थात् ॐकार रूप से स्थित हूँ। प्रणवस्वरूप मुझमें अर्थात् वेदादि के अपने कारण मुझमें सम्पूर्ण वेद प्रोत हैं अर्थात् केवल मुझसे ही सत्ता प्राप्त होकर वेद सकल प्रणवरूप मुझमें स्थित हैं खे—आकाश में मैं शब्दः—शब्द हूँ अर्थात् आकाश के कारण शब्द रूप से मैं स्थित हूँ। अर्थात् आकाश का अपने कारणभूत शब्दस्वरूप मुझमें आकाश प्रोत है—एकमात्र मेरी ही सत्ता के द्वारा युक्त होकर मेरा स्वरूप प्राप्त होकर मुझमें स्थित है। नृषु—नर (मनुष्यों) में अर्थात् पुरुष में मैं पौरुषम्—पौरुष अर्थात् पुरुषभाव अथवा पुरुषलक्षण हूँ। जिसके द्वारा ये पुरुष हैं ऐसा ज्ञात होता है उक्त पौरुष स्वरूप मुझमें पुरुष प्रोत है—केवल मेरी सत्ता से युक्त होकर मुझ से अभिन्न होकर मुझमें स्थित है।

(३) नारायणी टीका—आध्यान अर्थात् मनन अथवा उपासना के

निमित्त ही भगवान् ऐसी विभूति का उपदेश दे रहे हैं। जल का सार है रस अर्थात् जल का कारण रसतन्मात्रा है; चन्द्र सूर्य का सार (कारण) प्रभा है; सर्ववेदों का सार (कारण) है प्रणव (अर्थात् प्रणव से ही) समस्त वेदों का आविर्भाव होने के कारण वेदसकल प्रणवस्वरूप है; और शब्दतन्मात्रा है आकाश का कारण किन्तु ये सभी मुझको ही अधिष्ठान कर माया के द्वारा रचित होता है अर्थात् मेरी सत्ता से ही ये सत्तावान् हैं एवं मेरे प्रकाश से ये प्रकाशित होते हैं मैं जल का रस हूँ, वेद का ॐकार, चन्द्रसूर्य की प्रभा एवं आकाश का शब्द हूँ। कार्य में कारण अनुस्यूत (व्याप्त) रहता है एवं कार्य कारण में प्रोत (ग्रथित) रहता है अतः ये सभी ही मुझमें ही ग्रथित होकर प्रकाशित हो रहे हैं। पुनः शौर्यधैर्यादि समस्त पुरुषत्व का आधार भी मैं ही हूँ—भिन्न भिन्न पुरुषों में जो उद्यमविशेष देखे जाते हैं वे मेरे ही असीम पुरुपत्व के अंश का विकास अथवा अभिव्यक्तिमात्र है इसलिए वे विशेष विशेष पुरुषत्व (उद्यम) सामान्य पुरुषत्वरूप मुझमें प्रोत (ग्रथित अथवा अनुगत) है। कहने का अभिप्राय यह है कि परमात्मा समस्त कारण के भी कारण है। इसलिए वे ही सर्वरूप से विराजित हैं एवं सब कुछ उनमें ही प्रोत हैं, अर्थात् परमात्मा सामान्य स्वरूप है, अतः उनमें ही समस्त विशेष पदार्थ प्रोत हैं। [७ वें श्लोक में जो कहा गया उससे ही ८–१२ श्लोकों में स्पष्ट किया जा रहा है]।

[पुनः—]

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

अन्वय—(अहं) पृथिव्यां च पुण्यः गन्धः विभावसौ तेजः च, सर्वभूतेषु जीवनम्, तपस्विषु च तपः (अस्मि)

अनुवाद—पृथ्वी में मैं पुण्य (पवित्र शुद्ध) गन्ध के रूप से, अग्नि में तेज के रूप से, सर्वभूतों में जीवन के रूप से एवं तपस्वियों में मैं तपः (तपस्या) के रूप से वर्तमान हूँ।

भाष्यदीपिका—अहं पृथिव्यां पुण्यः गन्धः—मैं पृथ्वी में पुण्य (शुद्ध) गन्ध रूप से अनुस्यूत हूँ। पुण्य गन्ध अर्थात् सुरभि (अविकृत) गन्ध सर्व पृथ्वीसामान्य रूप से गन्धतन्मात्रा नाम से प्रसिद्ध है। इस गन्धतन्मात्रा के रूप से मैं पृथ्वी में अनुस्यूत हूँ। पृथ्वी में जो गन्ध है उसकी पवित्रता स्वाभाविक है। पुण्य गन्धस्वरूप मुझमें (ईश्वर में) यह पृथ्वी प्रोत ग्रथित

है यही तात्पर्यार्थ है। 'पुण्य' शब्द का पूर्वश्लोक के रसादि के विशेषण के रूप से ग्रहण करना पड़ेगा ऐसा समझाने के लिए (उपलक्षणार्थ में) 'च' शब्द का प्रयोग हुआ है। पंच तन्मात्रा (अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) स्वभावतः पुण्य एवं अविकृत हैं। गन्धरसादि में जो अपुण्यत्व (अपवित्रता) दिखता है वह संसारी जीव की अविद्या (अज्ञान) एवं अधर्मादि के लिए एवं भूतविशेषों के संसर्गवशतः ही होता है (अर्थात् अज्ञानी भोक्ता के अधर्मजनक कर्म के अनुसार आकाशादि भूतविशेष के साथ संसर्ग युक्त होकर गन्ध, रसादि दूषित होकर कर्मफलभोग के हेतु होते हैं) परन्तु वे स्वभावतः अपुण्य नहीं है अतः 'पुण्य' शब्द के द्वारा सब तन्मात्राओं को [गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द तन्मात्राओं को विशेषरूप से सूचित किया जा रहा है।ये तन्मात्राएँ अपने स्वरूप में स्वतः ही पुण्य (पवित्र) हैं] **विभावसौ तेजः च**—अग्नि में मैं तेजः हूँ अर्थात् दीप्ति (प्रकाश) के रूप से विद्यमान हूँ। अग्नि में जो तेज है अर्थात् समस्त वस्तु को दाह तथा प्रकाश करने का सामर्थ्य है एवं जिस तेज में उष्ण स्पर्श है एवं जिसका रूप है शुक्ल तथा भास्वर मैं उस पुण्य तेज के रूप से विद्यमान हूँ। अतः तेजोरूप मुझमें समस्त अग्नि प्रोत है। [यहाँ 'च' शब्द के द्वारा वायु के शीतल स्पर्श को ग्रहण किया गया है अर्थात् ग्रीष्मसन्तप्त जीवका जो तृप्तिदायक शीतल स्पर्श वायु में है उस पुण्य (शुद्ध) शीतल स्पर्श रूप से भी मैं ही विद्यमान हूँ (मधुसूदन)]। **सर्वभूतेषु जीवनम्**—जिसके द्वारा प्राणिगण जीवन धारण करते हैं उसीको ही 'जीवन' कहा जाता है। सर्वप्राणियों में मैं जीवन के रूप से [अर्थात् अमृत नाम से प्रसिद्ध अन्नरसादि के रूप से (आनन्दगिरि) अथवा आयु के रूप से (श्रीधर)] विद्यमान हूँ अर्थात् उस जीवरूप मुझमें हीं समस्त जीव प्रोत हैं। **तपस्विषु च तपः**—तपस्वी शब्द के द्वारा वानप्रस्थी प्रभृति को समझाया जा रहा है एवं तपः (तपस्या) शब्द का अर्थ है कुछ चान्द्रायणादि व्रत, पंचाग्नियों में अवस्थिति एवं शीत-उष्ण, क्षुधा-तृष्णा, मान-अपमान प्रभृति द्वन्द्व सहन करने की सामर्थ्य, ऐसा जो तपः वानप्रस्थी प्रभृतियों में दिखता है वह भी मैं ही हूँ अर्थात् तपः रूप मुझमें तपस्विगण प्रोत (अनुस्यूत अथवा आश्रित है) [यहाँ 'च' शब्द का प्रयोग रहने के कारण चित्त की एकाग्रता रूप आन्तर तपस्या एवं जिह्वा, उपस्थ प्रभृति के निग्रहरूप (संयम रूप) जो बाह्य तपस्या (आहार संयम ब्रह्मचर्यपालन प्रभृति तपस्या) है वे गृहीत हुई। (मधुसूदन)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पुनः]—**पुण्यः गन्धः पृथिव्यां च**—मैं

ही पृथ्वी में पुण्य (विकाररहित) गन्ध अर्थात् पृथ्वी का आश्रय जो गन्ध तन्मात्रा है वह मैं ही हूँ। अथवा यहाँ विभूति के रूप से आश्रयत्व बताना उद्देश्य है अतः पुण्य (पवित्र) गन्ध भी उत्कृष्ट होने के कारण भगवान् की एक प्रकार की विभूति है। इसलिये 'पुण्य गन्ध' ऐसा कहा है। विभावसौ तेजः च अस्मि—विभावसु में अर्थात् अग्नि में जो तेज अर्थात् अग्नि के साथ उत्पन्न रहने वाली जो दीप्ति (प्रकाश) है वह भी मैं ही हूँ। सर्वभूतेषु जीवनम् (च अस्मि)—समस्त प्राणियों में जीवन अर्थात् प्राणधारण करने का कारण जो आयु है वह भी मैं ही हूँ। तपः च अस्मि तपस्विषु—वानप्रस्थ आदि तपस्वियों में जो द्वन्द्वसहनरूप तपः (तपस्या) दिखता है, वह भी मैं ही हूँ।

(२) शंकरानन्द—किंच 'पुण्यो गन्धः' इत्यादि।

पृथिव्यां च—पृथ्वी में भी मैं पुण्यो गन्धः—पुण्य गन्ध हूँ ('पुण्य' शब्द का अर्थ है मनोहर एवं शुद्ध) गन्ध का मनोहरत्व एवं शुद्धत्व का कथन (वर्णन) जल, आकाश आदि के कारणभूत रस, शब्द, आदि के उपलक्षण के लिये कहा गया। पृथ्वी आदि के कारण गन्ध, रस आदि पाँचों का वास्तव में जो मनोहरत्व तथा शुद्धत्व स्वरूप है, वह योगियों को प्रत्यक्ष है दुष्टत्व अर्थात् अमनोहरत्व एवं अशुद्धत्व भोक्ता के कर्मानुसार (पंचभूत के कार्यरूप) अन्य द्रव्य के संसर्ग से ही उत्पन्न होता है। वह दुष्टत्व स्वभावतः उसमें (गन्धादि पंचतन्मात्रा में) नहीं है। जो मनोहर तथा शुद्ध गन्ध है, उस रूप से मैं पृथ्वी में स्थित हूँ। पृथ्वी का अपने कारण गन्ध स्वरूप मुझमें पृथ्वी प्रोत है—गन्धात्मक मुझमें गन्धमयस्वरूप से वह (पृथ्वी) स्थित है यही अर्थ है।

विभावसौ च—विभावसु में (अग्नि में) भी तेजः अस्मि—मैं तेज हूँ अर्थात् अग्नि का अपना कारण तेजस्वरूप मुझमें अग्नि प्रोत है। मेरी सत्ता से तेजोमय होकर मुझसे अभिन्न अर्थात् (एक) होकर अर्थात् मेरे ही स्वरूप को प्राप्त होकर तेजःस्वरूप मुझमें अग्नि स्थित है। सर्वभूतेषु—सर्वभूतों में अर्थात् समस्त प्राणियों में जीवनम्—जीवन मैं ही हूँ। जीवन के रूप से अर्थात् जीवन का कारण अन्नादि के रूप से (भुक्त अन्न के रसरूप से) प्राणियों में मैं स्थित हूँ, इसलिए वे प्राणि अपने कारण अन्नरसस्वरूप मुझमें प्रोत है अर्थात् मेरी सत्तासे अन्नरसमय होकर अन्नरसात्मक मुझमें मुझसे अभिन्न रूपसे स्थित हैं। तपस्विषु—तपः अर्थात् कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि अथवा चित्त की एकाग्रता अथवा पंचाग्नियों के मध्यमें स्थिति इत्यादि जिनका है वे तपस्वी हैं। उन

तपस्वियों में मैं तपः अर्थात् तपोरूप से स्थित हूँ, इसलिए वे लोग तपोमय मुझमें प्रोत हैं। वे तपःस्वरूप होकर तपःस्वरूप मुझमें स्थित है अर्थात् वे मुझसे भिन्न नहीं है, यही अर्थ है। यदि शंका हो कि जिसप्रकार जल का कारण रस है उसप्रकार तपः तो तपस्वियों का कारण नहीं है किन्तु धर्म ही कारण है। तप का कारणत्व सिद्ध होने से ही तुममें कारणत्व है एवं उनमें (तपस्वियों में) कारणमात्रत्व सिद्ध हो सकता है किन्तु तप जब कारण नहीं है तब तुम कैसे कह सकते हो कि तपस्वियों में मैं तप हूँ ? (उत्तर) वह (शंका) युक्त (ठीक) नहीं है, क्योंकि स्वर्गादिरूप फल का जनक (उत्पत्तिकर्ता) होने के कारण धर्मरूप तप का भी कारणत्व का सम्भव होता है। इसलिए धार्मिको में जो स्वर्गादिरूप फल का हेतु धर्म है वह भी मैं ही हूँ। जिसप्रकार व्यवहार का हेतु धर्म से अविरुद्ध वक्ष्यमाण काम मैं हूँ, उसप्रकार धर्म भी मैं हूँ। इसलिए धार्मिक पुरुष धर्मस्वरूप मुझमें मुझसे अभिन्न रूपसे अवस्थान करते हैं। धर्ममात्र ही मेरा स्वरूप है एवं जो लोग धर्मी हैं वे लोग मेरे स्वरूप से अभिन्न हैं, यह समझाने के लिए तप भी मैं हूं, ऐसा कहा गया है। 'तपः' शब्द धर्म-मात्र का उपलक्षण है। यदि शंका हो कि कार्य तो कारणस्वरूप होता है क्योंकि घट आदि स्थलों में ऐसा ही देखा एवं सुना जाता है। परन्तु (अश्रुत एवं अदृष्ट) धर्मी की धर्माकारता एवं धर्म में धर्मीमात्र रूप से स्थिति कैसे हो सकती है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—जिसप्रकार अग्नि का धर्म दाहकत्व (अर्थात् दाहिका शक्ति) अग्नि को चारों ओर व्याप्त कर स्थित रहता है क्योंकि दाहकत्व अग्नि के चारों ओर पाया जाता है। उसके विना अग्नि का पृथक् स्वरूप नहीं है। इसलिए अग्नि का दाहशक्ति के आकार से एवं उसके स्वरूप से उसमें अवस्थान दिखाई देता है। ऐसा ही सर्वत्र समझना पड़ेगा।

(३) नारायणी टीका—कहने का अभिप्राय यह है कि विशेषण का अभाव होने से विशिष्ट और नहीं रह सकता है। गन्ध मैं ही हूँ अतः मैं यदि गन्ध के रूप से न रहूँ तो गन्धगुणविशिष्ट पृथ्वी नहीं रह सकती है। इस प्रकार मैं ही तेज हूँ, मैं ही जीवन (आयु) हूँ, मैं ही बाह्य तथा आन्तर तप हूँ, अतः तत्तद्गुण विशिष्ट अग्नि, प्राणीसकल, एवं तपस्विगण मुझमें ही प्रोत (ग्रथित अथवा आश्रित) रहते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि कार्य कारण में अनुस्यूत रहता है। अतः सर्वकारण मुझमें समस्त वस्तुएँ प्रोत हैं। प्रश्न है—तुम कह रहे हो 'पृथ्वी में पुण्य गन्ध मैं हूँ।' तो क्या इससे मानना पड़ेगा कि 'अपुण्य (अपवित्र) गन्ध तुमसे भिन्न है ? यदि भिन्न है तो तुम जो पहले कहे हो 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः' (७।६), 'मयि

सर्वमिदं प्रोतम्' (७/७) इत्यादि वाक्य कैसे सिद्ध हो सकते हैं। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि पृथ्वी की तन्मात्रा है पवित्रगन्ध। विकारप्राप्त न होने से गन्ध स्वभावतः सर्वदा ही पवित्र है, किन्तु अज्ञानवश जब प्राणी अपने स्वभाव (स्वधर्म) से च्युत होकर अधर्म-कर्म का अनुष्ठान करता है तब सूक्ष्मतन्मात्रारूप पंचीकृत महाभूत की सूक्ष्मावस्था (शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध) स्थूल भूतों में (आकाश, वायु, तेजः, जल तथा पृथ्वी के रूप में) परिणत होकर जीव के कर्म के अनुसार फल प्रदान करना शुरु करते हैं। अतः अधर्मादि की अपेक्षा कर भूतविशेषों का (आकाश, वायु इत्यादि का) परस्पर संमिश्रण होकर स्थूल भौतिक वस्तु की सृष्टि होने पर ही अपवित्र गन्धादि का अनुभव होता है किन्तु गन्धादि तन्मात्राओं में स्वभावतः अपुण्यत्व (अपवित्रता) नहीं है। यहाँ 'पुण्यगन्ध' शब्द पंच तन्मात्रा का उपलक्षण है, उसको उपलक्षित कर समझाया जा रहा है, अर्थात् मैं ही पृथ्वी में पुण्य गन्ध तन्मात्रारूप से, जल में पुण्य रसतन्मात्रा के रूप से, अग्नि आदि में पुण्य तेजतन्मात्रा के रूप से, वायु में पुण्यस्पर्शतन्मात्रा रूप से एवं आकाश में पुण्य शब्दतन्मात्रारूप से विद्यमान हूँ, यही कहने का अभिप्राय है। जब चित्त स्थूल वस्तु से निवृत्त होकर तन्मात्रा में समापत्ति (एकाग्रता) प्राप्त होता है। तब पुण्य गन्धादि का साक्षात् अनुभव होता है यह पातंजल योगशास्त्र में भी कहा गया है।

[अच्छा, समस्त भूतवर्ग अपने अपने बीजों में (स्व स्व कारण में) प्रोत रहता है किन्तु तुममें कैसे प्रोत रहता है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

अन्वयः—हे पार्थ ! मां सर्वभूतानां सनातनं बीजं विद्धि। अहं बुद्धिमतां बुद्धिः तेजस्विनां तेजः अस्मि।

अनुवाद—हे अर्जुन ! मुझको सर्वभूत के सनातन बीज जानो। मैं ही बुद्धिमानों की बुद्धि हूँ एवं तेजस्वियों का तेज हूँ।

भाष्यदीपिका—हे पार्थ !-हे अर्जुन ! तुम्हारी माता पृथा (कुन्ती भी) मुझको ही सभी के बीज एवं मैं ही सब हूँ, इसप्रकार निश्चित कर मुझमें ही शरणागत हुई थी। तुम भी ऐसा होओगे इसमें कोई सन्देह नहीं है—यही सूचित करने के लिए 'पार्थ' कहकर सम्बोधन किया। मां-[मुझ परमात्मा को] सर्वभूतानाम्—स्थावर जंगमात्मक समस्त भूतवर्गों के—ब्रह्मा से स्तम्ब तक

इस चराचर दृश्यमान जागतिक सकल पदार्थों का **सनातनं वीजं विद्धि**—चिरन्तन (पुरातन अथच नित्य) वीज (उत्पत्ति का मूल कारण) जानो जिनका अन्य कोई बीज अथवा कारण नित्य नहीं है परन्तु स्वयं समस्त वस्तु का नित्य कारण है उनको सनातन बीज कहा जाता है। यदि 'मुझको सर्वभूत का बीज ही जानो' ऐसा ही कहा जाता तो प्रश्न हो सकता है—'अच्छा, जिस-प्रकार सर्वभूतों की उत्पत्ति के लिए कोई न कोई बीज की अपेक्षा रहती है उसप्रकार तुम्हारा भी कारण (उत्पत्ति का बीज) दूसरा कुछ होगा किन्तु तब अन्य बीज से तुम्हारी विशिष्टता क्या रहेगी ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि नहीं श्रुति में कहा गया है 'सा काष्ठा सा परागतिः' अर्थात् वही (परमात्मा ही) काष्ठा (शेष) है, वही परागति है, 'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः' अर्थात् विश्व से (सबसे) इन्द्र (परमेश्वर) पूर्वतम है, 'न तस्य कश्चिज्जनिता' अर्थात् उनका कोई उत्पादनकारी (जनक) नहीं है। इसके द्वारा ही प्रमाणित होता है कि मैं (परमेश्वर) सबसे प्राचीन हूँ एवं सबका आदि कारण हूँ—मेरा अन्य कोई कारण नहीं है। इसलिए भगवान् ने यहाँ कहा—"मैं ही सनातन बीज हूँ" अर्थात् सभी के आदि (पूर्वतम) बीज हूँ किन्तु स्वयं बीजान्तरानपेक्ष (अर्थात् निष्कारण, नित्य, शाश्वत) हूँ। जा अन्य किसी बीज की अपेक्षा नहीं रखता है अर्थात् अन्य किसी कारण से उत्पन्न नहीं होता है किन्तु स्वयं प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ का समरूप से कारण होता है वह सनातन बीज मैं ही हूँ, ऐसा जानो। अतः सभी के बीजस्वरूप एकमात्र मुझमें ही समस्त वस्तु प्रोत है यही कहने का अभिप्राय है। 'सनातनं बीजम्' इत्यादि के द्वारा मत्तः परतरम् नान्यत् किंचिदस्ति' 'मयि सर्वमिदं प्रोतम्' इत्यादि पूर्ववर्ती ७ वें श्लोक में जो कहा था वह ही अब सिद्ध कर रहे हैं। **अहं बुद्धिमतां बुद्धिः**—बुद्धि शब्द का अर्थ है अन्तःकरण की विवेकशक्ति अर्थात् अनात्म वस्तुसे आत्मतत्त्वका विवेक (पार्थक्य) निर्धारण करने की शक्ति।

[जिसके द्वारा चैतन्यस्वरूप परमात्मा की अभिव्यक्ति (प्रकाश) होती है उस तत्त्वनिश्चय करने की सामर्थ्य को 'बुद्धि' कहा जाता है। (आनन्दगिरि)]। मैं ही (परमेश्वर ही) बुद्धिमानों की अर्थात् विवेक शक्ति (बुद्धिमान व्यक्तियों के अन्तःकरण की विवेकशक्ति हूँ। विवेकी पुरुषों में जो विवेकशक्तिरूप बुद्धि है वह मैं अर्थात् बुद्धि स्वरूप मुझमें ही समस्त बुद्धिमत् पदार्थ प्रोत है। मैं बुद्धिस्वरूप हूँ इसलिए ही वे लोग बुद्धिमान हैं। ऐसा नहीं होने से उनकी बुद्धिमत्ता ही नहीं रह सकती है क्योंकि विशेषण के अभाव से विशिष्ट पदार्थ का अर्थात् विशेष्य का भी अभाव सिद्ध होता है।

तेजस्विनां तेजः अस्मि—तेजस्वी (प्रागल्भ्यशाली) व्यक्तियों के तेज अर्थात् प्रगल्भता, वह भी मैं ही हूँ। तेजोरूप मुझमें ही समस्त तेजस्विगण प्रोत (अनुस्यूत) है। [तेजः शब्द का अर्थ है प्रागल्भ्य अर्थात् परको अभिभूत (पराजित) करने की सामर्थ्य एवं दूसरों के द्वारा अभिभूत न होने की शक्ति (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पुनः—] सर्वभूतानां सनातनं बीजम्—मुझे ही समस्त चराचर भूतवर्ग (प्राणियों) का बीज जानो। स्वजातीय कार्योत्पादन करने का जो सनातन (नित्य) सामर्थ्य उत्तरोत्तर सर्वकार्यों में व्याप्त (अनुस्यूत) रहती है वही (सनातन) बीज है अर्थात् उसको ही सनातन बीज कहा जाता है। उस बीज को मेरी विभूति समझो। [प्रत्येक व्यक्ति में जो विनाशशील सामर्थ्य है वह सनातन बीज नहीं है]। [साधारण बीज अंकुरोत्पादन करके ही स्वयं विनष्ट हो जाता है किन्तु मुझसे किसी की उत्पत्ति होने पर मेरा नाश या विकार नहीं होता है। इसलिए मुझको सनातन (नित्य) बीज कहा जाता है]। बुद्धिमतां बुद्धिः अस्मि—बुद्धिमानों की बुद्धि (प्रज्ञा) मैं हूँ तथा तेजस्विनां तेजः अस्मि—तेजस्वी अर्थात् साहसी एवं प्रभावशाली (प्रगल्भ) पुरुषों का तेज अर्थात् साहस एवं प्रभाव भी मैं हूँ।

(२) शंकरानंद—यदि शंका हो कि 'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' ('आकाश से वायु, वायु से अग्नि') इत्यादि द्वारा पूर्व-पूर्व में कारणत्व एवं उत्तरोत्तर में कार्यत्व सुना जाता है, इसलिए तत्तत् (उस उस) कारण में तत्तत् (उस उस) कार्य प्रोत हो सकता है, परन्तु तुम्हारी कारणता कहीं भी सुनी नहीं गई है। इस अवस्था में तुम में जल आदि प्रोत है, यह किस प्रकार से कहा जाता है? इस प्रकार की शंका युक्त (ठीक) नहीं होती, क्योंकि 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' ('आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ') इस वाक्य के द्वारा 'आत्मा' शब्द के वाच्य ईश्वर स्वरूप मुझसे ही आकाश की उत्पत्ति हुई है, इस प्रकार सुना जाता है। अतः मैं ही (परमेश्वर ही) सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का परम कारण हूँ, यही अब स्पष्ट कर रहे हैं-माम्-मुझको अर्थात् स्वयं ईश्वर को सर्व—सभी अर्थात् आकाश आदि सभी भूतानाम्—भूतसमूह का बीजम्—आविर्भाव का कारण विद्धि—जानो अर्थात् समझो। जिस प्रकार भूतसमूह का कारण तुम हो, उसी प्रकार तुम्हारा भी अन्य कोई कारण है। इस प्रकार की आशंका होने पर 'सा काष्ठा सा परागतिः (वही काष्ठा है, वही परागति है) विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः [विश्व से (सबसे) इन्द्र (परमात्मा) पूर्वतन अर्थात् परमात्मा विश्व का (सभी का) आदि है]

एवं 'न तस्य कश्चिज्जनिता' (उनके कोई जन्मदाता नहीं हैं) इन सब श्रुतियों के द्वारा मैं ही सर्व प्राचीन एवं सभी का आदि कारण हूँ, मेरा दूसरा कोई कारण नहीं है, यह अब भगवान् कह रहे हैं—सनातनम्—मैं सनातन हूँ अर्थात् सभी का पूर्व (प्रथम) हूँ अर्थात् मैं स्वयं निष्कारण हू (मेरा कोई कारण नहीं है)। इसलिए 'मुझसे परतर (श्रेष्ठ) नहीं है एवं 'मुझ में सभी प्रोत हैं' इत्यादि जो पहले कहा जा चुका है वह सिद्ध हुआ। इसके द्वारा यद्यपि अपने को ही (भगवान् को ही) सर्व कारणत्व एव सभी में भगवत् स्वरूपत्व प्रतिपादित हुआ, तथापि बुद्धि आदि भी आत्मा का ही प्रकाश है यह समझाने के लिए 'तद्वानों में तत्कारणत्व एवं तन्मात्रत्व' रहते हैं, यह कह रहे हैं।

बुद्धिमताम्—बुद्धि के द्वारा युक्त मनुष्यों में बुद्धिः—आत्मा एवं अनात्मा तथा धर्म एवं अधर्म आदि जिसके द्वारा जाना जाता है वह बुद्धि अर्थात् प्रज्ञा उस प्रज्ञा अहम् अस्मि–मैं ही हुआ करता हूँ। अर्थात् बुद्धिस्वरूप मुझमें वे लोग (बुद्धिमान् व्यक्तिगण) प्रोत होकर मेरे स्वरूप से अभिन्नरूपसे मुझमें स्थित हैं। तेजः तेजस्विनाम् अहम्–तेज अर्थात् प्रागल्भ्य (प्रगल्भता)। तेज (क) चेतन का धर्म है (ख) वह आत्मप्रकाश की अनुकूल प्रवृत्ति का हेतु होता है (ग) दूसरों से वह अधृष्य (वशीभूत अर्थात् दबनेवाला) नहीं है किन्तु (घ) अन्य का धर्षक होता है (अन्य को वशीभूत करनेवाला अथवा दबानेवाला होता है)। मैं ही वह तेज हूँ अर्थात् तेजयुक्त पुरुषों में मैं ही तेजोरूप कारण हूँ अतः तेजः स्वरूप मुझमें प्रोत होकर वे लोग (तेजस्वीगण) मुझसे अभिन्न रूपसे मुझमें ही स्थित रहते हैं।

(३) **नारायणी टीका—सर्वभूतानां सनातनं बीजं मां विद्धि—** मुझको सर्वभूत का सनातन (नित्य एवं प्राचीनतम) बीज (उत्पत्ति के कारण) जानो। प्रश्न होगा (क) भौतिक सभी पदार्थ ही अपने-अपने स्वतन्त्र बीज से ही उत्पन्न होता है। अतः तुम सर्वभूत का बीज किस प्रकार से होते हो ? (ख) भौतिक जगत् में अङ्कुर उत्पन्न होने से बीज नष्ट हो जाता है, किन्तु जगत् की अनन्त वस्तु की अहरहः (प्रत्येक समय) उत्पत्ति हो रही है, किन्तु जिस प्रकार के तुम अविनाशी हो उस प्रकार अविनाशी (अविकारी) ही रह जाते हो, यह किस प्रकार से सम्भव है ? (उत्तर)—(क) जगत् मेरी ही माया के द्वारा (कल्पनाशक्ति द्वारा) सृष्ट होता है। स्वप्नकाल में जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा का मन ही संकल्प द्वारा अनेक नाम, रूप और क्रियारूप से प्रतीयमान होते हैं—जब तक स्वप्न देखा जाता है तब तक ही

जड़ पर्वतादि एवं चेतन, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मनुष्यादि एवं उनलोगों की नानाविध क्रिया देखी जाती है, किन्तु स्वप्नभंग होने पर जिस प्रकार मूल में वही एक मन ही रह जाता है एवं अन्य सब कुछ ही स्वप्नद्रष्टा के मन में लय हो जाता है, उस प्रकार मैं भी स्वरूप में सर्वदा एक रहकर भी आत्म-माया द्वारा (मेरी स्वतः सिद्ध कल्पनाशक्ति द्वारा) अनेक रूप से प्रतीयमान होता हूँ। स्वप्नदृश्य जिस प्रकार मिथ्या है, यह सृष्टिवैचित्र्य भी उस प्रकार ही मिथ्या है। तथापि जब तक अज्ञानवश जागतिक वस्तु का परस्पर व्यवहार चलता रहता है, तब तक इन के मूल में नित्य, सत्य, सनातन, द्रष्टा एकमात्र मैं ही विद्यमान हूँ यह स्वीकार करना हो पड़ेगा। यह जगत्-चित्र मेरी माया शक्ति की ही अनन्त स्फुरण (प्रकाश) है, किन्तु शक्ति शक्तिमान से अभिन्न है। अतः मैं सर्वभूत का सनातन (आदि एवं नित्य) बीज हूँ। (ख) स्थूल बीज से अङ्कुर उत्पन्न होने से बीज नष्ट हो जाता है, यह सत्य है। किन्तु पहले ही कहा जा चुका है। मायारचित जगत् का सब कुछ ही काल्पनिक अर्थात् मिथ्या है। मिथ्यास्वप्नदृश्य की उत्पत्ति, स्थिति या विनाश से जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा को कोई हानि लाभ नहीं होता है—स्वाप्निक सभी अवस्थाओं में ही वह एकरूप ही रहता है एवं अन्त में स्वप्न दृश्य नष्ट हो जाने पर भी उसके बीजरूप स्वप्न द्रष्टा किसी प्रकार का जिस प्रकार का विनाश नहीं होता, उसी प्रकार यह मिथ्या ब्रह्माण्ड मुझसे ही (परमेश्वर से ही) उत्पन्न होने पर भी वह वृक्ष के समान नष्ट हो जाता है किन्तु बीजरूप मेरी कोई हानि (विनाश) या वृद्धि नहीं होती है। अतः अधिष्ठानरूप से भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान सर्ववस्तु का सनातन (अविनाशी, नित्य) बीज (कारण) मैं ही हूँ। बुद्धिः बुद्धिमताम् इत्यादि--जिस प्रकार मैं सभी भूतों का सनातन कारण हूँ, उसी प्रकार जिस बुद्धि द्वारा बुद्धिमान् व्यक्तिगण हिताहित, शुभाशुभ विचार करते हैं, उस बुद्धिरूप से मैं ही विद्यमान रहता हूँ एवं जिस तेज द्वारा (प्रागल्भ्य द्वारा) तेजस्वी व्यक्ति अन्य को पराभूत करते हैं परन्तु अपने अन्य के द्वारा पराभूत नहीं होते वह तेज भी मैं ही हूँ। इस प्रकार से सर्वभूत का बीज (विशेष विशेष उत्पत्ति के कारण), बुद्धिमान् व्यक्तियों की बुद्धि एवं तेजस्विगण का तेज—सभी मेरी ही विभूति हैं। एवं इस कारण से सर्वभूत एवं सभी बुद्धिमान् एवं तेजस्वी पुरुष मुझमें ही प्रोत हैं।

[फिर—]

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे भरतर्षभ ! अहं बलवतां च कामरागविवर्जितं बलं (अस्मि); भूतेषु धर्माविरुद्धः कामः अस्मि ।

अनुवाद—हे भरतश्रेष्ठ ! मैं ही बलवानों के काम और रागवर्जित बल (सामर्थ्य) हूँ; मैं ही सभी प्राणियों में धर्माविरुद्ध (धर्मानुकूल) कामरूप से विद्यमान हूँ ।

भाष्यदीपिका—हे भरतर्षभ—हे भरतकुलश्रेष्ठ अर्जुन ! [तुमने महाधार्मिक एवं पवित्र भरत राजा के कुल में जन्म ग्रहण किया है । अतः तुम अनायास ही समझ सकोगे कि काम तथा रागशून्य बल एवं धर्माविरुद्ध (धर्म के अनुकूल) काम मैं किस प्रकार से हो सकता हूँ । यही सूचित करने के लिये ही यहाँ 'भरतर्षभ' शब्द से सम्बोधन किया गया है ।] अहं बलवतां काम-रागविवर्जितं बलम्—'बल' शब्द का अर्थ है ओजः (सामर्थ्य) । मैं (परमेश्वर) बलवान् व्यक्तियों के बल अर्थात् ओजः रूप से (सामर्थ्य रूप से) विद्यमान हूं । वह बल किस प्रकार का है ? उत्तर में कह रहे हैं—वह 'कामरागविवर्जित' है । असंन्निकृष्ट किन्तु प्रिय (अर्थात् अप्राप्त प्रिय वस्तु को) प्राप्त करने के लिये जो तृष्णारूप (अभिलाषरूप) चित्तवृत्तिविशेष उत्पन्न होता है उसको काम कहा जाता है और सन्निकृष्ट (सम्मुख में स्थित अर्थात् प्राप्त) विषयसमूह में जो भोगवासना या रञ्जनात्मक वृत्तिविशेष (अर्थात् प्रीति या तन्मयता) उत्पन्न होती है उसका नाम राग है । उन काम एवं राग से जो विशेषरूप से वर्जित है अर्थात् जो उक्त प्रकार के काम और राग की उत्पत्ति का हेतु नहीं होता है, तादृश्य रजः और तमः रहित सात्त्विक बल को (जिसके द्वारा केवल स्वधर्म पालन करने के उपयोगी देह और इन्द्रियादि को धारण करने की सामर्थ्य रहती है, उस प्रकार के बल को) कामरागविवर्जित बल कहा जाता है । अर्थात् सांसारिक अप्राप्त विषय के प्रति तृष्णा एवं प्राप्त विषय में आसक्ति जिन्हें नहीं है उन काम व रागरहित व्यक्तिगण का सात्त्विक बल मैं ही हूँ । कामरागशून्य बलरूप से अवस्थित मुझमें ही बलवान व्यक्तिगण प्रोत (आश्रित) होकर रहते हैं, यही कहने का अभिप्राय है । श्लोक में 'च' शब्द 'तु' (किन्तु) के अर्थ में व्यवहृत हुआ है । कामरागविरहित बल को ही मेरा रूप समझकर ध्यान करना चाहिए, किन्तु सांसारिक जीवों का काम (तृष्णा) एवं राग का (आसक्ति का) कारण स्वरूप जो बल है अथवा काम-क्रोधादि के वेग से समुत्पन्न मन का और इन्द्रियों का जो बल है वह मेरे विभूतिरूप से ध्येय नहीं है यही 'च' शब्द द्वारा सूचित किया जा रहा है ।

[आनन्दगिरि तथा मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार 'राग' शब्द की

क्रोधार्थकरूप से भी व्याख्या की जा सकती है अर्थात् कामना तथा क्रोधशून्य जो बल है वही मेरा स्वरूप है।] भूतेषु धर्माविरुद्धः कामः अस्मि—भूतों में अर्थात् प्राणियों में जो धर्मशास्त्र से अविरुद्ध (धर्मशास्त्रानुमोदित) जो काम (कामना) है अर्थात् केवल देहधारण के लिये आहारपानादि की इच्छारूप काम मैं ही हूँ। [धर्म कहने से यहाँ धर्मशास्त्र समझा जाता है। धर्मशास्त्र का अविरुद्ध जो काम होता है (धर्मशास्त्र के अनुशासन के अनुसार स्त्री, पुत्र एवं वित्तप्रभृति के विषय में जो अभिलाषा अथवा इच्छा होती है) वह भी मैं ही हूँ। इस प्रकार शास्त्र से अविरुद्ध जो काम है उस काम रूप मुझमें शास्त्रानुकूल कामनायुक्त प्राणिगण प्रोत (आश्रित) हैं। (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पुनः] हे पार्थ कामरागविवर्जितं बलवतां बलं च अहम्—अप्राप्तवस्तु के लिए अभिलाषा को काम कहा जाता है। काम राजस (रजोगुण से उत्पन्न) होता है। और अभिलषित विषय के प्राप्त होने से भी 'यह वस्तु मेरी और अधिक हो' इस प्रकार उस वस्तु के लिए जो चित्तरंजनरूप (मनोरम चित्तवृत्ति विशेषरूप) तृष्णा उत्पन्न होती है उसको राग कहा जाता है। यह राग तामस (अर्थात् तामसी वृत्ति से उत्पन्न) होता है। इस प्रकार काम तथा राग (अर्थात् राजस एवं तामस वृत्ति) रहित जो बल बलवानों में देखा जाता है, वह मैं ही हूँ। कहने का अभिप्राय यह है कि स्वधर्मानुष्ठानका सामर्थ्यरूप जो सात्त्विकबल है वह मैं हूँ। धर्माविरुद्धः भूतेषु कामः अहम् अस्मि—जो स्वधर्म से विरुद्ध नहीं है ऐसा स्वपत्नी में केवल सन्तान उत्पत्ति मात्र में उपयोगी जो काम है वह मैं हूँ।

शंकरानन्द—कामरागविवर्जितम्—(कामरागविवर्जित)। सन्निकृष्ट विषय की अपेक्षा प्रकृष्ट (दूर के) विषय के लिए प्रवृत्ति के हेतु को (अर्थात् प्राप्त विषय से अन्य कोई उत्कृष्ट विषय लाभ करने के लिए जो प्रवृत्ति होती है उसके कारण को) काम कहा जाता है। 'राग' अप्राप्त विषय की आशा करने से जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है उसके हेतु को राग कहा जाता है। इस काम तथा राग से जो रहित होता है उसको 'कामरागविवर्जित' कहा जाता है। क्रोध जो मन तथा इन्द्रियो के बल काम, क्रोध आदि के वेग से उत्पन्न होता है उससे भिन्न शरीर मात्र जिसका आश्रय है एवं केवल देहयात्रा मात्र में जो बल उपयोगी (अनुकूल) है वह बलम्—बल अहं—मैं ही हूँ। उक्त बल-सम्पन्न पुरुषगण अपने कारण में अर्थात् बलात्मक मुझमें प्रोत रहकर मेरे साथ एक होकर मेरे स्वरूप से मुझमे स्थित हैं। यदि शंका हो कि 'काममय एवायं पुरुषः' ('यह पुरुष काममय ही है') इत्यादि श्रुतिवाक्य से यह सुना

जाता है कि पुरुष के सभी व्यापार के (कार्य के) मूल में काम (वासना) रहता है एवं यह प्रत्यक्ष भी है अतः काम तथा राग के अभाव से पुरुष की देहयात्रा अथवा स्वधर्म किस प्रकार से सिद्ध होंगे ऐसी आकांक्षा होने से इसके उत्तर में कह रहे हैं।

भूतेषु—भूतों में (अर्थात् वर्णाश्रमियों में)

धर्माविरुद्धः— धर्म से अविरुद्ध—शास्त्रीय धर्म से अविरुद्ध एवं जो स्व स्व आश्रमधर्म का साधक है एवं जो साधक अर्थात् उत्पथ का (भ्रष्ट मार्ग का) हेतु नहीं होता है वह कामः—काम अस्मि—मैं हूँ अर्थात् प्राणियों में उस काम के रूप में मैं ही स्थित रहता हूँ। उन लोगों का कारण कामात्मक मुझमें वे लोग (कामीपुरुषगण) प्रोत होकर मुझमें मेरे स्वरूप के साथ एक होकर ऐसे स्थिर रहते हैं जिस प्रकार घट मृत्तिका में स्थित रहता है अर्थात् स्वरूप की दृष्टि से वे लोग मुझसे भिन्न (पृथक्) नहीं हैं, यही अर्थ है। प्राणियों में अवस्थित बल तथा काम (जो समस्त चेष्टाओं का हेतु होता है वह) चेतन के धर्म होने के कारण आत्मा के द्वारा ही प्रकाश्य होता है, ऐसा समझना चाहिए।

(३) नारायणी टीका—कामरागविवर्जितम् इत्यादि—'भगवान् ही सब कुछ है' यह पुनः पुनः इस अध्याय में एवं गीता से अन्यत्र कहा गया है। अतः काम तथा राग भी जब वे ही हैं तो यहाँ 'कामरागविवर्जित' शब्द प्रयोग करने का तात्पर्य क्या है ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि अग्नि के द्वारा काष्ट दग्ध होने पर भस्म हो जाने से जिस प्रकार वह भस्म ही अग्नि की दाहिकाशक्ति तथा प्रकाश को आवृत कर देता है उस प्रकार काम (अप्राप्तविषय में तृष्णा) तथा राग (प्राप्त विषय में आसक्ति) ये दोनों चित्तवृत्ति विशेष भी भगवान् को ही आश्रय (अधिष्ठान) कर उत्पन्न होने पर भी भगवान् रूपी आत्मा के स्वरूप को आवृत कर मनुष्य को संसारकूप में निमग्न कर देते हैं जो भगवान् से चित्तको विमुख कर विपरीत संसारगति में चित्तको प्रवृत्त करा देता है वह कभी भी भगवान् की विशेष विभूति नहीं हो सकती है। जो उनकी सत्ताका प्रकाश करने के लिए अत्यन्त सहायक है वही उनकी विभूति है, यही इन श्लोकों में कहा गया है। 'बलवान पुरुषों का कामरागविवर्जित जो बल है वह मैं हूँ' इसका तात्पर्य यह है कि सांसारिक वस्तु प्राप्ति के लिए जो काम (वासना) साधारण मनुष्यों में रहती है उसकी तृप्ति के लिए भी बल की (चेष्टा की) आवश्यकता होती है एवं प्राप्तवस्तु के प्रति राग (आसक्ति) रहने के कारण उस वस्तु की रक्षा करने के लिए बल

(चेष्टा) की आवश्यकता रहती है। किन्तु वह बल मन की भगवदभिमुखी सात्त्विकी वृत्ति को (जिसके द्वारा भगवत्प्राप्ति हो सकती है उसको) जाग्रत होते न देखकर संसार में लिप्त कर महाशत्रु के सदृश कार्य करता है, क्योंकि उस प्रकार का बल क्रमशः मनुष्यजीवन का परमपुरुषार्थ प्राप्ति के लिए (मोक्षप्राप्ति के लिए) जो आन्तरिक बल की आवश्यकता होती है, उस बल को नाश कर देता है। आत्मा में मन को एकाग्र करना (चित्तवृत्ति निरोध करना अति उत्कृष्ट आभ्यन्तरिक बल के विना सम्भव नहीं है। इसलिए श्रुति में कहा गया है 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' अर्थात् इस आत्माको बलहीन व्यक्ति कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता है। अत एव सर्वबलों का आधार एवं सर्व कामों का पूर्ण करने वाला नित्य, सत्य पूर्णानन्दस्वरूप भगवान को प्राप्त करने के अनुकूल जो सात्त्विक बल बलशाली पुरुषों में देखा जाता है वही यथार्थ बल है क्योंकि वह बल अविनाशी, अजर, अमर, अनन्त सत्ता में पहुँचा देता है और कामरागयुक्त सांसारिक व्यक्ति का जो बल है वह विनाश, जन्ममृत्यु तथा क्षुद्रत्व की और ले जाता है। इसलिए कामराग-विवर्जित बल भगवान का ही स्वरूप है।

भूतेषु धर्माविरुद्धः कामः अहम् अस्मि—जो धारण करता है उसको धर्म कहा जाता है। भगवान् ही शाश्वतधर्म है क्योंकि सब कुछ वे ही धारण किये हुए हैं—इसे श्रीभगवान् स्वमुख से बाद में स्पष्ट करेंगे (गीता १४।२७) 'भगवान् को प्राप्त करूंगा' यह भी काम (वासना) ही है किन्तु यह काम उस शाश्वतधर्मस्वरूप भगवान् में ही केन्द्रीभूत रहता है, इसलिए वह धर्म के अनुकूल है (विषय कामना के सदृश वह भगवत् प्राप्ति के विरुद्ध अथवा प्रतिकूल नहीं है)। इसलिए वह काम भी भगवत्स्वरूप ही है। अथवा धर्म अर्थात् धर्मशास्त्र के अविरुद्ध (धर्मशास्त्र के द्वारा अनुमोदित) काम (वासना) पूर्ण करने के लिए गृहस्थ को जो कर्म करना पड़ता है (यथा अतिथि सेवा, ऋतु काल में स्त्रीगमन, पंचमहायज्ञादि का अनुष्ठान, इत्यादि) उनका अनुष्ठान करने से (एवं विशेषतः उन कर्मों को भगवदर्पण बुद्धि से करने पर) वे कर्म चित्तशुद्धि का सहायक होकर तत्त्वज्ञान प्राप्ति (भगवत् प्राप्ति) का साधन होते हैं। प्राणीमात्र ही जो कुछ करता है (वह शास्त्र-विरुद्ध हो याँ शास्त्रानुकूल हो) उसके मूल में रहता है काम (वासना) अतः जो काम एवं कामजनित चेष्टाएँ भगवान् को अन्तर हृदय में प्रकट करने में सहायक होते हैं (अर्थात् आत्मसाक्षात्कार का साधन होते हैं) वह भी भगवत्स्वरूप ही हैं, यही कहने का अभिप्राय है।

[भगवान् की विशेष विशेष विभूति पूर्ववर्ती कुछ श्लोकों में वर्णन कर अब भगवान् कह रहे हैं कि सब कुछ मुझसे उत्पन्न होते हैं एवं सब कुछ मुझमें ही स्थित रहते हैं। इस कारण से ही छठे श्लोक में 'कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ऐसा कहा गया है]।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

अन्वयः—ये च एव सात्त्विकाः भावाः ये राजसाः ये च तामसाः (भावाः) तान् सर्वान् मत्तः एव इति विद्धि, अहं तेषु न, ते तु मयि (वर्त्तन्ते)।

अनुवाद—जो सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भाव (जीवों के कर्म-वश हैं) उत्पन्न होते हैं वे सभी मुझसे ही उद्भूत (उत्पन्न) होते हैं, ऐसा जानना; किन्तु मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ (अर्थात् संसारी लोगों के सदृश उनके अधीन नहीं हूँ) परन्तु वे मुझमें ही अवस्थित हैं (अर्थात् वे मेरे अधीन हैं)।

भाष्यदीपिका—ये च एव सात्त्विकाः भावाः—जो समस्त सात्त्विक (सत्त्वगुण से उत्पन्न अर्थात् सत्त्वगुण प्रधान) भाव अर्थात् पदार्थ हैं [अथवा भावशब्द का अर्थ है चित्त का परिणाम (मधुसूदन)] यथा शम, दम, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्यादि अथवा देव, ऋषि, ब्राह्मण इत्यादि।

ये राजसाः—जो समस्त राजस (रजोगुण से उत्पन्न) भाव (पदार्थ) हैं अर्थात् हर्ष, दर्प, लोभ प्रवृत्ति आदि एवं गन्धर्व, यक्ष, क्षत्रिय मिर्च आदि जो समस्त राजस (रजोगुण प्रधान) पदार्थ हैं—ये च तामसाः—शोक, मोह, निद्रा, आलस्यादि एवं राक्षस, शूद्र, लहसून आदि जो समस्त तामस (तमोगुण से उत्पन्न अर्थात् तमःप्रधान) भाव (पदार्थ) हैं। तान् सर्वान् मत्तः एव इति विद्धि—वे सभी अर्थात् प्राणिगण स्व स्व कर्मवश इस जगत् में सात्त्विक, राजसिक जो कुछ भाव (पदार्थ) प्राप्त होते हैं वे सभी मुझसे ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा जानो 'एव' शब्द अवधारण के अर्थ में (निश्चयार्थ में) व्यवहृत हुआ है अर्थात् सब कुछ ही मुझसे ही उत्पन्न होता है—मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई मूल उत्पत्ति का कारण नहीं है इसे निश्चय रूप से कहने के लिए 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है। [जगत् की सभी वस्तु ही सत्त्व, रज तथा तमोगुण से उत्पन्न होती हैं किन्तु चूँकि ये सभी (जड़) गुण चैतन्यस्वरूप मुझको (परमेश्वर को) आश्रय करके ही परिणाम प्राप्त

होती हैं उस कारण सभी पदार्थ मुझसे ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा निश्चय-रूप से जानो, यही कहने का अभिप्राय है। किन्तु ऐसा होने से भी अर्थात् सब कुछ मुझसे उत्पन्न होने पर भी एवं मुझमें अवस्थित रहने से भी अहं तेषु न, ते तु मयि (वर्त्तन्ते)—मैं उनमें अवस्थित हूँ (संसारी व्यक्तियों के सदृश उनके अधीन) नहीं हूँ किन्तु वे मुझमें अवस्थित रहते हैं (अर्थात् वे मेरे अधीन रहते हैं—मेरे वश में रहते हैं)। कल्पित सर्प ही रज्जुखंड में अवस्थित रहता है, रज्जु से ही उत्पन्न होता है एवं रज्जु में ही लय होता है; अतः सर्वावस्था में एवं सर्वप्रकार से रज्जु के ही वश में (अधीन में) रहता है किन्तु रज्जु कल्पितसर्प में अवस्थित नहीं होती है अथवा उस सर्प का किसी प्रकार से अधीन नहीं होता है अर्थात् सर्प के गुण अथवा दोष के द्वारा रज्जु लिप्त नहीं होता है। उसी प्रकार समस्त प्रपंच माया के द्वारा—मुझसे (मुझको आश्रय कर) उत्पन्न (अध्यस्त) होने से भी चूँकि मैं परमार्थ सद्वस्तु हूँ उस कारण संसारी जीव के सदृश कल्पित प्रपंच की किसी वस्तु में अवस्थित नहीं हूँ (उसके अधीन अथवा वशीभूत नहीं रहता हूँ अर्थात् प्रपंच का दोष अथवा गुण मुझको स्पर्श नहीं कर सकता है) किन्तु रज्जु में सर्प के समान वे पदार्थ मुझमें ही प्रतिष्ठित रहते हैं अर्थात् मेरी सत्ता के अधीन रहकर सत् प्रतीत होते हैं एवं मेरे प्रकाश अथवा स्फुरण के अधीन होकर प्रकाशित होते हैं। मेरे बिना उनका कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि त्रिगुणमयी माया के द्वारा सृष्ट होने के कारण वे सभी ही रज्जु में सर्प के सदृश मुझमें ही कल्पित रहते हैं। अधिष्ठान सत्ता से कल्पित मिथ्या वस्तु की दूसरी कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती है अतः वे सभी ही मुझमें अवस्थित रहती हैं (मेरे ही अधीन रहती हैं) किन्तु मैं (असंग, निर्लेप आत्मा) उनमें नहीं रहता हूँ अर्थात् मैं समस्त विकारशील पदार्थों का अधिष्ठान होकर भी सदा ही अपने नित्य, सत्य, अविकारी, पूर्णानन्द स्वरूप में अवस्थान करता हूँ।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—[पुनः—] ये चैव सात्त्विकाः भावाः इत्यादि—अन्य जो शमदमादि सात्त्विकभाव, हर्ष-अभिमान आदि राजस-भाव एवं शोक मोहादि तामसभाव प्राणियों में स्व स्व कर्मवश उत्पन्न होते हैं उन सबको मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं ऐसा जानो क्योंकि वे सभी मेरी ही प्रकृति के गुण के कार्य हैं। न तु अहं तेषु, ते मयि—ऐसा होने से भी मैं उनमें स्थित नहीं हूँ अर्थात् संसारी जीव की तरह मैं उनके अधीन नहीं रहता हूँ। परन्तु वे मेरे अधीन होकर मुझमें (परमेश्वर में) स्थित रहते हैं।

(२) शंकरानन्द—['मत्तः परतरम्' से आरम्भ कर जो विषय संक्षेप में प्रतिपादित हुए हैं उस विषय का ही 'रसोऽहम्' इत्यादि से 'कामोऽस्मि भरतर्षभ' श्लोक तक (क) रस, प्रभा आदि स्वरूप से स्वीय कारणत्व एवं (ख) चन्द्र आदि का कार्यत्व (ग) रस-आदिरूप कारण के भगवान में प्रोत होना एवं (घ) भगवान का कारणमात्रत्त्व होना इत्यादि का प्रतिपादन करके उपसंहार करने के लिये अब सामान्यरूपसे जगत् के बीजस्वरूप भगवान से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति एवं उत्पन्न वस्तुएँ उनमें उनसे अभिन्न रूप से स्थिति का प्रतिपादन कर रहे हैं—] सात्त्विकाः—इस लोक में सात्त्विक अर्थात् सत्त्वगुणप्रधान ये च एव भावाः—जो समस्त भाव यथा देव, ऋषि, ब्राह्मण एव शर्करा (चीनी) आदि आदि पदार्थ ये च राजसाः—एवं जो समस्त राजस अर्थात् रजोगुणप्रधान भाव यथा गन्धर्व, यक्ष, क्षत्रिय, मिर्च आदि पदार्थ ये च तामसाः—एवं जो समस्त तामस अर्थात् तमोगुण-प्रधान भाव यथा–राक्षस, क्रव्याद, शूद्र, एवं लहसुन आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए हैं एवं उत्पन्न होंगे तान्—उन सबको अर्थात् तत्तत् (उन उन) गुणरूप, उपाधि से युक्त जगत् के बीज समूह को मत्तः एव—मुझसे ही, उत्पन्न हुए हैं—दूसरों से उत्पन्न नहीं होए हैं, यह विद्धि—जानो अर्थात् समझो। मुझसे अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तु में कारणत्त्व नहीं है, यह सूचित करने के लिए 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है। ये सभी सात्त्विक आदि पदार्थों में मैं सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुणरूप कारणरूप से स्थित हूँ, इसलिए वे (सत्त्वादिगुण) उनके कारणरूप सत्त्व आदि गुणात्मक मुझमें प्रोत होकर मेरे स्वरूप में ही (मुझसे अभिन्नरूपसे) स्थित हैं, यही अर्थ है। जिस प्रकार यह सभी का ही प्रत्यक्ष होता है कि सत्त्वगुण का कार्य शर्करादि (चीनी इत्यादि) माधुर्यमात्र ही होता है, रजोगुण का कार्य मिर्च कटुमात्र ही होता है, तमोगुण का कार्य लहसुन मत्तता मात्र ही (उन्मादक-मात्र ही) होता है वैसे ही ब्रह्म का कार्य सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममात्र ही है, ऐसा समझना पड़ेगा। इसके द्वारा 'मत्तः परतरं नान्यत्' ('मुझसे परतर और कुछ नहीं है') 'मयि सर्वमिदं प्रोतम्' ('मुझमें ये सभी प्रोत हैं') यहाँ से लेकर 'राजसास्तामसाश्च ये' ('जो राजस एवं तामस है') यहाँ तक मायाशवलित ब्रह्म में मृत्तिका के सदृश परिणाम–कारणत्व है, इस पक्ष को आश्रय कर कार्य में कारणमात्रत्व रहता है, जिस प्रकार घट आदि उनके कारण मृत्तिका-मात्रसे अतिरिक्त (भिन्न) और कुछ नहीं है, ऐसा उत्तम (प्रसिद्ध) दृष्टान्त पूर्ण युक्ति के द्वारा एवं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ('ये सभी ही ब्रह्म हैं') इत्यादि

पूर्वोक्त श्रुति वाक्य के बलसे ब्रह्म के कार्य जगत् की प्रत्येक वस्तु में ब्रह्म-मात्रत्व का ही सम्यक् निर्धारण करके वेदान्त वाक्यों का जो सम्यक्रूप से श्रवण किये हैं एवं उसके (वेदान्तवाक्यों के) अर्थ को जान गये हैं, ऐसे यति के द्वारा श्रुत, दृष्ट, स्पृष्ट, (अर्थात् स्पर्शीकृत), ज्ञात एवं अनुभव किया हुआ यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ इस प्रकार पूर्ववासनाकृत नामरूप—भेद की कल्पना को निःशेष रूप से त्याग कर अपने में तथा सभी में ब्रह्मबुद्धि को ही प्रयत्नपूर्वक सम्पादन करना चाहिए अर्थात् सर्वत्र ब्रह्माकारावृत्ति और ब्रह्मत्ववासना ताकि दृढ़, (निरन्तर) तथा वश्य (आयत्व) हो जाय, उस प्रकार से ही अभ्यास करना चाहिए यह सूचित हो रहा है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ('यह सभी ही ब्रह्म है') 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' (जिससे जन्म, नाश तथा चेष्टा होती है उसको शान्त होकर उपासना करो) इसप्रकार श्रुति भी उक्त विषय में प्रमाण है। इसप्रकार मायारूप उपाधिविशिष्ट ब्रह्म में अर्थात् सत्शब्दवाच्य अविद्याशबल ब्रह्म में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ('ये सभी ही ब्रह्म हैं') इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध परिणामलक्षण वाले जगत् के कारणत्व का प्रतिपादन कर, परिपूर्ण सर्वाधार ब्रह्म का परिणाम कारणत्वपक्ष में 'रसोऽमप्सु' ('जल में मैं रस हूँ') इसके द्वारा रस आदि कारण रूप से स्थित होने से परिच्छिन्नता, उसके गुण तथा दोष की आश्रयता, 'जल मधुर है' इससे उसके अधीन सत्तावत्ता रहने के कारण अर्थात् वह (जल) रहने से परमेश्वर रहेंगे एवं उसका (जल का) नाश होने से परमेश्वर नाशरूप विकारित्व को प्राप्त होंगे इत्यादि अनर्थों की प्राप्ति होगी। इसलिए उसकी निवृत्ति के लिए एवं दृश्य के साथ अपना असम्बन्धत्व सिद्ध करने के लिए 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' ('स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं') इत्यादि श्रुति के द्वारा सिद्ध निर्विशेषस्वरूप का अवधारण करने के लिए एवं पूर्वोक्त समाधि निष्ठा से परिशुद्ध मनवाले यतिओं का निर्विशेष परब्रह्म में ही आत्मत्वबुद्धि सिद्ध करने के लिए जलादि में रसादि रूप से अवस्थिति का 'न त्वहं' इत्यादि के द्वारा निषेध कर रहे हैं। यदि शंका हो कि ब्रह्म का जगत् कारणत्व निषेध होने से, ब्रह्म का जगत्—उपादानत्त्व परिचायक श्रुति वाक्य सकल यथा 'यतो वा' इत्यादि एवं 'अहं कृत्स्नस्य जगतः' ('मैं सम्पूर्ण जगत् का') इत्यादि स्मृति वाक्यों का अप्रामाण्य हो जायगा तो इसके उत्तर में कहा जायगा कि ऐसी शंका युक्त नहीं है क्योंकि, ये वाक्य अद्वैततत्त्व को अवधारण करने के लिए कहा गया है। इसलिए उनका प्रामाण्य उपपन्न (सिद्ध) होता है। कोई-कोई द्वैतवादी प्रकृति, परमाणु आदि जगत् कारणत्त्व

व्यक्त कर उनके कार्य जगत् को ब्रह्म से भिन्न मानकर श्रुतिसिद्ध अद्वैत सिद्धान्त का खंडन करते हैं। उससे अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियाँ व्याहत होंगी, इस कारण से श्रुति स्वयं उसे सहन करने में असमर्थ होकर 'यतो वा' इत्यादि अनेक दृष्टान्त के द्वारा ब्रह्म ही जगत् का कारण एवं कार्य की कारण से अभिन्नता प्रतिपादन कर अद्वैत का ही निर्वाह करती हैं अर्थात् अद्वैत ही परमतत्त्व है यह प्रतिपादन करती है। इसके द्वारा सूचित होता है कि सृष्टि के विषय में जो समस्त श्रुतिवाक्य हैं उनका तात्पर्य यह है कि अद्वैत की सिद्धि करना, न कि सृष्टि की सत्यता सिद्ध करना 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' ('वायु शीघ्र गमनकारी देवता') इत्यादि श्रुतिवाक्य का जिसप्रकार स्वार्थ में अर्थात् वाक्यार्थ में तात्पर्य नहीं है, उसीप्रकार सृष्टिप्रतिपादन श्रुतिवाक्य के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। जिसप्रकार विधिवाक्य के सदृश अर्थ के बोधक अर्थवाद श्रुतियों का विधिवाक्य के साथ प्रामाण्य है [अर्थात् विधि वाक्य के अर्थ को प्रतिष्ठित कराने में ही जिसप्रकार अर्थवाद (प्रशंसासूचक) वाक्य का तात्पर्य रहता है] उसीप्रकार अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियों के सदृश अर्थ के बोधक सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियों का 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' ('एक अद्वितीय ही ब्रह्म है') इत्यादि अद्वैत ब्रह्मबोधक श्रुति एवं 'विज्ञानमेकम्' ('विज्ञानं एक है') इत्यादि स्मृतियों के साथ ही प्रामाण्य है [अर्थात् सृष्टिप्रतिपादक श्रुतिवाक्यों का तात्पर्य अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा में ही पर्यवसित होता है]। अतः इसमें कुशंका करने का अवकाश नहीं है। यदि शंका हो कि जिसप्रकार प्रकृति तथा परमाणु आदि में कारणत्व स्वीकार नहीं किया जाता है, उसप्रकार ब्रह्म में भी कारणत्व अस्वीकार करने से जगत् कारणरहित हो जायगा तब इसके उत्तर में कहा जायगा कि ऐसी शंका युक्त नहीं है, क्योंकि जगत् का कारण है अधिष्ठान का अज्ञान [अर्थात् कल्पित जगत् को अधिष्ठान स्वरूप आत्मा के ज्ञान का अभाव] और वह तो तुम्हारा ही भ्रम है। इसलिए श्रीभगवानने कहा—'न त्वहम्' इत्यादि तु—'तु' शब्द व्यावृत्ति के अर्थ में अथवा 'च' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'एतद्योनीनि' ऐसा कहने से रज्जुसर्प के समान (न्याय) प्रतीतिमात्र मायामय जल आदि में रसादि रूप से न अहम्—मैं कारण नहीं हूँ किन्तु माया ही कारण है। माया से ही निर्विशेष मुझमें विशेष आकार में उन लोगों की [मरु में (मरुभूमि में) जल की प्रतीति के समान] प्रतीति होती है। अत एव 'विकल्पो नहि वस्तु' (विकल्प वस्तु नहीं है) 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' (ये सभी द्वैतवस्तु मायामात्र है) 'असत्त्वादन्यस्य' ('दूसरे किसी वस्तु को सत्ता नहीं है') इत्यादि श्रुतियों से, 'यथा स्वप्न-

प्रपंचोऽयम्' ('जिसप्रकार यह स्वप्न प्रपंच') इत्यादि स्मृतियों से एवं 'इदं सर्वं मिथ्या, मायाकार्यत्वात् ऐन्द्रजालिकवत्' ['ये सभी मिथ्या, माया के कार्य होने के कारण, इन्द्रजाल के कार्य के (तमाशे के) समान'] इत्यादि युक्तियों से माया का कार्य होने के कारण ही जगत् का नियमपूर्वक मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया जाता है। जो प्रपंच जाग्रतकाल में देखा जाता जाता है वह स्वप्न में नहीं देखा जाता है, अतः जाग्रत् और स्वप्न दोनों में प्रपंचका व्यभिचारित प्रत्यक्ष है (अर्थात् एक रूप से नहीं रहता है) एवं सुषुप्ति में उस प्रपंच का अभाव दिखता है। इस कारण जगत् माया का कार्य एवं प्रतीतिमात्र है, यह कहना युक्त ही (ठीक ही) है। इसलिए उसमें (मरुजल के समान प्रतीतिमात्र स्वरूप जलादि में) परिपूर्ण, अप्रमेय, निष्कल, निष्क्रिय, असंग, अमूर्त, अविकारी ब्रह्म का उनके एकमात्र आधार के रूप से उन सबों में स्थिति नहीं हो सकती है। और यदि उन सबों में ब्रह्म की स्थिति का अभाव रहता है तब उनके गुण तथा दोषों के द्वारा ब्रह्म की परिच्छिन्नता आदि का सम्भव नहीं हो सकता, जिसप्रकार भ्रमकल्पित सर्प में रज्जु की स्थिति, एवं सर्प के धर्मों का (क्रूरता आदि का, विष का अथवा अन्य कुछ का) सम्बन्ध कल्पित नहीं हो सकता है, उसप्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। अब शंका होगी कि परिपूर्ण, असंग, अपरिच्छिन्न तुम्हारे एक देश में स्थित जलादि में तुम्हारी स्थिति न हो, परन्तु भूतों की तो तुममें स्थिति हो सकती है इसके उत्तर में कह रहे हैं—

ते—वे अर्थात् जल आदि पदार्थ मयि—मुझमें है अर्थात् मुझको आश्रय करके ही प्रतीत होते हैं। अदृश्यत्व आदि गुणसम्पन्न कूटस्थ, असंग, चिद्रूप परब्रह्म में वस्तुतः वे नहीं हैं, क्योंकि 'नेह नानास्ति किंचन', ('यहाँ अनेक है') 'नहीदं सर्वं कदाचित्' ('यह कभी भी नहीं था') 'नह्यस्ति द्वैत-सिद्धिः' ('द्वैत की सिद्धि हो ही नहीं सकती है') इत्यादि अनेक श्रुति-वाक्य हैं। चूँकि ऐसा है इसलिए त्रिकाल में (अर्थात् भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान में) सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से रहित नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, अद्वितीय, आनन्दैकरस एक परब्रह्म ही है, ऐसा सिद्ध हुआ क्योंकि 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' (एक ही अद्वितीय ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं।

(३) नारायणी टीका—८-११ श्लोकों में भगवान् की विशेष-विशेष जिन-जिन विभूतियों के सम्बन्ध में कहा गया है (पुण्य गन्ध, कामरागविवर्जित बल, धर्माविरुद्ध काम इत्यादि) उनसे अनुमति हो सकता है कि केवल सात्त्विक भाव ही भगवान का मूर्त्ति (स्वरूप) है। अतः संशय हो

सकता है कि यदि राजस एवं तामस सभी भाव भगवान से अतिरिक्त अन्य कोई कारण से उत्पन्न होते हैं, तब गीता में अन्यत्र जो कहा गया है कि भगवान सर्व कारण के भी कारण हैं अथवा भगवान् ही सर्व वस्तु के रूप में विराजमान है—इन उक्तियों में विरोध उपस्थित होगा। इस शंका के निवारण के लिए ही अब कह रहे हैं कि सात्त्विक, राजस तथा तामस जितने भी भाव (पदार्थ) हैं वे भगवान् से उत्पन्न होते हैं क्योंकि उनसे भिन्न जगत् का और कोई कारण नहीं है। किन्तु ऐसा होने पर भी भगवान् विकारी होकर सब कुछ नहीं हुये हैं। इसीलिए भगवान् कह रहे हैं—सात्त्विक, राजस तथा तामस भाव मुझमें हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ अर्थात् उनके अधीन नहीं हूँ। रज्जु जिसप्रकार सर्पादि भ्रान्ति का कारण होती है मैं भी उस प्रकार विवर्त—कारण हूँ अर्थात् सात्त्विक, राजस तथा तामस सभी (कल्पित) भावों के साथ मेरा केवल आध्यासिक सम्बन्ध रहता है अर्थात् मैं उनका केवल आश्रय (अधिष्ठान) हूँ और वे सब मुझमें अज्ञान के कारण अध्यस्त हैं। अतः मैं उनका आश्रित (अधीन) नहीं हूँ। मुझको अधिष्ठान (आश्रय) करके ही वे प्रकाशित होते हैं किन्तु वे नहीं रहने से भी मैं विद्यमान रहता हूँ। तथापि राजस तथा तामस भावों को त्याग कर केवल सात्त्विक भावों को आश्रय करके ही भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए ८–११ श्लोकों में उक्त सात्त्विक भावों को भगवान् का स्वरूप कहा गया है।

[श्रीभगवान ने पूर्ववर्ती श्लोक में जो कहा है उसका अभिप्राय यह है—'मैं (परमेश्वर) नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव हूँ—मैं ही सर्वभूत की आत्मा हूँ। यद्यपि जगत मेरा ही स्वरूप है तथापि मैं निर्गुण (गुणातीत) हूँ। मेरा स्वरूप (अर्थात् मैं ही सर्वभूत की आत्मा हूँ यह) जान लेने से ही संसाररूप दोष का वीज जो अज्ञान है वह प्रकृष्ट रूप से दग्ध हो जा सकता है, किन्तु हाय ! जगत् अज्ञान से मोहित होकर मेरा स्वरूप नहीं जान सकता है। इस प्रकार जगत् के प्रति भगवान् अनुक्रोश (खेद) प्रदर्शन कर जगत्वासी को इस अज्ञान का हेतु क्या है ? वह अब कह रहे हैं—]

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—ऐभिः त्रिभिः गुणमयैः भावैः इदम् सर्वं जगत् मोहितं (सत्) एभ्यः परम् अव्ययं मां न अभिजानाति।

अनुवाद—इन त्रिविध गुणमय भाव के द्वारा (अर्थात् सत्त्व रज तथा तमोगुण का विकार राग द्वेष मोहादि के द्वारा) मोहित रहने के कारण ये समस्त जगत् का सबसे अतीत अव्यय (सर्व प्रकार से विकाररहित) मुझको (परमात्मा को) जान नहीं सकता है।

भाष्यदीपिका—एभिः त्रिभिः गुणमयैः भावैः—पूर्वोक्त इन त्रिविध गुणमय भावों के द्वारा अर्थात् सत्त्व, रज तथा तमोगुण के विकार रूप राग द्वेष तथा मोहादि रूप भावों के (पदार्थ समूहों के) द्वारा भाव शब्द का अर्थ भवनधर्मा (उत्पत्तिशील) पदार्थ है। पहले सत्त्व, रज तथा तमोगुण के सम्बन्ध में जो कहा गया है उनके विकार अथवा परिणाम के रूप से समस्त बाह्य भोग्य विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध पदार्थ) एवं उनके प्रति प्रवृत्ति के हेतु राग-द्वेष-मोह प्रभृति उत्पन्न होते हैं। ये ही जीवका संसार में बन्धन का कारण हैं। किस प्रकार से बन्धन का कारण है ? यह कहा जा रहा है। इदम् सर्वं जगत् मोहितं (सत्)—[इन त्रिविध गुणों के परिणाम से जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं उसके द्वारा] यह समस्त जगत् अर्थात् सकल प्राणी अनादि अविद्यावश विषयभोग में लिप्त होकर मोहित (अविवेकता प्राप्त) होते हैं अर्थात् विवेक के अयोग्य होते हैं [सत् तथा असत् का (नित्य तथा अनित्य वस्तु का) पार्थक्य निर्धारण करने में असमर्थ होते हैं] अतः एभ्यः परम्—इन समस्त गुणमय पदार्थों से परे अर्थात् व्यतिरिक्त (विलक्षण) [इनके द्वारा अस्पृष्ट अथ च इनके नियन्ता (श्रीधर)]

अव्ययं मां न अभिजानाति—अव्यय (व्ययरहित—अविनाशी) [अर्थात् सर्वप्रकार से विक्रियारहित (जन्मादि सर्वभावविकारवर्जित) अतः नित्य, शाश्वत, परिपूर्ण, अद्वितीय, स्वयंप्रकाश, आनन्दस्वरूप, अव्यवहित (सर्वापेक्षा आन्तर) आत्मरूपी] मुझको (परमेश्वर को) अभितः अर्थात् सर्वप्रकार से (पूर्णरूप से) जान नहीं सकते हैं। जब तक त्रिगुणमय भाव के द्वारा मोहित होकर जीव विवेकशून्य होकर विषय के प्रति राग अथवा द्वेषयुक्त रहते हैं तब तक चित्त की अशुद्धि रहने के कारण श्रवण तथा मनन के द्वारा 'ब्रह्म अथवा परमेश्वर हैं' ऐसा जानने से भी अर्थात् परोक्ष ज्ञान प्राप्त करने से भी 'वह ब्रह्म अथवा परमेश्वर मैं ही हूँ' इस प्रकार साक्षात् अपरोक्ष रूप से जान नहीं सकते हैं। यही 'अभिजानाति' शब्द का तात्पर्य है। [हाय ! अविवेकी व्यक्ति का क्या दुर्भाग्य है। ऐसे भाव को प्रकाश कर भगवान् अनुक्रोश दिखा रहे हैं अर्थात् खेद प्रकट कर रहे हैं। (मधुसूदन)।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[इस प्रकार प्रभावशाली परमेश्वर तुमको ये जनसमुदाय क्यों नहीं जान पाते हैं ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

एभिः त्रिभिः गुणमयैः भावैः—पूर्ववर्ती श्लोक में उक्त तीन प्रकार के गुणों के विकाररूप कामलोभादि भावों के द्वारा अर्थात् स्वभावों के द्वारा इदं जगत् मोहितम्–यह जगत् मोहित है। इस कारण से मां न अभिजानाति–मुझको जान नहीं सकते हैं, किस रूप में मुझे नहीं जान सकते हैं, यह कह रहा हूँ—एभ्यः परम् अव्ययम्—मेरा जो स्वरूप इन भावों से परे अर्थात् इनके साथ सम्बन्धरहित होकर इन सभी के नियन्ता हैं एवं इस कारण अव्यय अर्थात् निर्विकार हैं, उस मेरे जगत् से विलक्षण तथा निर्विकार स्वरूप को जान नहीं सकते हैं। [अव्यय शब्द का अर्थ है निर्विकार अर्थात् जन्म, वृद्धि, अपक्षय, विनाश इत्यादि षड्विकार रहित अर्थात् अविनाशी।]

(२) शंकरानन्द—निःशेष रूप से संसारदुःख का नाश करने के लिए यह लोक अर्थात् संसार के सभी व्यक्ति तुमको (परिपूर्ण सच्चिदानन्दैक-रस परब्रह्म को) क्यों नहीं जानते हैं, ऐसी आकांक्षा हो सकती है। इसका उत्तर भगवान् स्वयं अब दे रहे हैं। त्रिभिः गुणमयैः—तीन प्रकार के गुणमय (सत्त्व आदि तीन गुणों के परिणाम सात्त्विक, राजस एवं तामस) एभिः भावैः—इन भावों (भोग्य पदार्थों) के द्वारा अर्थात् बन्धन के कारण ये समस्त अनुभूयमान शब्द आदि विषयों के द्वारा एवं उनके प्रति प्रवृत्ति के हेतु राग-द्वेष आदि के द्वारा सर्वं इदं जगत् मोहितम्–ये समस्त जगत् मोहित रहता है सत् एवं असत् का विवेक न होना ही मोह है। इस प्रकार अविवेकरूप मोह प्राप्त होकर 'इन्द्रियाभ्यामजय्याभ्यां द्वाभ्यामेव हतं जगत्। अहो उपस्थ-जिह्वाभ्यां ब्रह्मादिमशकावधि ॥'

['अहो ! अजेय (अवशीभूत) उपस्थ एवं जिह्वारूप इन्द्रियद्वय के द्वारा ही ब्रह्मा से मशक (मच्छर) तक यह समस्त जगत् आक्रान्त है इस न्याय के अनुसार अनादि अविद्या से विषयभोग लिप्सा को ही यह जगत् (अर्थात् यह सम्पूर्ण जंगम प्राणिसमूह) प्राप्त हुआ है एभ्यः—इन सभी से अर्थात् सत्त्वादि गुण से एवं गुण का कार्य आकाश आदि सम्पूर्ण दृश्य भूतसमूह से परम्—परे अर्थात् भिन्न अर्थात् नित्य, निर्गुण, शुद्ध, बोधैकरस एवं आनन्दघन होने के कारण विलक्षण एवं अव्ययम्—अव्यय अर्थात् अविकारी, शाश्वत, परिपूर्ण एवं अद्वितीय माम्—मुझको (परब्रह्म को) न अभिजानाति—यथार्थरूप से नहीं जानते हैं। उनमें कोई एक विरल व्यक्ति ही श्रवण तथा मनन करके परोक्षब्रह्म को ही जानता है किन्तु 'यही

ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार साक्षात् अपने स्वरूप से ब्रह्म को नहीं जानता है, यही कहने का अभिप्राय है। अथवा गुणमय के द्वारा—सत्त्व आदि गुण-विकार के द्वारा अर्थात् मनोमय, विज्ञानमय, ज्ञानेन्द्रियाँ एवं अग्नि आदि देवता सत्त्वविकार, प्राण आदि एवं कर्मेन्द्रियादि रजोविकार, आनन्दमय एवं अन्नमय तमोविकार, इस प्रकार सत्त्व आदि त्रिभिः गुणमयैः भावैः एभिः—इसप्रकार तीन प्रकार के गुणमय भावों के द्वारा अर्थात् जो आत्मा की उपाधि रूप से अध्यस्त हैं उन समस्त भावों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण देह) के द्वारा-इत्थंभाव में तृतीया। देहत्रयस्वरूप से स्थित इदं जगत्—यह जगत् (प्राणिसमूह) मोहितम्—मोहित हैं अर्थात् पंचकोशात्मक यह शरीर ही मैं हूँ इसप्रकार से आवरणस्वरूप तथा वासनास्वरूप त्रिगुणमयी अनादि अविद्या से देह में आत्मबुद्धि प्राप्त होकर स्वयं एभ्यः—यह स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण देहादि से परम्—परको-नित्यत्व, शुद्धत्व, सूक्ष्मत्व, आन्तरत्व, कूटस्थत्व, असंगत्व, चिद्रूपत्व, आनन्दैक-रसत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वसाक्षित्व, सर्वप्रकाशकत्व आदि धर्मों से विलक्षण (आवरणरहित) होने के कारण 'अहं' अर्थ के रूप में ('मैं' इस शब्द के विषय के रूप में) प्रत्यक्ष रूप से सदा प्रकाशमान एवं सुषुप्ति में भी प्रतीयमान एकात्मक, एकरूप, निर्विशेष माम्—मुझको (प्रत्यक्रूप परब्रह्म को) न अभि-जानाति—पूर्णरूप से नहीं जानते हैं, क्षुधा, रोग, आरोग्य, भोजन आदि का सुख जिसप्रकार प्रत्यक्ष अनुभव होता है उसप्रकार देह इन्द्रिय आदि से पृथक् करके अपनी आत्मा के रूप से, 'यहीं मैं हूँ' इसप्रकार कोई भी साक्षात्कार नहीं करता है। अहो यही महा आश्चर्य है, ऐसा मानकर श्रीभगवान् कह रहे हैं।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक में श्रीभगवान ने कहा है—सात्त्विक, राजस तथा तामस भाव (अर्थात् जागतिक सभी वस्तु ही) मुझसे उत्पन्न हुए हैं, अतः वे मुझमें ही स्थित रहते हैं किन्तु 'न तु अहं तेषु' किन्तु मैं उनमें नहीं रहता हूँ अर्थात् उनसे मैं विलक्षण (पृथक्) हूँ। इसका कारण यह है कि सात्त्विक, राजस तथा तामस भाव सकल प्राणियों में अपने अपने कर्मवश ही उत्पन्न होते हैं। प्रकृति के गुणत्रय के परिणाम से ही कर्म की उत्पत्ति होती है और अज्ञान रहने से ही (अपने स्वरूपका ज्ञान विस्मृत होने से ही अर्थात् भूल जाने से ही) प्रकृति का विक्षोभ (चांचल्य) उत्पन्न होकर त्रिगुण का परिणाम आरम्भ होता है। प्रकृति (परमेश्वर की ही) शक्ति (मनोमय स्पन्दनशक्ति) है। [मूल प्रकृति, माया, अज्ञान, पर्यायवाचक शब्द है]। अतः भगवान कह रहे हैं—सात्त्विकादि समस्त भाव मुझसे जात

(उत्पन्न) होते हैं। ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि वे सब मेरी माया शक्ति (अनिर्वचनीय कल्पनाशक्ति) से उत्पन्न होते हैं। सात्त्विकादि भाव दो भागों में विभक्त हैं—(१) जब प्रकृति से उत्पन्न देहेन्द्रियादि में आत्माभिमान होता है एवं उसका कार्य चलता रहता है तब प्रकृति अथवा माया का अधिष्ठान अखंडचैतन्य स्वरूप आत्मा खंडित प्रतीत होती है। वही जीवभाव अथवा पराप्रकृति है। (२) और जब सात्त्विकादि भाव भोक्ता जीवात्मा के भोग्य के रूप से परिणाम प्राप्त होता है तब उनको जड़ात्मक भाव अथवा अपरा प्रकृति कहा जाता है। यह जीव तथा जड़-जगत् (परा तथा अपरा प्रकृति) मिलित होकर ही विश्वब्रह्मांड का रूप धारण किये हुए हैं। किन्तु पहले ही कहा गया है कि ये सभी ही माया के द्वारा ब्रह्मरूप अधिष्ठान में कल्पित होकर प्रतीत होते हैं। अतः इनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है (अर्थात् ये समस्त ही मिथ्या है)। इन सकल मिथ्या भावों में (सकल पदार्थों में) सत्यत्वबुद्धि एवं आसक्ति ही मोह (अविवेकता) का कारण है एवं यह मोह ही संसारबन्धन का प्रधान हेतु है। और उनसे विलक्षण सर्वाधिष्ठान, आनन्दघन, आत्मस्वरूप का अपरोक्षज्ञान ही मुक्ति है। अतः इस श्लोक में भगवान् का कहने का अभिप्राय यह है कि त्रिगुणमयी माया से ही जगत् की उत्पत्ति होती है अर्थात् जागतिक भोग्य वस्तु, भोग के प्रवृत्ति के हेतु राग, द्वेष मोह प्रभृति एवं भोग के कारण इन्द्रियादि, ये सभी त्रिगुण के विकार हैं। यद्यपि रज्जु की सर्पभ्रान्ति में रज्जु ही कल्पित सर्प के रूप में प्रतीत होती है तथापि सर्प से रज्जु सदा ही विलक्षण (भिन्न अथवा पृथक्) है। उसीप्रकार आत्मा ही जगत् के रूप में अज्ञानवश प्रतिभात (प्रतीत) होने पर भी आत्मा विकारी अनित्य त्रिगुणमय जगत् से परे अर्थात् विलक्षण हैं क्योंकि आत्मा त्रिगुणातीत तथा अव्यय (जायते, अस्ति, वर्द्धते विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति ये छ प्रकार के विकारशून्य) एवं अखंड–अद्वय एक चिदानन्दरसस्वरूप है। अतः त्रिगुणमय जागतिक भाव (जरा, मृत्यु, सुख, दुःख अथवा अन्य कोई भाव) उनको स्पर्श नहीं कर सकता है। जबतक सकल मायिक पदार्थों से विलक्षण, अव्यय सच्चिदानन्द परमात्मा का स्वरूप पूर्णरूप से जाना नहीं जाता है अर्थात् समाधि के द्वारा 'मैं ही वह हूँ' ऐसा साक्षात् अनुभव नहीं होता है तबतक जीवगण त्रिगुणमय, बाह्य, मिथ्या विषय के द्वारा मोहित होकर संसरण करते रहते हैं अर्थात् संसाररूप जन्म-मृत्यु के प्रवाह में भ्रमण करते हैं यही कहने का अभिप्राय है।

[पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है त्रिगुणमय भावों के द्वारा (त्रिगुणमयी

माया के द्वारा) मोहित होकर असत् से सत् का पार्थक्य निर्णय करने में असमर्थ होकर यह जगत् बद्ध है। अब प्रश्न हो सकता है कि जब यह माया सर्वदा अक्षुण्णरूप से विद्यमान है तो वह त्रिगुणात्मिका माया को अतिक्रमण करने का उपाय क्या हो सकता है ? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि यह माया मेरी ही वैष्णवी माया है, उसको अतिक्रमण करने का एकमात्र उपाय है मुझको आश्रय कर तत्त्वज्ञान प्राप्त करना]।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

अन्वयः—एषा गुणमयी दैवी मम माया हि दुरत्यया ये माम् एव प्रपद्यन्ते ते एतां मायां तरन्ति।

अनुवाद—यह दैवी (देव में अर्थात् स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप ब्रह्म में कल्पित) एवं गुणमयी (सत्त्वः रजः तथा तमोगुणस्वरूप) इस माया को अतिक्रमण करना निश्चय ही अत्यन्त कठिन है। जो लोग मेरे ही शरणापन्न होकर भजन करते हैं (अर्थात् मुझको चित्तवृत्ति का विषयीभूत कर आत्म-रूप से साक्षात्कार करते हैं) वे लोग ही इस दुस्तर माया को अतिक्रमण कर सकते हैं अर्थात् माया से परित्राण प्राप्त कर सकते हैं।

भाष्यदीपिका-एषा हि गुणमयी दैवी मम माया दुरत्यया-यह अर्थात् उपर्युक्त त्रिगुणमयी मेरी दैवी माया को अतिक्रमण करना (पार करना) अत्यन्त कठिन, अतः दुस्तर है। देव अर्थात् स्वयं प्रकाश की [अर्थात् विष्णु नामक (सर्वव्यापी) परमेश्वर की आत्मभूता (आश्रिता) होने के कारण इस माया को ही दैवी माया कहा जाता है वह देव सर्वभूतात्मा मैं ही हूँ अतः वह मेरी दैवी माया है। इसे अनेक दुःखों (क्लेशों) के साथ अतिक्रमण किया जा सकता है, इस कारण यह 'दुरत्यया' है। माया शब्द का अर्थ है अविद्या क्योंकि वह वस्तु के स्वरूप का प्रकाश में प्रतिबन्ध होकर मिथ्या ज्ञान का हेतु होती है। अर्थात् इसकी आवरण नामक शक्ति वस्तु के यथार्थ स्वरूप को आवृत कर इसकी विक्षेपशक्ति के द्वारा अन्य रूप मिथ्याज्ञान उत्पन्न करता है। श्रुति में कहा गया है 'माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' (नृ० उ० ता० ९) अर्थात् माया स्वयं ही माया तथा अविद्या के रूपको धारण करती है। (अर्थात् ईश्वर की जब उपाधि होती है तब उसको माया और जीव की उपाधि होती है तब अविद्या कही जाती है। निखिल प्रपंच इस अविद्या अथवा माया की ही प्रकृष्ट कृति (कार्य) है, इसलिए इसको प्रकृति भी

कहा जाता है। श्रुति में भी कहा गया है–'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (श्वे० उ० ४।१०) अर्थात् माया को प्रकृति जानोगे। माया को जो केवल प्रकृति अथवा अविद्या कहा जाता है, यह बात नहीं, इसके और भी अनेक नाम हैं यथा 'अविद्या प्रकृतिर्माया तमोऽज्ञानमजानृतम्। प्रधानं च जडं विद्धि क्षयिष्णु तु त्रिगुणात्मकम्। अचेतनमसन्नेव तथा सर्वाशुभास्पदम्' अर्थात् अविद्या प्रकृति, माया, तमः (अन्धकार), अज्ञान, अजा (जन्मरहित), अनृतम् (असत्य), प्रधान, जड़, अचेतन, क्षयशील, त्रिगुणात्मक, अचेतन, असत् अतः वह यथार्थ नहीं है अर्थात् इन्द्रजाल के समान प्रतीत होने से भी सत्ताहीन है, अतः सभी प्रकार के अशुभ का आश्रय है। असल बात यह कि जो वस्तु पारमार्थिक रूप से सत् नहीं है उसमें ही अर्थात् मिथ्या वस्तु में ही माया शब्द का प्रयोग होता है। इसलिए मांडुक्योपनिषद् की गौड़पाद कारिका में कहा गया है 'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः' अर्थात् यह द्वैत दृश्य वस्तु सकल मायामात्र (सम्पूर्ण मिथ्या) है—अद्वैततत्त्व ही परमार्थतः सद्वस्तु है। व्यावहारिक जगत् में भी ऐन्द्रजालिक के द्वारा (जादूगर के द्वारा) प्रदर्शित सकल वस्तु को माया ही कहा जाता है। अब प्रश्न होगा इस माया का (क) रूप क्या है ? (ख) प्रमाण क्या है ! (ग) आश्रय क्या है ? (घ) विषय क्या है ? (ङ) प्रभु कौन है ? अर्थात् माया किसके अधीन रहती है ?—इन पांच प्रश्नों का उत्तर वर्तमान श्लोक के प्रथम पाद में दिया गया है। (क) इसका रूप क्या है ? उत्तर—यह गुणमयी है अर्थात् यह सत्त्वः रजः तथा तम गुणत्रयात्मिका है। त्रिगुण (तीन रज्जु) जिस प्रकार अत्यन्त दृढ़ होने के कारण दृढ़ बन्धन के लिए उपयोगी होता है एवं उस बन्धन का छेदन करना जिस प्रकार अतिशय दुष्कर होता है उसी प्रकार यह त्रिगुणमयी माया संसारबन्धन का हेतु होती है एवं उसे ज्ञान बिना अन्य किसी उपाय से छेदन करना असम्भव है। (ख) इसका प्रमाण क्या है ?–उत्तर में कहा गया है–'एषा हि' अर्थात् यह माया अथवा अविद्या (अज्ञान) साक्षिचैतन्य के प्रत्यक्ष होने के कारण सभी को ही अनुभवसिद्ध है। 'मैं अज्ञ हूँ' 'मुझको एवं अन्यको मैं जानता हूँ'—ऐसा सभी ही कहते हैं, अतः अज्ञान प्रत्यक्षसिद्ध है। 'हि' शब्द के द्वारा प्रथमतः इस प्रत्यक्षत्व की प्रसिद्धि प्रकाश किया जा रहा है एवं द्वितीयतः माया सर्वभ्रमों का उपादान कारण होने के कारण 'अर्थापत्ति' नामक प्रमाण के द्वारा भी सिद्ध होता है, यह भी सूचित किया जा रहा है। अभिप्राय यह है कि—'एषा' (यह) शब्द प्रत्यक्षवस्तु को ही लक्ष्य कर कहा जाता है। एवं 'हि' शब्द प्रसिद्धि एवं निश्चयार्थ में व्यवहृत

होता है। अतः 'एषा' हि शब्द के द्वारा माया निश्चय रूप से प्रत्यक्ष तथा अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा सिद्ध होती है, यह कहा गया। अर्थापत्ति प्रमाण किसे कहा जाता है ? उस विषय में टिप्पणी द्रष्टव्य है। (ग) माया का आश्रय तथा विषय क्या है ? उत्तर में कहा जा रहा है कि इस माया 'दैवी' है श्रुति कहती है 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वेता० उ० ६।१२) [सर्वप्राणीयों में एक अद्वितीय देव अर्थात् स्वयंप्रकाश परमात्मा गूढ़ (अविद्याच्छन्न अर्थात् माया के द्वारा गुप्त) है]। श्रुतिवाक्यों से पता चलता है कि जो स्वतः द्युतिवान् (स्वप्रकाश) चैतन्य तथा आनन्दस्वरूप हैं उस अखंडाद्वितीय देव को आश्रय कर—एवं उनको ही विषय कर—यह माया कल्पित रहती है, इस कारण इसे 'दैवी' कहा गया है। 'आश्रयत्व विषयत्वभागिनी निर्विभाग-चितिरेव केवला' (संक्षेप शारीरक १।३१९) अर्थात् केवल (अद्वितीय) निर्विभाग (अखंड, अर्थात् जीव, जगत, ईश्वर इत्यादि सर्व प्रकार के विभाग या भेदरहित) जो शुद्ध चैतन्य है वही अज्ञान का आश्रय—तथा विषय—होता है। अभिप्राय यह है कि निर्विशेष परमात्मा न तो आश्रय और न तो विषय होता है। तथापि यह अनिर्वचनीया माया जिसकी सत्ता परमार्थतः न रहने पर भी दिखती है) आकाश में नीलिमा के सदृश मुझमें ही (अर्थात् परमब्रह्म परमात्मा में ही) आभास के रूप से आश्रित रहता है एवं मुझको ही (परमात्मा को ही) कल्पित नाम, रूप तथा क्रिया के रूप से विषय करता है। (ङ) वह किसके अधीन है ? उत्तर में कहा जा रहा है—'मम' अर्थात् मेरे अधीन है। यह माया मुझ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्व जगत का कारण मायावी परमेश्वर की स्वभूता (अर्थात् अधिकृत वस्तुस्वरूप) है। अतः यह मेरे अधीन होकर जगत् सृष्टि प्रभृति कार्य निर्वाह करती है। भागवत में भी कहा गया है 'यत्कारणं विश्वमिदं च माया आज्ञाकारी तस्य' अर्थात् जो इस दृश्य प्रपंच का आदिकारण है एवं माया जिनकी आज्ञाकारिणी है। चूँकि माया का स्वभाव ऐसा है एवं माया मेरी आश्रिता तथा अधीना है इसलिए यह दुरत्यया है अर्थात् जीव के लिये इसको अतिक्रम करना अत्यन्त क्लेशकर व्यापार है। किस उपाय से माया का अतिक्रमण किया जा सकता है वह भगवान् स्वयं ही कह रहे हैं—ये माम् एव प्रपद्यन्ते ते एतां मायाम् तरन्ति—निष्काम कर्मयोग ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठान कर बहुजन्मार्जित पुण्यकर्म विशेष के फलरूप से शुद्धचित्त होकर यमनियमादि कठोर व्रत अवलम्बनपूर्वक दृष्टादृष्ट विषयसुख एवं उनकी प्राप्ति के समस्त साधनों का परित्याग कर मुमुक्षु होकर श्रद्धापूर्वक श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप में गमनपूर्वक

एकनिष्ठ होकर श्रवण, मनन एवं षष्ठाध्याय में उक्त ध्यानयोगाभ्यास की परिपक्वता से उत्पन्न ब्रह्माकारा वृत्तिद्वारा निरन्तर मुझको विषयीभूत करते हैं, वे लोग माया का उक्त प्रकार का स्वभाव होने पर भी सकल धर्मों का परित्याग कर उस माया के आश्रय मायावी मुझको ही (अपने आत्मस्वरूप मुझको ही) अर्थात् सर्वोपाधिरहित अद्वैत, चिदानन्द, परब्रह्मस्वरूप आत्मा का ही सर्वात्मस्वरूप से (सम्पूर्णरूप से, अनन्यरूप से) प्रपन्न (शरणापन्न) होकर निर्विकल्प समाधि के द्वारा साक्षात्कार करके अर्थात् मुझको ही आत्मरूप से प्राप्त करके माया को तर जाते हैं, ['प्रपद्यन्ते' शब्द का अर्थ है (क) प्राप्त होते हैं (ख) आश्रय लेते हैं (ग) शरणापन्न होते हैं] इस प्रकार सौभाग्यशाली व्यक्ति ही अशेषविध अनर्थ का आकार (हेतु) तथा सर्वभूतमोहिनी माया दूसरे के लिए दुरत्यया (दुरतिक्रमणीय) होने से भी अनायास ही उसको अतिक्रम करते हैं। जीव, जगत् तथा ईश्वर के अधिष्ठानरूप जो ब्रह्मस्वरूप आत्मा है उसका ज्ञान (साक्षात्कार) प्राप्त करने से उस आत्मज्ञान से सकल संसाररूप भ्रम का समूल उच्छेद हो जाता है, अतः सकल संसार बन्धन से मोक्ष की प्राप्ति होती है, यही कहने का अभिप्राय है। श्रुति भी ऐसा कहती है—'तस्य ह न देवाश्चना भूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' (बृह० उ० १।४।१०) अर्थात् देवगण भी इस ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त पुरुष का अनिष्ट नहीं कर सकते हैं चूँकि वे उनकी भी आत्मा हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि तादृश व्यक्ति की सर्वप्रकार से अज्ञानोपाधि तिरोहित हो जाती हैं एवं वे सच्चिदानन्दस्वरूप में ही अवस्थान करते हैं। ['माम् एव' इस पद के 'एव' शब्द के द्वारा यही समझाया जा रहा है कि निष्प्रपंच तुरीय आत्मा का अर्थात् सकल द्वैतभावरहित भगवान् का साक्षात्कार ही माया को अतिक्रमण करने का एकमात्र उपाय है। श्रुति भी यही कहती है—'आत्मेत्येवोपासीत (बृह० उ० १।४।७) अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति उस ब्रह्म को (भगवान को) आत्म रूपसे ही जाने, 'तमेव धीरो विज्ञाय' (बृह० उ० ४।४।२३) अर्थात् धीर (ज्ञानी) व्यक्ति उनको आत्मस्वरूप जानकर, 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' (श्वेता० उ० ६।१५), अर्थात् केवलमात्र उस आत्मस्वरूप भगवान को जानने से अतिमृत्यु (मोक्ष) प्राप्त होता है। इन श्रुति वाक्यों में 'एव' शब्द जिसप्रकार द्वैतरहित निष्प्रपंच भगवान के (आत्मा के) साक्षात्कार को ही मायाजाल छिन्न करके मोक्षलाभ का उपाय माना गया है, उसप्रकार यहाँ भी 'एव' शब्द का तात्पर्य ऐसा ही समझना पड़ेगा।

(मधुसूदन)] टिप्पणी। (१) मधुसूदन। दैवी मम माया इत्यादि—

देव शब्द का अर्थ है निर्विभाग [जीव ईश्वर, इसप्रकार विभाग (भेद) रहित] स्वयंप्रकाश शुद्धचैतन्य। वही अज्ञान का आश्रय तथा विषय होता है। जीव तथा ईश्वर का भेद किस कारण से होता है एवं वह भेद निराकृत दूर कर जीव तथा ईश्वर की अभिन्नता सम्पादन करके माया को अतिक्रमण किस प्रकार से किया जा सकता है ? वह अब कहा जा रहा है।

शुद्धचैतन्य में (जिसको निर्विशेष ब्रह्म कहा जाता है उनमें) जीव जगत्, ईश्वर इत्यादि का कोई पारमार्थिक भेद नहीं हो सकता क्योंकि अनादि अविद्या के कारण उस शुद्धचैतन्य में वे तीनों ही कल्पित अथवा अध्यस्त होते हैं। वह अविद्या त्रिगुणमयी होने से भी उसमें सत्त्वगुण का प्राधान्य रहता है एवं इसलिए वह स्वच्छ अर्थात् आत्मप्रतिविम्ब ग्रहण के योग्य होता है। स्वच्छ दर्पण जिस प्रकार मुखाभास (मुख का प्रतिविम्ब) ग्रहण करता है उस प्रकार जड़ अविद्या भी शुद्ध चैतन्य का चित्प्रतिबिम्ब अथवा चिदाभास ग्रहण कर चित्स्वरूपता प्राप्त होता है। ऐसी अवस्था में बिम्बस्थानीय शुद्धचैतन्य को परमेश्वर कहा जाता है-बिम्ब (मुख) जिस प्रकार दर्पण के दोष के द्वारा किसी प्रकार संस्पृष्ट नहीं होता है उसी प्रकार परमेश्वर भी अविद्या रूप उपाधि के दोषों से लिप्त नहीं होता है। अविद्या में जो चित् प्रतिबिम्ब (चिदाभास) पड़ता है उसको जीव कहा जाता है। अतः जीव अविद्यारूप उपाधि के दोष से दूषित होता है ठीक जिसप्रकार दर्पण के ऋजु वक्रादि दोष अथवा मलिनतादि दोष रहने से दर्पण के मध्यस्थित प्रतिविम्ब को भी उन उन दोषों के द्वारा दूषित देखा जाता है। और जीव के भोग के निमित्त ईश्वर से आकाशादिक्रम से शरीरेन्द्रियसंघात एवं उसके भोग्य निखिल प्रपंच (विश्व) उत्पन्न होता है—ऐसी कल्पना—की जाती है। शुद्ध मुख जिस प्रकार मुखरूपबिम्ब में तथा मुख के प्रतिबिम्ब में अनुगत रहता है उसप्रकार ईश्वररूप चित् बिम्ब एवं जीवरूप जो चित्प्रतिविम्ब है उन दोनों में मायोपाधिविशिष्ट जो चैतन्य अनुगत रहता है उसको साक्षी—कहकर कल्पना की जाती हैं। उस साक्षीचैतन्य के द्वारा स्वाध्यस्त (अपने ऊपर कल्पित) माया एवं उस माया के सर्वप्रकाशित होता है। इस कारण से यहाँ 'देव' शब्द का अर्थ है साक्षिचैतन्य अतः उस साक्षिचैतन्याश्रित माया को लक्ष्य करके ही 'दैवी माया' कहा गया है एवं बिम्ब ईश्वर को लक्ष्य कर 'मम' शब्द का प्रयोग किया गया है। [अविद्यायां चिदाभासो जीवो बिम्ब-चिदीश्वर (विवरणकार)। अर्थात् मायासन्निहित मायोपहित (माया ही जिसकी उपाधि है वह) बिम्बचैतन्य ईश्वर, अर्थात् माया का सन्निहित एवं

मायारूप उपाधिविशिष्ट बिम्बचैतन्य को ईश्वर कहा जाता है और अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है अतः माया ईश्वर को ही अधीन है, इसलिए श्लोक में कहा गया 'मम माया' पहले ही कहा गया है कि माया में अथवा अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहा जाता है किन्तु प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न नहीं है। प्रतिबिम्ब एवं बिम्ब में जो भेद है वह कल्पित ही हैं क्योंकि इनमें बिम्ब ही परमार्थतः सत्य वस्तु है। अतः बिम्ब से प्रतिबिम्ब की कल्पित भेद बुद्धि त्याग कर जब बिम्बभाव की प्राप्ति होती है तभी वेदान्त के प्रतिबिम्बवादानुसार जीवकी मायातीतावस्था अथवा मुक्ति प्राप्त हुई है ऐसा कहा जाता है। यही श्लोक में 'मामेव प्रपद्यन्ते' पद का तात्पर्य है। अविद्या में प्रतिबिम्बरूप जीव एक ही है (ऐसा एक जीववादी कहते हैं) किन्तु अविद्याजनित अन्तःकरण के संस्कार विभिन्न होने के कारण अन्तःकरण-रूप उपाधि के अनेक भेद होते हैं। इसलिए जीव अनेक प्रतीत होते हैं। इस प्रकार जीवों का भेद निर्देश करके ही गीता में ७।१४, १५, १६ वें श्लोकों में बहुवचन प्रयोग किया गया है। श्रुति में भी उपाधि के भेद से वैसा ही जीवका भेदनिर्देश किया गया है—'तद् यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तद्भवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम् (बृ० उ० १।४।१३) अर्थात् देवों में जो जो उन तत्त्व को अवगत हुए हैं वे सभी ही वैसा अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। उसी प्रकार ऋषियों में एवं मनुष्यों में भी ऐसे हुए हैं। मूला अविद्यारूप उपाधि एक रहने के कारण उस अविद्या में शुद्धचैतन्य का प्रतिबिम्ब भी एक रहेगा अतः अन्तकरणरूप उपाधि के भेद की आलोचना न करने पर जीव एक ही है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा अर्थात् जीवका नानात्व सिद्ध नहीं हो सकता। गीता में भी अनेकस्थलो में जीवको 'एक, कहकर निर्देश किया गया है (गीता १३।२, १३।१९, १३।२१, १५।७, प्रभृति श्लोक द्रष्टव्य है)। श्रुति में भी कहा गया है—'ब्रह्म अथवा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति, तस्मात् तत् सर्वमभवत्' (बृह० उ० १।४।१०) अर्थात् सृष्टि के पहले यह समस्त ब्रह्म ही था, वे आत्मा को (अपने को) जाने थे 'मैं ब्रह्म हूँ' इस कारण से वे सब कुछ अर्थात् सर्वस्वरूप अथवा सर्वात्मक हुए है, 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' (छा० उ० ६।३।२) (यह जीवरूप अपने अंश के द्वारा सर्वभूत में अनुप्रविष्ट होकर); 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागः जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥' (श्वेता० उ० ५।९) अर्थात् केश के अग्रभाग के शततम भाग को पुनः शतभाग में कल्पना करने से जो शततम भाग प्राप्त होता है उसप्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्मतम चैतन्य

अंश को जीव जानो वह जीव ही पुनः अनन्तस्वरूप होता है अर्थात् कल्पित प्रतिबिम्बभाव त्याग कर जब बिम्ब के साथ एकात्मबोध होता है तब वह 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं एवं 'मायामेतां तरन्ति ते' (माया-सृष्ट संसार चक्र से मुक्ति प्राप्त करते हैं)।

विवरणाचार्य के मतानुसार बिम्बचैतन्य है ईश्वर और प्रतिबिम्बचैतन्य है जीव। किन्तु वार्तिककार एवं संक्षेप शारीरककार के मत में (अर्थात् आभासवाद के अनुसार) शुद्धचैतन्य ही बिम्ब है; माया में (अज्ञान में) जो चित्प्रतिबिम्ब (अर्थात् मायोपहित चैतन्य) है वही ईश्वर हैं, और बुद्धि में चित्प्रतिबिम्ब को (अर्थात् बुद्धि में उपहित अतः बुद्धि के साथ तादात्म्यापन्न चैतन्य को) जीव कहा जाता है। बुद्धि विभिन्न होने के कारण जीव भी अनेक (विभिन्न) होते हैं किन्तु माया अथवा अज्ञान एक है, इसलिए ईश्वर एक ही है। आभासवाद में जीव तथा ईश्वर दोनों ही शुद्धचैतन्य का प्रतिबिम्ब होने के कारण दोनों ही माया के द्वारा सृष्ट है, अतः मिथ्या है—एकमात्र शुद्धचैतन्य ही (बिम्ब ही) परमार्थतः सत्य वस्तु है। विवरणाचार्य के प्रतिबिम्बवाद में तथा वार्तिककार के आभासवाद में परमार्थ सत्य वस्तु जो शुद्धचैतन्य है उसके सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है क्योंकि विवरणाचार्य के मत में बिम्बचैतन्य ईश्वर होने पर भी वह सर्वावस्था में ही शुद्धचैतन्य भिन्न और कुछ भी नहीं है। केवल जीव के सम्बन्ध में ही दोनों के मत में कल्पना का सामान्य भेद है। आभासवादी वार्तिककार सुरेश्वराचार्य के मतानुसार बुद्ध्युपहित बुद्धितादात्म्यापन्न जीव प्रतिबिम्ब स्वरूप होने के कारण वह स्वरूपतः अनिर्वचनीय अर्थात् मिथ्या है। उनके मतानुसार बिम्बचैतन्य और प्रतिबिम्ब-चैतन्य अभिन्न (एक) नहीं है। तत्त्वज्ञान के द्वारा यह कल्पित मिथ्या जीवत्व बाधित होने पर शुद्धब्रह्मभावापत्तिरूप मुक्ति होती है अर्थात् 'मैं जीव नहीं हूँ मैं शुद्ध ब्रह्मस्वरूप हूँ, इसप्रकार शुद्ध ब्रह्मभाव प्राप्त होने पर संसार-रूप समस्त दुःखों की निवृत्ति होकर जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। आभासवाद के अनुसार बुद्ध्युपहित बुद्धितादात्म्यापन्न आत्माको चिदाभास कहा जाता है। यद्यपि दर्पण में चैत्रनामक व्यक्ति का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह अपने को अथवा परको नहीं जान सकता है क्योंकि चैत्र का जो अचेतनांश है वही उस दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है। किन्तु मायारूप उपाधि में जो चित्प्रतिबिम्ब है वह चित् (चैतन्य) होने के कारण अपने तो तथा दूसरों को जान सकता है। प्रतिबिम्बवादी के मतानुसार अविद्यारूप उपाधि में प्रतिबिम्बसत्ता ही बिम्बचैतन्य में जीव के रूप से कल्पित होता है और

आभासवादी के मतानुसार (बुद्ध्युपहित चैतन्य ही जीव है' इस मत में) आभास अनिर्वचनीय होने पर भी वह जड़ से विलक्षण अर्थात् चित्स्वरूप हैं। जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित सूर्य तथा बिम्बरूपी सूर्य अभिन्न है, यह जब तक न अवधारित हो तबतक जल के कल्पनादि में जलगत सूर्य भी कम्पित प्रतीत होता है। बुद्ध्युपहित चैतन्य (जीव) जब तक बिम्बचैतन्य के (शुद्धचैतन्य के) साथ अपनी एकता अनुभव नहीं कर सकता है तब तक बुद्धिरूप उपाधि के लिए सहस्र सहस्र विकार का अनुभव करता रहता है अर्थात् देहेन्द्रियान्तःकरण का धर्म आत्मा में आरोपित कर मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ ऐसा बोध होता है। इसलिए भगवान ने कहा 'एषा मम दैवी माया दुरत्यया' [(प्रतिबिम्बवादानुसार) बिम्बभूत शुद्धचैतन्य अथवा ईश्वर के साक्षात्कार विना इस अज्ञान अथवा माया को अतिक्रमण करना असम्भव है। अत- यह माया दुरत्यया है]।

बुद्धि अथवा अन्तःकरण-उपहितचैतन्य ही (अर्थात् अन्तःकरण धर्मविशिष्ट चैतन्य ही) जीव है, यह पहले कहा गया है। अतः अन्तःकरण के साथ जो वस्तु का सम्बन्ध होता है वही इन्द्रियादि के द्वारा जीव के निकट प्रकाश पाता है। इस कारण से जीव अल्पज्ञ होता है अर्थात् परमार्थतः जीव विभु (सर्वव्यापी) एवं सर्वज्ञ होने पर भी अन्तःकरण के द्वारा परिच्छिन्न होता है इसलिए उसका ज्ञान भी परिच्छिन्न सीमित होता है और इस अल्पज्ञता के कारण वह जीव 'मैं जान रहा हूँ' 'मैं कर रहा हूँ' 'मैं भोग कर रहा हूँ' इत्यादि सौ सौ अनर्थों का आश्रय होता है। (अतः इस अन्तःकरण-रूप उपाधि की परिच्छिन्नता ही जीव का स्वरूपगत सर्वज्ञत्व का प्रतिबन्धक होता है। यदि किसी उपाय से परिच्छिन्नता नष्ट हो जाय तब जीव सर्वज्ञ तथा चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है क्योंकि वही उनका यथार्थस्वरूप है) जो माया के अधीश (नियन्ता) हैं अतः अनन्तशक्तिसम्पन्न हैं, सर्वज्ञ, सर्वफलदाता तथा आनन्दघनमूर्ति हैं एवं जो भक्त के प्रति अनुग्रह करने के लिए अनेक अवतार रूप से अवतीर्ण होते हैं उस बिम्बभूत परमगुरु भगवान् को श्रद्धा तथा एकान्तभक्ति के साथ सकलकर्म अर्पणपूर्वक आराधना करने पर बिम्ब में जो जो गुण आरोपित होते हैं प्रतिबिम्ब में भी वही प्रतिफलित होते हैं। इसलिए प्रतिबिम्बस्वरूप वह जीव सकल प्रकार से (अर्थात् जिसकी जैसी भावना है उस प्रकार से) प्राप्त कर सकता है। श्रीमद्भागवत में भी प्रह्लाद ऐसा ही कह रहे हैं—'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनाद विदुषः करुणो वृणीते। यद् यद् जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा

मुखश्रीः ॥" अर्थात् हे प्रभो ! तुम तो निजलाभ से (निज ऐश्वर्य से) परिपूर्ण हो, तुम सकल भूतों की आत्मा हो अत एव तुममें सभी के प्रति करुणा रहना स्वाभाविक है। अतः अज्ञानी लोक से (जो लोग तुम्हारा स्वरूप नहीं जानते हैं अतः तुम्हारे भक्त नहीं हैं ऐसे लोगों से) सम्मान लाभ करने की स्पृहा भी तुममें नहीं है। किन्तु जो मनुष्य तुमको भगवद्बुद्धि से जो जो मान देता है (जिस जिस भावना के साथ अर्चना करता है) वह सब ही उसमें ही प्रतिफलित होता है (अर्थात् उन गुणों के द्वारा स्वयं ही विभूषित होता है), जिस प्रकार मुँह में तिलकादि शोभा सम्पादन करने से प्रतिमुख में (दर्पणादि के प्रतिबिम्ब में) स्वतः ही उसी प्रकार शोभा प्रस्फुटित होती है। [अतः जो लोग मोक्ष के लिए (मायातीत होने के लिए) मायाधीश अथच मायातीत विश्वस्वरूप ईश्वर की उपासना करते हैं वे भी मायातीत होकर (माया को सम्पूर्णरूप से अतिक्रमण कर) उस शुद्धचैतन्यावस्था प्राप्त होंगे श्रुति में भी कहा गया है 'तं यथा यथा उपासते तथैव भवति' अर्थात् उस परमात्माको जिस प्रकार भावनापूर्वक उपासना करता हैं साधक वैसा ही हो जाता है]।

शास्त्रविहित निष्काम कर्मयोग ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठानकर जिनके चित्त की मलिनता (अर्थात् ज्ञान के प्रतिबन्धक रूपसे विद्यमान पापराशि) नष्ट हो गयी है एवं तत्पश्चात् सर्वकर्मत्याग कर गुरु के मुख से वेदान्त वाक्य श्रवण तथा मनन एवं निदिध्यासन करने के फलस्वरूप जिनका अन्तःकरण स्वच्छ (शुद्ध) हुआ है तथा गुरुकर्तृक उपदिष्ट 'तत्त्वमसि' वेदान्त वाक्य से अनात्माकारावृत्तिरहित होने पर 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इसप्रकार निरुपाधि (सर्वोपाधिशून्य) चैतन्यस्वरूप आत्मा की साक्षात्कारात्मिका वृत्ति का उदय हुआ है उनकी अविद्या का नाश तत्क्षणात् ही होता है। दीप जिसप्रकार प्रदीप्त होने के साथ साथ हो अन्धकार का विनाश करता है उसप्रकार उस 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारा वृत्ति में प्रतिफलित जो शुद्धचैतन्य है वह सदा ही स्वविषया एवं स्वाश्रया अविद्या को उन्मूलित कर देता है। अनन्तर उस अविद्या के विनाश होने से ब्रह्माकारा वृत्ति भी नष्ट हो जाती है एवं उसके साथ अविद्याकल्पित निखिल कार्यप्रपंच भी उनके लिये विनष्ट हो जाता है क्योंकि उपादान का नाश होने से उपादेय का भी (कार्य का भी) नाश हो जाता है, यह सर्वतन्त्रसिद्ध (अर्थात् सर्ववादिसम्मत) है। इस अवस्था में जीव माया से उत्तीर्ण होकर ब्रह्मस्वरूप में स्थितिलाभ करता है। यही 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' वाक्य का तात्पर्य है।

(२) श्रीधर—[तब कौन तुमको जान सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं—]

दैवी गुणमयी मम एषा माया दुरत्यया हि—यह दैवी (अलौकिकी अर्थात् अत्यन्त अद्‌भूत) गुणमयी (सत्त्वादि गुण के विकारस्वरूप) मेरी (परमेश्वर की शक्तिरूपा) यह माया दुरत्यया (दुस्तरा) है—यह सभी के निकट प्रसिद्ध है। 'हि' शब्द प्रसिद्धार्थ में प्रयोग हुआ है। माम् एव ये प्रपद्यन्ते—तथापि जो लोग केवल मेरी ही अव्यभिचारिणी भक्तिसे भजते हैं। [यहाँ 'एव' शब्द से अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा भजन करना चाहिए, ऐसा सूचित हुआ है।] एतां मायां ते तरन्ति—वे लोग इस दुस्तर माया से उत्तीर्ण होते हैं (माया को पार कर जाते हैं) अर्थात् वैसा भजन करने से मेरे यथार्थ स्वरूप को वे लोग जान सकते हैं ,यही कहने का अभिप्राय है। [इसप्रकार तत्त्वज्ञान के द्वारा माया की (अज्ञान की) निवृत्ति होने से वे लोग मोक्षप्राप्त होते हैं।]

(३) शंकरानन्द-अनादि अविद्या के द्वारा (माया के द्वारा) अनात्म में आत्मत्व-भ्रम से मोहित, संसार दुःखस्वरूप अग्नि के द्वारा सन्तप्त प्राणियों का उद्धार कैसे होता है, ऐसी आकांक्षा (जानने को इच्छा) होने पर उद्धार के उपाय को कहने को इच्छावाले ईश्वर, पहले उससे (माया से) अपने को उद्धार करने के लिए महान् प्रयत्न करना चाहिए, ऐसा समझाने के लिए माया की दुर्जयता कह रहे हैं।

दैवी—त्रिकाल में भी (भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान में भी) दुसरे की अपेक्षा के विना स्वयं ही जो प्रकाशित होता है वह देव अर्थात् निर्विशेष परमात्मा है। उस आत्मरूप मुझ में आकाश में नीलरूप के समान आभास रूपसे जो स्थित रहता है वह दैवी है। अथवा 'तथाहि प्राज्ञे सैषाविद्या' ('प्राज्ञ में वह यह अविद्या है') इस श्रुति के अनुसार देव में (अर्थात् प्राज्ञ में) जो स्थित रहता है वह दैवी गुणमयी एषा मम माया—यह गुणमयी (गुणस्वरूपा) मेरी माया दैवी हैं, क्योंकि शैवाल जिस प्रकार जल को आवरण (आच्छादन) कर जल में ही रहता है उस प्रकार यह माया भी मेरे स्वरूप को आवरण (आच्छादन) करके मुझ में ही स्थित रहती है। [यही 'मम माया' शब्द का तात्पर्य है। यह सभी को ही प्रत्यक्ष होने के कारण कहा गया 'एषा'।] दुरत्यया—(यह मेरी दैवी गुणमयी माया) जीव के लिए दुरत्यया [दुःख के द्वारा जिसको अत्यय (अतिक्रमण) किया जाता है वह दुरत्यया है] दृष्टादृष्ट विषय-सुख का एवं उसके साधनों का परित्याग कर यम, नियम आदि जनित

दुःख के द्वारा ही उस माया से त्राण प्राप्त किया जा सकता है, दूसरे किसी उपाय के द्वारा नहीं, इसलिए अवश्य ही यह माया दुरत्यया अर्थात् दुर्जय है। माया का दुर्जयत्व लोक में एवं शास्त्र में प्रसिद्ध है। इसे समझाने के लिए 'हि' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार माया को जय करने के लिए प्रयत्न का आधिक्य होना चाहिए, इसे समझाकर अब उससे (माया से) त्राण पाने का उपाय भगवान स्वयं ही 'मामेव' इत्यादि के द्वारा व्यक्त कर रहे हैं। निष्कामरूप से, ईश्वरार्पण बुद्धि के द्वारा अनेक जन्मों में अनुष्ठित पुण्यकर्मविशेष के द्वारा शुद्धमनाः होकर, विवेक एवं वैराग्य के द्वारा सब कुछ त्याग कर श्रद्धापूर्वक एवं तीव्र मोक्षेच्छा के साथ ब्रह्मविद् गुरु का सान्निध्य प्राप्त कर एकनिष्ठा के साथ (वेदान्तवाक्य का) श्रवण तथा मनन कर षष्ठ अध्याय में उक्त रीति के अनुसार माम् एव—मुझको ही अर्थात् निर्गुण तथा अदृश्यत्व आदि लक्षणयुक्त चिदेकरस परब्रह्म को ही, नित्य निरन्तर निर्विकल्प समाधिनिष्ठा के द्वारा (अर्थात् अन्य क्रियाको अवकाश न देकर) ये—जो यति प्रपद्यन्ते—भजन करते हैं—विपरीत प्रत्ययरहित होकर सर्वदा स्वीय आत्मरूप से मुझको अनुसन्धान (चिन्तन) करते हैं ते—वे गुरु आत्मा तथा ईश्वर के अतिशय प्रसाद के (प्रसन्नता के) प्रभाव से सम्यक्रूप से उत्पन्न अप्रतिबद्ध पर एवं अवर के एकत्वविज्ञान के द्वारा ही एतां मायां तरन्ति—यह आवरण एवं विक्षेपस्वरूप एवं सम्पूर्ण अनर्थ की कारणभूत सत्त्वरजस्तमोगुणमयी माया को एवं उसके विपरीतदर्शनरूप कार्यको अतिक्रमण करते हैं ('अर्थात् यह दृश्यप्रपंच एवं ब्रह्म मैं ही हूँ') ऐसे अप्रतिबद्ध ब्रह्मैकत्व के प्रत्यय के द्वारा (ब्रह्म के साथ एकत्व के अनुभव के द्वारा) माया एवं उसके (माया के) कार्य को नष्ट करते हैं। नित्य, निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा के द्वारा रजोगुणरूप राग आदि को, तमोगुणरूप विपरीतभाव आदि को एवं सत्त्वगुणरूप शम आदिको एवं उनके कार्य प्रवृत्ति, निवृत्ति, 'मैं मेरा' आदि सबको उल्लंघन कर इस जीवन में ही संसार से मुक्त होकर विदेहमुक्ति के सुख (अर्थात् आत्मा में स्वभावतः स्थित अखंड परमानन्द) प्राप्त करते हैं। किन्तु जो सब लोग वेदान्त वाक्यादि का श्रवणमात्र से अपने को कृतार्थ मानते हैं, वे इस परमसुख को नहीं प्राप्त होते हैं। यहाँ 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' ('मुझको ही जो भजन करते हैं') इसमें 'अस्मत्' शब्द के द्वारा सगुण वस्तु (सगुण ब्रह्म) विवक्षित नहीं हैं क्योंकि सगुण ब्रह्म की उपासना के द्वारा गुणमयी माया को अतिक्रमण करना सम्भव नहीं हो सकता है अर्थात् गुणवाले को उपासना से सत्त्व आदि गुणों का अति-

क्रमण एवं भेददर्शन की निवृत्ति की सिद्धि नहीं होती है, जिसप्रकार विष सेवन के द्वारा अमरत्व की सिद्धि नहीं होती है। अमृत के सेवन के द्वारा ही जब अमृतत्व की (अमरत्व की) सिद्धि अत्यन्त कष्ट के साथ होती है तो विष सेवन के द्वारा वह अमृतत्व कैसे सिद्ध हो सकता है। इसप्रकार निर्गुण की उपासना के द्वारा भी जब माया एवं उसके कार्य की निःशेष निवृत्ति होना असम्भव है तो अनर्थक सगुण उपासना के द्वारा कैसे उनकी निवृत्ति सम्भव होगी। इसलिए श्रुति में कहा गया है—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' [जबतक इसमें (इस ब्रह्ममें) सामान्य अन्तर (भेद) भी साधक अनुभव करता है तब तक उसको भय रहता है।] इस श्रुति-वाक्य के द्वारा यही स्पष्ट होता है कि निर्विशेष ब्रह्म का उपासक विद्वान् को भी जब सामान्य भेददर्शन के फलस्वरूप संसार रूप भय प्राप्त होता है तो सर्वदा भेददृष्टि रखकर जो पुरुष सगुणोपासना करता है उसका संसार में भय रहेगा इसमें और कहना क्या है ? उपासना के अनुसार ही फलसिद्धि होती है, उपासना में भेदबुद्धि रहेगी ही अतः उस उपासना का फल होगा अभेद (ब्रह्म के साथ एकत्वानुभव), यह कभी भी सम्भव नहीं है। निम्ब का (नीम का) सेवन (अर्थात् सींचन आदि) जो करते हैं उनको आम्र-सेवन का फल प्राप्त नहीं होता है, यहाँ भी वैसा ही समझना पड़ेगा। श्रुतिमें भी कहा गया है—'यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति तं यथायथोपास्ते तथैव भवति' ['पुरुष इस लोक में जैसा निश्चय करता है इसलोक से गमन कर (परलोक में) वैसा ही होता है—जो जैसी उपासना करता है, वह वैसा ही होता है)], 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' (जो ऐसा जानता है कि 'ब्रह्म असत् है' अर्थात् ब्रह्म नहीं है वह असत् ही होता है) इत्यादि एवं स्मृति में भी (गीता में) कहा गया है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' ('जो जिसप्रकार से मुझको भजन करते हैं, उनको उस रूप में ही मैं भजता हूँ')। ब्रह्म और आत्मा के तथा ब्रह्म और जगत् के भेददर्शन का हेतु माया ही है। उसका (उस माया का) वृद्धिकारी अत्यन्त भेददर्शनरूप 'यह मेरा उपास्य है, मैं इसको उपासना करता हूँ' इसप्रकार 'मैं' एवं 'मेरे' पदप्रत्यय के अर्थभेद का आश्रय कर जो पुरुष द्वैतरूप से उपासना कर रहा है उसकी यदि माया—निवृत्ति हो, तो पूर्व की ओर गमनकारी पुरुष का भी (उत्तर की ओर स्थित) कैलाश की प्राप्ति हो सकती है (किन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है)। यहाँ 'अस्मत्' शब्द का अर्थ निर्गुण परब्रह्म ही है, क्योंकि उनकी उपासना जो करते हैं उनकी ही माया का अप्यय (विनाश) होता है, यह सिद्ध हुआ।

टिप्पणी (३) नारायणी टीका—भगवान की मायारूप चक्की चल रही है एवं सबको क्षण क्षण में पीस रही है। इस माया के पेषण से किसी का भी बचने का उपाय नहीं है। किन्तु जो शस्य (गेहूँ, दाल इत्यादि) उस चक्की की कील के साथ संलग्न रहता है, कील को ही दृढ़रूप से आश्रय करके रहता है, बिन्दुमात्र भी उससे व्यवधान नहीं रखता है उसका और कोई भय नहीं है—चक्की जितनी ही तीव्रवेग से चालित क्यों न हो, कील के आश्रित शस्य को पेषण नहीं कर सकती है। ऐसा ही इस संसार में भगवान् कील है, माया चक्की है और जीव शस्य है। जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य साधन ही माया से बचने का एकमात्र उपाय है, और कोई उपाय नहीं है। 'मामेव' एवं 'प्रपद्यन्ते' इन दो शब्दों के सम्बन्ध में टीकाकारों में कुछ मतभेद है। वह ऐसा है—

(१) मधुसूदन सरस्वती—मामेव—मुझको ही अर्थात् समस्त प्रकार से उपाधिहीन अखंड सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा को, प्रपद्यन्ते—अनेक जन्मों के सुकृति के फलस्वरूप वेदान्त वाक्य श्रवणादि के पश्चात् निदिध्यासन परिपक्व होने से जो सकलप्रकार के अज्ञान तथा तत्कार्य को विरोधिनी निर्विकल्प साक्षात्रूप शुद्धचिदाकारत्वधर्मविशिष्ट चित्तवृत्ति का उदय होता है उसके द्वारा मुझको (आत्मा से अभिन्नरूप से) विषयीभूत करता है। किन्तु उनकी टीका के अन्त में भक्त उपासक का पक्ष अवलम्बन कर 'माम्' शब्द का अर्थ सगुण ब्रह्म (ईश्वर) एवं 'प्रपद्यन्ते' शब्द का अर्थ निरन्तर चिन्तन कर दिन यापन करते हैं अर्थात् निरन्तर उपासना अथवा भजन करते हैं, ऐसा निर्देश किया गया है। जो अनन्त सौन्दर्य का सार तथा समस्त कलाओं का आधार हैं, जिनके चरण कमलद्वय की प्रभा सद्य प्रस्फुटित पंकज की शोभा से भी अधिक है, जो सदा वेणु (वंशी) वादन में निरत हैं एवं वृन्दावन क्रीड़ा में आसक्त हैं, जो गोवर्धन नामक गिरिराज को अनायास से उधृत किये हैं, जो शिशुपाल, कंस प्रभृति दुष्टों का निधन किये हैं, जिनके चरणयुगल की शोभा जलधर की (मेघ की) शोभा को हरण करता है, जो ब्रह्मा के द्वारा सृष्ट प्रपंच से (अविद्याकल्पित सृष्टि से) अतीत एवं सर्वदा ही परमानन्द-घनमय स्वरूप में अवस्थान करते हैं, इसप्रकार मुझ भगवान वासुदेव को निरन्तर चिन्ता करते करते दिनरात बिता देते हैं (प्रपद्यन्ते) वे लोग माया के गुण के द्वारा अथवा उस गुण के विकार (कार्य) के द्वारा अभिभूत नहीं होते हैं क्योंकि वे लोग मेरे प्रेमरूप महानद समुद्र में निमग्न रहते हैं। अधिकन्तु वारविलासिनीगण जिसप्रकार क्रोधी तपस्वी के समीप से पलायन

करते हैं उसी प्रकार 'ये महात्मा भगवान के विलासविनोद में निपुण हैं अतः मुझको (माया को) उन्मूलित कर सकते हैं', ऐसी आशंका कर माया इनके निकट से पलायन करती हैं (मायाम् एतां ते तरन्ति)। अतः जो व्यक्ति माया को पार करने के इच्छुक हैं वह इसप्रकार से ही मेरी निरन्तर चिन्ता करेंगे, यही भगवान के कहने का अभिप्राय है। **मामेव ये प्रपद्यन्ते**—(क) मधुसूदनी टीका में 'मामेव प्रपद्यन्ते' इस पद का दो प्रकार का अर्थ अनेक के निकट दुर्बोध हो सकता है किन्तु यह श्रुति तथा स्मृति शास्त्रसम्मत है। प्रथम अर्थ ज्ञानी को लक्ष्य कर कहा गया है एवं द्वितीय अर्थ भक्तों को लक्ष्य कर कहा गया है—यही भेद है।

गीता में भी स्थान स्थान में मुक्तिलाभ के लिए सर्वप्रपंचरहित सर्वोपाधिशून्य निर्गुण निर्विशेष शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा की उपासना विहित हुई है (गीता १२।३-४) किन्तु जबतक लेशमात्र भी देह में आत्मबुद्धि रहती है तबतक ऐसी उपासना क्लेशकर होती है (गीता १२।५)। इसलिए ही सर्व-शक्तिमान एवं सर्वकल्याण के आधार सगुण भगवान की उपासना करके भी कैसे भक्तगण माया को उत्तीर्ण कर सकते हैं, वह भी गीता के स्थान स्थान में वर्णन किया गया है। भक्त सगुण भगवान को उपासना करने पर भी ब्रह्मा के द्वारा सृष्ट प्रपंच के अतीत परमानन्दघन मूर्तिको ही पारमार्थिक वस्तु मानकर उपासना करते हैं।

अतः ज्ञानी की लक्ष्य वस्तु तथा भक्त को लक्ष्य वस्तु एक ही हैं, अर्थात् माया से विलक्षण शुद्धचैतन्य ही हैं। माता का बाह्य शरीर कितना भी परिवर्तित क्यों न हों, माता वस्त्र अलंकारादि के द्वारा भूषित हो या न हो, पुत्र के निकट जैसे माता (मातृत्व) सदा एक ही रूप से प्रतीत होती है, उसी प्रकार ज्ञानी तथा भक्त के निकट भी भगवान एक ही रहते हैं, अर्थात् मायारचित सर्व मिथ्या प्रपंच की जो अधिष्ठान सत्ता सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा हैं, वही दोनों की लक्ष्य वस्तु है। अतः मायामयी संसार से मुक्ति-रूप फल की प्राप्ति दोनों के द्वारा समरूप से ही होती है--प्रश्न हैं 'ज्ञान के बिना तो अज्ञान अथवा माया को अतिक्रमण (विनाश) करना संभव नहीं हैं ?' इसके उत्तर में कहा जायगा कि ज्ञान के बिना अज्ञान का नाश असंभव है। यह सत्य है, किन्तु सगुण ब्रह्म की उपासना उस ज्ञान-लाभ का ही सहज सोपान हैं—चूँकि जो परमकारुणिक सुहृद (गीता ५।२१) भगवान आत्माके रूप में सर्वभूतों के हृदय में सदा ही विद्यमान हैं, उन्हीं की अपार कृपा से भक्त को ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, इसे भगवान स्वयं ही कहेंगे (गीता १०।१०-११, १४।१६)।

(ख) वेंकट नाथ, ब्रह्मानन्द गिरि की टीका में—'मामेव-प्रपद्यन्ते' पद का अर्थ सगुण (ईश्वर की ही) उपासना रूप से ग्रहण किया गया है।

(ग) नीलकंठ—मामेव—मुझको अर्थात् सर्वभूतस्थ भगवान वासुदेव (चिन्मात्र) को प्रपद्यन्ते—विषय करते है अर्थात् आत्मभाव से अनुभव करते हैं [जो लोग ऐसा अनुभव करते हैं वे लोग ही इस मिथ्या ऐन्द्रजालिक माया का अतिक्रमण कर सकते हैं क्योंकि अधिष्ठान के ज्ञान से अविद्यारूप भ्रम का समूल उच्छेद होना सम्भव है—और किसी ज्ञान के द्वारा अथवा केवल (बलपूर्वक) वृत्तिनिरोध के द्वारा माया की निवृत्ति सम्भव नहीं है]।

(घ) शंकरानन्द—माम् एव—तैत्तिरीय श्रुति में कहा गया है 'जब यह अदृश्य (अविकारी एवं अविषय), अशरोर, शब्द का अतीत, अनाश्रय (अपने से भिन्न दूसरा कोई आश्रय जिसका नहीं है, ऐसा) सर्वकार्य व धर्म से विलक्षण ब्रह्मस्वरूप में अभिन्नरूप से प्रतिष्ठा (स्थिति) प्राप्त करते हैं तब वह ब्रह्मवित् अविद्याकृत सर्व संसारभय से मुक्त हो जाते हैं क्योंकि सर्वत्र आत्मा भिन्न और कुछ उनकी दृष्टि में नहीं रहने के कारण एवं अपनी आत्मा से किसी के भी भय का सम्भव न होने के कारण वे अभय अर्थात् मोक्षपद को प्राप्त होते हैं। किन्तु जो इस ब्रह्म से स्वल्पमात्र भी अपने में भेद दर्शन करते हैं वे (अविद्या के वश रहने के कारण) भय प्राप्त होते हैं।

सगुण ब्रह्म की उपासना के द्वारा भी क्रममुक्ति प्राप्त होती है, यह भी शास्त्र तथा युक्ति के द्वारा सिद्ध होता है। जो लोग सगुण परमेश्वर की अनन्य भक्ति से निरन्तर उपासना करते हैं उनलोगों की उपासना परिपक्व होने से चित्तवृत्ति निरन्तर भगवान् के विशेष प्रतीक में (मूर्ति में) अथवा भाव में स्थिरता प्राप्त होती है एवं उसके फलस्वरूप उनके चित्त का लय होकर निःसंकल्पावस्था प्राप्त होती है। ऐसी अवस्था में चित्तवृत्ति का निरोध होता है और तब द्रष्टा (आत्मा) अपने स्वरूप में अवस्थान करता है। ऐसी अवस्था में माया तथा उसका कार्य कुछ भी नहीं रहता है, एकमात्र शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा अपने आप को अनुभव करती है। इसे ही आत्मदर्शन, आत्मसाक्षात्कार, सम्यग् दर्शन (अथवा तत्त्वज्ञान—प्राप्ति) कहा जाता है। इसलिए श्रीधर-स्वामी ने अपनी टीका में कहा है कि 'सगुण ईश्वर की उपासना के बाद आत्मा को (अर्थात् शुद्धचैतन्य स्वरूप ब्रह्म को) जान सकते हैं'। [कहने का तात्पर्य यह है कि वैराग्य तथा दृढ़ अभ्यासपूर्वक अनन्या भक्ति से सगुण ब्रह्मोपासना करने से साधन की परिपक्वावस्था में चित्तवृत्ति ध्येय वस्तु में

स्थिर होने पर मनोनाश होता है अर्थात् साधक काम तथा संकल्परहित होते हैं। अतः कल्पना नहीं रहने के कारण कल्पित जगत् अथवा माया के कार्य का अदर्शन होता है अर्थात् माया से वे उत्तीर्ण होते हैं। उसके बाद (अर्थात् माया का आवरण तथा विक्षेपरूप कार्य और न रहने से) भगवान् का यथार्थ शुद्धचैतन्यस्वरूप का साक्षात्कार होता है एवं इसप्रकार से सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही है साधना का क्रम]।

[तुम्हारे आश्रय लेने पर ही जब सभी लोग माया से उद्धार पाते हैं तो सभी लोग क्यों तुम्हारा आश्रय ग्रहण नहीं करते ? अनेक जन्मों से संचित पापरूप प्रतिबन्धक विद्यमान रहने के कारण वे लोग मुझको आश्रय नहीं करते, यही भगवान् अब कह रहे हैं—]।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

अन्वयः—मायया अपहृतज्ञानाः आसुरं भावम् आश्रिताः दुष्कृतिनः मूढाः नराधमाः मां न प्रपद्यन्ते।

अनुवाद—माया द्वारा जिन लोगों का ज्ञान अपहृत हुआ है एवं जो लोग आसुरिक भाव प्राप्त हुए हैं इस प्रकार के दुष्कृतिशाली एवं मूढ नराधम-(पापिष्ठगण) मुझको भजन (आश्रय) नहीं करते।

भाष्यदीपिका मायया अपहृतज्ञानाः—जिनलोगों का ज्ञान अर्थात् अपने स्वरूप का ज्ञान (मैं जीव नहीं हूँ, मैं जन्ममरणरहित सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म हूँ, इस प्रकारका ज्ञान) माया द्वारा अपहृत अर्थात् तिरस्कृत हुआ है जिन का ज्ञान वे। माया का अर्थ है अज्ञान (मोह) आवरण-शक्ति द्वारा माया वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने नहीं देती एवं विक्षेपशक्ति द्वारा जो नहीं है वही प्रतीत कराती है अर्थात् विपरीत बुद्धि उत्पन्न कराती है जीव ब्रह्म स्वरूप होते हुए भी माया की आवरण-शक्तिक प्रभाव से अपना यथार्थस्वरूप (ब्रह्म स्वरूप) भूल कर एवं विक्षेपशक्ति के प्रभाव से भ्रमवश देहेन्द्रियादि-संघात में "यही मैं हूँ" इस प्रकार तादात्म्याभिमान कर देहेन्द्रियादि का तृप्ति साधन ही जीवनकी एकमात्र लक्ष्य वस्तु निर्णय करते हैं। इस प्रकार मायावशीभूत होकर वे लोग ज्ञान (अनात्म वस्तु से आत्मा का विवेक अर्थात् पृथक् करने का सामर्थ्य) खो बैठते है। इसलिए वे लोग 'अपहृत-ज्ञान' कहे जाते हैं।

आसुरं भावम् आश्रिताः—विरोचनादि असुरगण जिस प्रकार देह ही

आत्मा है इस देह को ही महीयान करना होगा (आत्मैवेहमहय्यः छा० उ० ८।८।४) इस प्रकार के भाव अवलम्बन किए थे—उस प्रकार के आसुरी अर्थात् जीवों में १६।४ श्लोक में जिस प्रकार कहा जायगा उन सब दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य (कठोर वचन) अज्ञान इत्यादि आसुर भावको जो लोग आश्रय करते हैं वे लोग। [उन सब आसुरभाव का परिणाम क्या है ? वह गीता के षोड़शाध्याय में विस्तृतरूप से वर्णित है] अब प्रश्न होगा कि जीव ही तो माया के प्रभाव से आत्मा का स्वरूपज्ञान विस्मृत होकर संसार-चक्र में भ्रमण कर रहा है तब क्या माया द्वारा ज्ञान अपहृत होने पर ही जीव आसुरभाव प्राप्त होता है ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है नहीं, माया द्वारा रचित इस जगत् में दो श्रेणी के व्यक्ति मिलते हैं—एक श्रेणी दैवी सम्पत्ति सम्पन्न होते हैं (अर्थात् पूर्व जन्मों का बहु पुण्य संचित रहने के कारण जो लोग अहिंसा, सत्य इत्यादि दैवीसम्पत्ति को आश्रय करते हैं क्योंकि वे दैवीसम्पत् आत्मज्ञान लाभ करने के लिए सहायक होकर मोक्ष प्राप्ति का हेतु होती हैं)।

दूसरी श्रेणी आसुरी सम्पत् सम्पन्न होते हैं अर्थात् वे लोग देहादि में आत्मबुद्धि कर देहादि के आप्यायन (तृप्तिसाधन) के लिए ही व्यापृत (फँसे) रहते हैं एवं देह का प्रतिकूल जो कोई भी क्यों न हो उसकी हिंसा करते रहते हैं अथवा मिथ्याचरण द्वारा पराजित करने के लिए चेष्टा करते हैं। अतः संसारबन्धन से उनलोगों की मुक्तिलाभ करना तो दूरकी बात ही है। वे क्रमशः अधः से अधः (नीचे से नीचे) गतिप्राप्त होते हैं (गोता १६।६-२०) किस कारण से वे लोग इस प्रकार आसुर-भावापन्न होते हैं ? अब कहते हैं—

दुष्कृतिनः—पूर्व पूर्व जन्मों का संचित पाप—संस्कार के कारण उनलोगों की पाप में ही रुचि रहती है। अतः वे सदैव पापकर्म करते रहते हैं। प्रश्न होगा कि पापाचरण करने से बाद में दुःखभोग करना होगा एवं उससे जीवन में अकल्याण साधित होगा यह बुद्धि तो उनलोगों की है ही, तब भी वे लोग इस प्रकार क्यों करते हैं ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है— नहीं, उनलोगों की बुद्धि नही है कारण वे लोग मूढाः—हिताहित-विवेकशून्य होते हैं अर्थात् इससे हित (परमपुरुषार्थ मोक्ष) साधित होगा एवं इससे अहित (अनर्थ) होगा, वे इस प्रकार के विचार से शून्य (विचार करने में असमर्थ) हैं। यह असामर्थ्य पाप के संस्कार से ही उत्पन्न होता है। अतः वे पुनः पुनः (बारंबार) पाप कर्म में प्रवृत्त होकर और भी अधिक आसुर-भावापन्न होते हैं।

नराधमाः—चूँकि वे लोग मूढ़ दुष्कृतिशाली एवं आसुरभावापन्न हैं, अतः मनुष्यों में वे लोग अधम हैं अर्थात् निकृष्ट हैं। कारण कि प्रथमतः उनलोगों का मनुष्य जन्म विफल होता है क्योंकि मनुष्य जीवन का परम-पुरुषार्थ (मोक्ष) लाभ उनलोगों के लिए कभी भी सम्भव नहीं होता; द्वितीयतः इहलोक में साधु व्यक्तिगण द्वारा वे लोग निन्दित होते हैं एवं तृतीयतः परलोक में उनलोगों के अनेक अनर्थ (नीचयोनि में जन्म इत्यादि) भोग करना पड़ता है। अतः इस प्रकार के व्यक्तिगण **न मां प्रपद्यन्ते**—मुझको अर्थात् अद्वितीय, सर्वेश्वर सबके आत्मभूत परब्रह्म को प्राप्त नही करते हैं (अर्थात् आश्रय नही करते—निरन्तर अनुचिन्तन नही करते)। अनेक जन्मों के संचित पापरूप प्रतिबन्धक विद्यमान रहने के कारण वे लोग मेरे शरणापन्न हो नहीं सकते।

अहो ! उनलोगों का क्या दुर्भाग्य एवं माया की क्या अद्भूत महिमा है ! माया एवं माया के कार्य द्वारा (विषय समूह द्वारा) उनलोगो का ज्ञान (विवेकज्ञान) अपहृत (नष्ट) होने के कारण ही वे लोग इस प्रकार होते हैं। अतः जो लोग इस मायासृष्ट संसारजाल से मुक्तिलाभ करने की इच्छा करते हैं उनलोगों को इस माया का अतिक्रमण करना ही होगा—यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—[तब क्यों सभी तुमको प्राप्त नहीं करते ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है—]

नराधमाः मां न प्रपद्यन्ते—मनुष्यों में जो अधम हैं वे मुझको प्राप्त नहीं होते अर्थात् मेरे प्रपन्न (शरणागत) नहीं होते हैं। वे अधम हैं, क्योंकि वे **मूढ़ाः**—विवेकशून्य हैं। मूढ क्यों होते हैं ? कारण वे लोग **दुष्कृतिनः**—पापशील हैं। इस कारण से शास्त्र एवं आचार्य के द्वारा उपदिष्ट होकर परोक्ष ज्ञान प्राप्त होने पर भी **माययापहृतज्ञानाः**—माया से उनका वह ज्ञान अपहृत (निरस्त अर्थात् नष्ट) हो जाता है। अतः **आसुरं भावम् आश्रिताः**—दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध पारुष्य (कठोरता) इत्यादि आगे कहे जानेवाले (गीता १६।४) आसुरभाव (स्वभाव) को प्राप्त होने के कारण वे लोग मुझको प्राप्त नहीं करते।

(२) शंकरानन्द—यदि शंका हो कि तुम्हारी उपासना से सभी अनर्थों के कारण (अनर्थों के उत्पादक) माया का अतिक्रमण कर सकता है तो महापण्डित मीमांसक, तार्किक आदि तुम्हारी उपासना क्यों नहीं करते ? उत्तर में कहा जा रहा है—'न माम्' आदि—

जो किया जाय वह कर्म है। दुष्कृतिनः—दुष्ट अर्थात् जन्म, मरण आदि दुःखदायक काम्यरूप कर्म जो करते हैं वही दुष्कृती (दुष्कर्मा) हैं। मीमांसक पण्डितगणभी अपहृतज्ञानाः मायया—माया द्वारा अपहृतज्ञान होते हैं अर्थात् कामादिरुपिणी माया के द्वारा उनके सदसद् विवेकरूप ज्ञान अपहृत हो जाता है (नष्ट हो जाता है)। इसलिए आसुरं भावम्—आसुर भाव को 'इदमद्य मया लब्धम्' ('यह आज मैंने प्राप्त किया') इत्यादि १६ अध्याय में १३-१६ श्लोकों मे जैसा कहा गया है उन भाव के आश्रिताः—आश्रित (वशीभूत) होकर वे वेदान्त वाक्यों को कर्म कर्ता का ही स्तुतिपरक (प्रशंसासूचक) मानते हैं अर्थात् आम्नायस्य त्रियार्थत्वात् (वेद के अर्थ (विषय) हैं क्रिया) इस प्रकार मीमांसकों की युक्ति के अनुसार वेदान्त वाक्यों को 'कर्मशेष' मानकर उन सब वाक्यों का तात्पर्य कर्म ही है इस प्रकार स्वीकार कर 'ये सभी वाक्य ब्रह्मविद्या के बोधक हैं' यह विश्वास न कर (उन वाक्यों का) विचार भी नहीं करते। अतः इस अवस्था में मेरे स्वरूप के विषय में ज्ञान कैसे उन्हें प्राप्त होगा ? और मेरे विषय में ज्ञान न रहने से मेरी उपासना का प्रसंग कहाँ से होगा ? इस कारण वे मां न प्रपद्यन्ते—मुझको नहीं प्राप्त होते हैं।

तार्किक और वैशेषिक पण्डित भी (मीमांसक के ही समान) माया के द्वारा अपहृतज्ञान होते हैं। अतः वे लोग भी मूढाः—मूढ़ (विवेक ज्ञान हीन) होकर जगत के उपादान-कारण अणु है, इस प्रकार निर्धारण कर मुझको उपसर्जन कर (त्याग कर) अपने अभिमत अणु आदि पदार्थों के ज्ञान से ही मुक्ति मिलेगी, इस प्रकार अभिमान से मेरे स्वरूपविषयक ज्ञान का विचार न करने के कारण मुझको प्राप्त नहीं करते हैं। अन्यान्य चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि नराधमाः (न प्रपद्यन्ते)-नराधमगणभी मुझको प्राप्त नही करते हैं, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—(क) कौन तुम्हें (परमात्मा को) प्राप्त नहीं करते और क्यों नहीं करते हैं ? इसके उत्तर में भगवान कह रहे हैं—मनुष्यों में जो अधम हैं (निकृष्ट हैं) वे मुझको प्राप्त नहीं करते (मेरे शरणापन्न होकर मुझको निरन्तर अनुस्मरण नहीं कर पाते)। उनकी अधमता का कारण क्या है ? वे मूढ—हैं अर्थात् विचार शून्य (यह हमारा कल्याण का साधन है और इससे हमारा अकल्याण होगा इस प्रकार की विचार शक्ति रहित) होने के कारण वे अधम (निकृष्ट) जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी मूढ़ता का कारण क्या है ? वे लोग 'दुष्कृतिनः' अर्थात् पापशील हैं

(निरन्तर दुष्ट कार्य करने में लिप्त रहते हैं)। पापशील होने के कारण यह है कि वे लोग मूढ़ होते हैं कारण पाप ही बुद्धि को मलिन और विचारहीन कर देता है। मलिन वस्त्र में जिस प्रकार रंग नही लग सकता उस प्रकार शास्त्र और आचार्य के उपदेशजनित ज्ञान को उनलोगों की बुद्धि ग्रहण करती है फिर भी उस ज्ञान की स्थिति नहीं होती है कारण उनका वह ज्ञान माया के द्वारा अपहृत (निरस्त) होता है अर्थात् मायाजनित विषय समूह के द्वारा मोहित होकर उनका आत्मविषयक ज्ञान विस्मृत हो जाता है। इस प्रकार माया के वशीभूत होकर मुझसे (नित्यबुद्धमुक्तस्वभाव आत्मस्वरूप से) वे लोग विच्युत होते है। अतः वे लोग मुझको प्राप्त नही करते। दम्भ, दर्प, क्रोध आदि आसुरभाव को आश्रय कर उनकी मलिन विवेकहीन बुद्धि पाप में ही रुचि रखती है अतः वे पाप कर्म ही करते हैं और अधम से अधम गति ही प्राप्त होते हैं।

(ख) वेंकटनाथ ब्रह्मानन्दगिरि ने इस प्रकार व्याख्या की है—दुष्कृतिशाली (पापकारी) लोग मुझको प्राप्त नहीं करते हैं यही प्रधान वक्तव्य विषय है। इन पापों के तारतम्य के कारण चार प्रकार के दुष्कृतिशाली व्यक्ति होते हैं—

(१) मूढ़ाः—जो सभी प्रकार से मेरे (परमेश्वर के) स्वरूप-ज्ञानशून्य हैं।

(२) नराधमाः—जिनका मेरे स्वरूप संबन्ध में ज्ञान रहने पर भी मुझपर आग्रह (श्रद्धा व प्रेम) नहीं है।

(३) माययापहृतज्ञानाः—मेरे स्वरूप सम्बन्ध में ज्ञान रहने पर भी कूट युक्ति के प्रभाव से जिनके चित्त असम्भावना रूप संशय से ग्रस्त हैं अर्थात मुझको आश्रय करने से ही मायामग्न संसार से मुक्तिलाभ हो सकता है यह जो लोग असम्भव ही समझते हैं।

(४) आसुरभावमाश्रिताः—मेरे स्वरूप सम्बन्ध में सुदृढ़ ज्ञान रहने पर भी (बहुजन्मार्जित पापों के कारण) जिनके हृदय में मेरे प्रति रुचि नही रहकर द्वेषभाव ही रहता है। इन चार प्रकार के पापकारी उत्तरोत्तर अधिक नराधम होते हैं। किन्तु इस प्रकार की व्याख्या समीचीन नही है कारण अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी भगवान के भजन से नित्यशान्ति (मोक्ष) प्राप्त हो सकते हैं यह गीता मे अन्यत्र (गीता ९।३०-३२) कहा गया है। अतः इस श्लोक में चार प्रकार के पापी व्यक्तियों के वर्णन का अभिप्राय भगवान् का नही है किन्तु जो लोग (क) माया द्वारा (अज्ञान द्वारा) वशीभूत होकर

देह में ही आत्मबुद्धि कर अपने स्वरूप से विशेषभाव से विच्युत हुए हैं और साथ साथ (ख) आसुरभावापन्न (ग) पापाचारी (घ) मूढ़ और (ङ) उस प्रकार के होने के कारण नराधम जैसा माने जाते हैं अर्थात् जो लोग इन पांच प्रकार के दोषों से ही दूषित हैं वे लोग कभी भी भगवान् को भजन (आश्रय) नहीं कर पाते हैं यही कहने का अभिप्राय है। इन पांच प्रकार के दोष बहुकाल से संचित पापों से ही होते हैं और वे संचित पाप ही भगवद्-भजन में या भगवान् में शरणापन्न होने के रास्ते में सबसे बड़ा प्रतिबन्धक होते हैं। भगवान् ७।२८ श्लोक में भी इस प्रकार ही कहेंगे।

[तब कौन तुम्हारा भजन करते हैं ? उत्तर में कहते हैं, जो सुकृतिशाली (पुण्य कर्मकारी लोग मेरा ही भजन करते हैं, सुकृति के तारतम्य के अनुसार उन्हें चार प्रकार से विभक्त किया जाता है—]

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे भरतर्षभ अर्जुन ! आर्तः जिज्ञासुः अर्थार्थी ज्ञानी च चतुर्विधाः सुकृतिनः जनाः मां भजन्ते।

अनुवाद—हे भरतकुल श्रेष्ठ अर्जुन ! आर्त (आपदुग्रस्त या पीड़ित), तत्त्वजिज्ञासु, अर्थार्थी (इहलोक या परलोक के भोगों के लिए इच्छुक) और ज्ञानी इन चार प्रकार के सुकृतिशाली (पुण्यात्मा) व्यक्तिगण मेरा भजन करते हैं।

भाष्यदीपिका—हे भरतर्षभ अर्जुन ! तुम परम सुकृतिशाली भरतवंश के श्रेष्ठ पुरुष हो एवं स्वयं अर्जुन अर्थात् शुद्धबुद्धि भी हो। अतः तुम मेरे भक्त होओगे एवं एकमात्र मुझको ही आश्रय करोगे इस विषय में और संदेह करने को क्या है ? यही सूचित करने के लिए भगवान ने अर्जुन को 'भरतर्षभ' कहकर सम्बोधन किया है। आर्तः—कोई-कोई आर्त होकर अर्थात् तस्करादि, व्याघ्रादि अथवा रोगादि द्वारा अभिभूत (आपदुग्रस्त) होकर उनसे मुक्तिलाभ करने के लिये मेरा भजन करते हैं; जैसे इन्द्रकोपजनित (इन्द्र के कोप से उत्पन्न) वर्षा से रक्षा पाने के लिये ब्रजवासियाँ, कुरुसभा में वस्त्राकर्षण के समय द्रौपदी, ग्राहग्रस्त (ग्राह से ग्रस्त) गजराज, जरासन्ध के कारागार में बद्ध राजगण आर्त होकर मेरे ही शरणापन्न हुये थे।

जिज्ञासुः—कोई-कोई जिज्ञासु होकर अर्थात् मेरी कृपा से आत्मतत्त्व

अथवा भगवत्‌तत्त्व जानने की इच्छा कर मेरी सेवा करते हैं,—जैसे मुचुकुन्द, मिथिला के राजा जनक, श्रुतदेव, उद्धव प्रभृति मेरा भजन किये थे।

अर्थार्थी—'अर्थ' शब्द के अर्थ धन अथवा भोग के उपकरण हैं और अर्थी शब्द का अर्थ प्रार्थी। कोई-कोई अर्थार्थी होकर अर्थात् धन की कामना कर अथवा इहलोक में एवं परलोक में भोग के उपकरण के (सामग्री के) प्रार्थी होकर अर्थात् इहलोक में स्त्री वित्त आदि एवं परलोक में स्वर्गसुख (इन्द्र के स्थान, अप्सरा सुख प्रभृति) लाभ करने के लिये इच्छुक होकर हमारी सेवा करते हैं, जैसे सुग्रीव, विभीषण उपमन्यु प्रभृति ने इहलोक में भोगकामना कर मेरी सेवा की थी एवं परलोक में भोग के लिये राजा लोग अश्वमेधादि यज्ञादि द्वारा मेरा भजन करते हैं) आर्त, जिज्ञासु एवं अर्थार्थी इन तीन श्रेणी के लोग मेरे सकाम भक्त हैं। इन तीनों प्रकार के व्यक्ति ही ईश्वरकी उपासना कर माया से उत्तीर्ण हो सकते हैं। उनमें जो व्यक्ति जिज्ञासु है उसका शीघ्र ही ज्ञानोदय होता है अतः वे साक्षात् माया से उत्तीर्ण होते हैं और जो लोग आर्त्त और अर्थार्थी हैं वे निष्काम कर्म से चित्तशुद्धि लाभ कर पश्चात् जिज्ञासु होते हैं और तदन्तर तत्त्वज्ञान प्राप्त करके वे मायाको अतिक्रम करते हैं (तर जाते हैं)। इनसे विलक्षण अन्य निष्काम भक्त हैं ज्ञानी च ज्ञानी अर्थात् विष्णु के (सर्वव्यापी परमात्मा के) तत्त्व को जो जान चुके हैं वे ज्ञानी शब्द के अर्थभाष्य में "विष्णु को तत्त्ववित्" कहा गया है। आनन्दगिरि की टीका में इस स्थान पर 'तत्त्ववित्' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है "शब्दज्ञानवान् आत्मतत्त्व-साक्षात्कारमात्रार्थी मुमुक्षुरित्यर्थः" अर्थात् जो शास्त्र से विष्णु के (परम ब्रह्म के) तत्त्व या स्वरूप को परोक्ष भाव से जान चुके हैं (ब्रह्म हैं—यह बोध निश्चय कर परोक्ष ज्ञान लाभ किये हैं) एवं उसके पश्चात् अन्य सभी विषयों की कामना से निवृत्त होकर भगवत् कृपा से केवल आत्मतत्त्व का साक्षात्कार लाभ करने के लिये (ब्रह्म और आत्मा के ऐक्यरूप तत्त्व—'मैं ही वह विष्णु या ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपरोक्ष अनुभव (साक्षात्कार) के लिये) जो मुमुक्षु अनन्य भक्ति से भगवान् के शरणापन्न हुये हैं वे यहाँ 'ज्ञानी' शब्द के वाच्य हैं मधुसूदन सरस्वती एवं वेंकटनाथ कहते हैं—ज्ञान शब्द का अर्थ 'भगवान् का तत्त्व साक्षात्कार' है अर्थात् तत्त्वसाक्षात्कार के पश्चात् जो नित्य (सदा ही) मुक्त रहता है, अतः जिसने सर्वकामना रहित होकर माया का अतिक्रम किया है वह ही ज्ञानी है। 'च' शब्द द्वारा निष्काम प्रेमी भक्त भी ज्ञानी में अन्तर्भुक्त है, वह सूचित हो रहा है कारण निष्काम प्रेमी भक्त के किसी चीज के लिए

(तत्त्वज्ञान के लिये भी) कामना न रहने पर भी भगवत् कृपा से स्वतः ही उनका ज्ञान लाभ हो जाता है (गीता १०।१०-११ द्रष्टव्य) निष्काम भक्त ज्ञानी का उदाहरण है सनकादि महर्षि, नारद, प्रह्लाद, शुकदेव प्रभृति निष्काम शुद्ध प्रेमभक्तों के उदाहरण हैं—व्रज गोपिका अक्रूर, युधिष्ठिर प्रभृति। कंस, शिशुपाल प्रभृति व्यक्ति गण भय अथवा द्वेषवशतः भगवत्चिन्ता में निरन्तर युक्त रहने पर भी उनको भक्त नहीं कहा जा सकता कारण उनका भगवान् के प्रति अनुराग नहीं था।

मधुसूदन सरस्वती प्रभृति के मतानुसार ज्ञानी शब्द का अर्थ ग्रहण करने से प्रश्न होगा—उस भगवत् तत्त्व को साक्षात्कार कर जो माया का अतिक्रम किये है उनसे फिर भगवत्भजन कैसे सम्भव है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है—ज्ञानी के निकट अज्ञान (माया) और उसका कार्य जो विश्वप्रपंच है वह सभी मिथ्या प्रतीत होने पर भी विदेह मुक्तिलाभ नहीं करने तक प्रारब्धवश द्वैत-व्यवहार रहता है और इस कारण कृतकृत्य तत्त्व-ज्ञानीयों का भी भगवत्-भजन सम्भव होता है इसलिये भागवत में कहा गया है–"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अत्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहेतुकीं भक्तिमित्थंभूत-गुणो हरिः॥' (भागवत १।७।१०) अर्थात् जिनलोगों की अविद्याग्रन्थि खुल गयी है एवं जो लोग सर्वदा आत्मा में ही रमण करते हैं इस प्रकार के ज्ञानी व्यक्ति भी भगवान् में बिना हेतु के अर्थात् स्वभावतः ही भक्ति करते हैं क्यों कि भगवान का गुण ही (स्वरूप ही) ऐसा है अर्थात् सर्वभूतों की आत्मा होने से भगवान् सभी के प्रियतम है अतः जो लोग उनके स्वरूप विशेष रूप से जान चुके हैं उनके चित्त सदा ही उन्ही में आकृष्ट रहते हैं। शंकरानन्द कहते हैं—ज्ञानी शब्द का अर्थ है ब्रह्मवित् जिनको तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ है (अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपरोक्ष साक्षात्कार के बाद जिनके तत्त्वज्ञान का उदय हुआ है वे) किसी-समय के लिये भी वह ज्ञान जिससे खंडित न होकर निरन्तर अप्रतिबद्ध (अक्षुण्ण) रहे उस उद्देश्य से ब्रह्मवित् पुरुष मेरे निर्गुण स्वरूप को सदा ही भजन करते हैं, यही भगवान् कह रहे हैं। शंकरानन्द का अभिप्राय यह है कि ज्ञान उत्पन्न होने पर भी जब तक मनोनाश और वासना क्षय न हो तब तक ज्ञान में निष्ठा (अर्थात् आत्मस्वरूप ब्रह्म में निरन्तर स्थिति) नहीं होती है। अतः ज्ञान निष्ठा के लिये (जीवन्मुक्तावस्था लाभ करने के लिये) तत्त्वज्ञानी, शुद्धचैतन्य स्वरूप भगवान् को अनन्य भक्ति से निरन्तर अनुचिन्तन कर नित्ययुक्त रहते है। इस प्रकार के भक्त को ही यहाँ ज्ञानी भक्त कहा गया है—एवं इसप्रकार के

ज्ञानी को लक्ष्य करके ही परवर्ती श्लोक में 'नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' ऐसा कहा गया है।

आनन्दगिरि के अनुसार ज्ञानी शब्द का अर्थ है 'परोक्ष ज्ञानी' परन्तु केवल परोक्षज्ञानी होने से ही 'नित्ययुक्तः एकभक्तिः' होगा इस प्रकार की कोई निश्चयता नहीं है। अतः इस प्रकार का अर्थ करने पर आनन्दगिरि ने परवर्ती श्लोक की जिस प्रकार टीका किया है उसके साथ भी विरोध उपस्थित होगा।

मधुसूदन सरस्वती ने 'ज्ञानी' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—"ज्ञानं भगवत् तत्त्वसाक्षात्कारः तेन नित्ययुक्तज्ञानी तीर्तमायो निवृत्तसर्वकामः" अतः उनके मतमें ज्ञाननिष्ठ मायातीत (त्रिगुणातीत) योगी ही ज्ञानी है। परन्तु १४ वें श्लोक में जिस माया के विषय में कहा गया है उस मायाको उत्तीर्ण करने के उद्देश्य से जो लोग भगवान् का भजन नहीं करते उन लोगों का प्रसंग ही वर्तमान श्लोक में चल रहा है। अतः मायातीत पुरुष को लक्ष्य करते हुए भगवान् ने यहाँ 'ज्ञानी' शब्द का प्रयोग किया है यह समीचीन (युक्तियुक्त) नही प्रतीत होता है, कारण पहले दो श्लोकों के साथ वर्तमान श्लोक की संगति नहीं रहती है। अतः ज्ञान शब्द की शंकरानन्द ने जो व्याख्या की है वही भाष्य के अनुकूल एवं युक्तिसंगत दिख पड़ती है। श्रुति में भी ब्रह्मविद् का प्रज्ञाकरण [ब्रह्म को विशेष रूप से जानकर प्रज्ञा में अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में निष्ठालाभ (स्थितिलाभ) करने का अभ्यास] विहित है यथा—'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृह० उ०) **चतुर्विधाः**—उक्त चारों प्रकार के **सुकृतिनः**—पुण्यकर्मा व्यक्तिगण अर्थात् पूर्व जन्म में और इस जन्म में शास्त्रविहित कर्म के अनुष्ठान द्वारा बहु पुण्य संचय कर जिन लोगो ने जन्म सार्थक किया है इस प्रकार के **जनाः**—नरोत्तम अर्थात् मनुष्यों में श्रेष्ठ व्यक्तिगण **मां भजन्ते**—मेरे (परमेश्वर के) भजन करते हैं (मेरी सेवा करते हैं), अन्य व्यक्तिगण नहीं। [आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी मेरी स्वगुण रूप से (ईश्वर रूप से) उपासना करते हैं एवं ज्ञानी निर्विशेष परब्रह्मस्वरूप मुझको आत्मा से अभिन्न जानकर उनमें ही निरन्तर समाहित रहने का अभ्यास करते है। यही यहां तीनों श्रेणियों से ज्ञानी भक्त के भजन की विशेषता है। परवर्ती श्लोक में यही और भी स्पष्ट कर कहा जा रहा है। प्रश्न होगा कि सुकृतिशाली न होने पर जिज्ञासु (आत्म तत्त्वज्ञान लाभ करने में इच्छुक) एवं ज्ञानी (आत्मतत्त्वविद्) होना सम्भव नहीं है यह मान लिया परन्तु आर्त एवं अर्थार्थी को सुकृतशाली क्यों कहा गया है ? आर्त होकर वैद्य अथवा राजकर्मचारी इत्यादि की सहायता के लिये प्रार्थना न कर एवं अर्थार्थी होकर

केवल अपने पुरुषकार अथवा अहंकार के ऊपर निर्भर न रह कर वे लोग भगवान् का ही भजन करते हैं अर्थात् उनके ही शरणापन्न होते हैं यही उनलोगों की पूर्व जन्मकृत सुकृति का (अर्थात् अनेक काल से संचित पुण्य कर्म का फल है यही कहने का अभिप्राय है (नारायणी टीका)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—जो सुकृतिशाली (पुण्यकर्मकारी) हैं वे लोग मेरा भजन करते हैं परन्तु वे भी सुकृति के तारतम्य के अनुसार चार प्रकार के होते हैं) यही अब कहते हैं—

अर्जुन ! सुकृतिनः जनाः मां भजन्ते—हे अर्जुन ! पूर्व जन्मों में जिन्होंने पुण्यकर्म किया है ऐसे व्यक्तिगण मेरा भजन करते हैं। ते तु चतुर्विधाः—परन्तु वे भी चार प्रकार के हैं आर्तः—रोग आदि से आक्रान्त—यदि वह पूर्वजन्म में पुण्य कर्म करनेवाला रहा हो तो वे मेरा भजन करते हैं। और यदि इस प्रकार नहीं हो तो क्षुद्र देवताओं के भजन में तत्पर होकर संसार-चक्र में भ्रमण करते रहते हैं। इसी प्रकार जिज्ञासु एवं अर्थार्थी के संबंध में भी समझना होगा अर्थात् पूर्वजन्म के संचित पुण्य फल न रहने से जिज्ञासु या अर्थार्थी होकर भी मेरा भजन नहीं करते हैं। जिज्ञासुः—आत्मज्ञान लाभ करने में इच्छुक अर्थार्थी—इहलोक अथवा परलोक में भोग साधनरूप अर्थों का (विषयों का) लोभी ज्ञानी—आत्मा को जो लोग जान लिये हैं (ब्रह्मवित्) [पूर्व श्लोको में कहा गया है कि मीमांसक, नैयायिक इत्यादि बड़े बड़े पण्डित भी माया से विभ्रान्त होकर मेरा भजन नहीं करते हैं]। अब शंका होगी—

(२) शंकरानंद—यदि महापण्डित भी इस प्रकार है, तो तुम्हारा कौन भजन करता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जो शुद्धात्मा शास्त्र से और गुरु से मेरे तत्त्व को श्रवण कर मुझको ही सर्वार्थदाता (सभी प्रयोजनों की सिद्धिदाता) एवं सर्वेश्वर जानते हैं, वे मेरा भजन करते हैं तथापि मेरा भजन करनेवालों में भेद है ऐसा कहते हैं—

सुकृतिनः—सुकृतिशाली पुरुषगण इह जन्म और पूर्ववर्ती बहुजन्मों के 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (मनुष्य अपने कर्म के द्वारा उनकी अर्थात् परमेश्वर की अर्चना कर सिद्धि प्राप्त होते हैं) इत्यादि शिक्षा शास्त्रों से और शास्त्र के अर्थों के ज्ञाता गुरु से लाभ कर ईश्वरार्पण बुद्धि से मन्त्र तन्त्र आदि के लोप जैसे न हो उसप्रकार (अर्थात् शास्त्रीय मन्त्रतन्त्रादि-सहित) श्रौत, स्मार्त आदि कर्म जिनके हैं, वे सुकृती अर्थात् सत्कर्मानुष्ठानपर (सत्कर्म करनेवाले) विवेकी पुरुषगण चतुर्विधाः—आर्त आदि भेद से चार

प्रकार के होकर मां भजन्ते—मुझको भजते हैं। उनके प्रकार का वर्णन करते हैं—आर्तः—आर्त अर्थात् आध्यात्मिक आदि उपद्रवों से निपीड़ित व्यक्ति उन उपद्रवों की निवृत्ति के लिये जिज्ञासुः—नित्य एवं अनित्य पदार्थों के विवेक के द्वारा आत्मतत्त्व को जानने के लिये इच्छुक व्यक्ति मेरे प्रसाद (प्रसन्नता) की सिद्धि के लिये, अर्थार्थी—अर्थ की [अर्थात् इहलोक और परलोक के सुख और उनके साधन की] कामनावाले अपनी कामना की सिद्धि के लिए एवं ज्ञानी—ज्ञानी (ब्रह्मविद्) उत्पन्न हुए ज्ञान की अप्रतिबद्धता की सिद्धि के लिए मेरा भजन करते हैं।

इन चार प्रकार के भक्तों में सगुण, ईश्वर नामक मेरा आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी इन तीनों प्रकार के भक्त भजन करते हैं। परन्तु ज्ञानी परब्रह्म नामक, निर्गुण मेरा भजन करते हैं अर्थात् "यही मैं हूँ" इसप्रकार अपने आत्मरूप से अनुसंधान करते हैं। 'ज्ञानी' इस विशेषण की सामर्थ्य से यह समझना चाहिए।

नारायणी टीका—भाष्यदीपिका द्रष्टव्य [नारायणी टीका भाष्य-दीपिका में सन्निविष्ट है]।

[पूर्व श्लोक में चार प्रकार के पुण्यवान् व्यक्ति भगवान् को भजते हैं, इस प्रकार कहा गया हैं। तब क्या वे लोग सभी एक सा ही है अथवा उन भक्तों में किसी की कोई विशेषता है ? इस प्रकार प्रश्न अर्जुन के मनमें उदित हो सकता है। इसके उत्तर में भगवान् अब बोल रहे हैं कि सुकृति की अधिकता के कारण जो तत्त्ववित् (ज्ञानी) होकर सर्व कर्मरहित हुए है वे ही विशिष्ट (श्रेष्ठ) भक्त हैं]।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

अन्वयः—तेषां नित्ययुक्तः एकभक्तिः ज्ञानी विशिष्यते, हि अहं ज्ञानिनः अत्यर्थं प्रियः स च मम प्रियः।

अनुवाद—उन लोगों में अर्थात् मेरे उन चारों प्रकार के भक्तों में जो सदा ही मुझमें ही युक्त रहते हैं एवं एकमात्र मुझमें ही भक्तिविशिष्ट होते हैं वह ज्ञानी चारों भक्तों में श्रेष्ठ हैं, चूकी मैं ज्ञानी का अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी भी मेरे प्रिय हैं।

भाष्यदीपिका—तेषाम्-पूर्व श्लोक में उक्त चारों प्रकार के सुकृतिशाली

व्यक्तियों में नित्ययुक्तः—जागतिक सभी वस्तु को मिथ्या (व्यर्थ) निश्चय करने के कारण जिनकी सभी प्रकार की कामनाओं की निवृत्ति हुई है, अतः चित्त का विक्षेप कर कोई अन्तराय (विघ्न) न रहने के कारण जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा में नित्य (सर्वदा) युक्त (समाहितचित्त) रहते हैं उनकों 'नित्ययुक्त' कहा जाता है। एकभक्तिः—फिर इस असार संसार में एकमात्र अखंडाद्वितीयचिदानन्द परमात्मा ही सत्यवस्तु है एवं "मैं और सम्पूर्ण जगत् परमात्मस्वरूप ही हैं" इस प्रकार निश्चय होने के कारण जिनको भजनीय अन्य वस्तु के दर्शन नहीं होते अर्थात् जिनकी दृष्टि में भजन (आश्रय) करने के योग्य अन्य कोई पारमार्थिक वस्तु नहीं है, अतः जिनकी आत्मा से अभिन्न परमात्मा में ही अखंडाकारा भक्ति (स्नेह या अनुरागरूप चित्तवृत्ति के प्रवाह) रहती है उनको एकभक्ति (अनन्य भक्त) कहा जाता है ज्ञानी—इस प्रकार तत्त्ववित् (क्योंकि तत्त्ववित् होने से ही वह नित्ययुक्त एवं एकभक्ति होते हैं)।

विशिष्यते—विशिष्ट हो जाते हैं (आधिक्य प्राप्त होते हैं) अर्थात् अन्य तीन प्रकार के भक्तों से अतिरिक्त होते हैं (सर्वापेक्षा उत्कृष्ट परिगणित होते हैं)। हि—चूँकि अहं—मैं (परब्रह्म परमेश्वर) ज्ञानिनः 'अहम् अत्यर्थं प्रियः,—ज्ञानिगण मुझको परमपुरुषार्थ रूप से और साक्षात् आत्मा के रूप से जानते हैं, अतः उनके निकट मैं अत्यन्त (निरतिशय) प्रिय होता हूँ अर्थात् सर्वोपाधिरहित परमशुद्ध वासुदेव मैं उनलोगों का अत्यन्त प्रिय (प्रेम का विषय) होता हूँ, कारण आत्मा सब वस्तु से ही प्रिय है, यह संसार में सभी लोगों के निकट ही प्रसिद्ध है—[श्रुति में भी कहा गया है "तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। (बृ० उ०) अर्थात् यह वही आत्मा है जो पुत्र से प्रिय, वित्त से प्रिय अन्य सभी वस्तुओं से प्रिय है क्योंकि यह आत्मा सबसे अन्तस्तर है। इस प्रकार आत्मा का प्रियत्व और भी अनेक श्रुतिवाक्यों में प्रसिद्ध है। इस प्रसिद्धि को सूचित करने के लिये ही "हि" शब्द का प्रयोग हुआ है—] स च मम प्रियः—(जिस प्रकार मैं ज्ञानी का अत्यन्त प्रिय हूँ उस प्रकार) वह ज्ञानी भी मेरे (परमेश्वर रूप वासुदेव का) अत्यन्त प्रिय है क्योंकि वह भी हमारी ही आत्मा है। इसलिए भागवत में कहा गया है "साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि" ॥ अर्थात् साधुगण (ज्ञानी) मेरे हृदय (आत्मा) हैं और साधुओं के भी मैं ही हृदय (आत्मा) हूँ। वे लोग मुझसे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं जानते हैं एवं मैं भी उन लोगों से

भिन्न अन्य कुछ भी नहीं जानता हूँ। अतः इन कारणों से ज्ञानी अन्य भक्तों से श्रेष्ठ हैं यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[इन लोगों में ज्ञानी श्रेष्ठ हैं, यह अब कह रहे हैं—]

तेषां मध्ये ज्ञानी विशिष्यते—उक्त सभी भक्तों में ज्ञानी श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि वे नित्ययुक्त—सर्वदा मुझमें ही स्थित रहते हैं और एकभक्तिः—एक वस्तु में ही अर्थात् एकमात्र मुझमें ही उनकी भक्ति (प्रेम) रहती है। ज्ञानी के देहादि में आत्माभिमान न रहने के कारण चित्त के विक्षेप का कोइ कारण नहीं रहता। इसलिये ज्ञानी के लिये सदा मुझमें ही स्थित रहना एवं मुझमें एकान्त भक्तिभाव रखना सम्भव होता है, दूसरों के लिये वह सम्भव नही होता। हि—इस कारण ज्ञानिनः अहम् अत्यर्थं प्रियः—मैं ज्ञानी के अत्यन्त प्रिय हूँ सः च मे प्रियः—और ज्ञानी भी मेरे अत्यन्त प्रिय हैं। अतः इन नित्ययुक्तत्वादि चार कारणों से (अर्थात् ज्ञानी नित्ययुक्त, और एकभक्ति रहते हैं, ज्ञानी मेरे प्रिय और मैं भी ज्ञानी के प्रिय, इन चार कारणों से) ज्ञानी सर्वोत्तम (सभी भक्तों में श्रेष्ठ) समझे जाते हैं, यही कहने का अभिप्राय है।

(२) शंकरानन्द—इस स्थान पर ज्ञानी शब्द के द्वारा परोक्षज्ञानी ही विवक्षित हैं, इस प्रकार यदि कहा जाय तो वह युक्त नहीं होगा, कारण यह कहने पर परोक्षज्ञानी के 'एकभक्तिर्विशिष्यते' (ज्ञानी की भक्ति का विषय एकमात्र मैं ही हूँ इसलिये ज्ञानी श्रेष्ठ हैं), 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (ज्ञानी तो मेरे विचार से मेरी आत्मा ही है) इस प्रकार एक भक्तित्व एवं परमात्मा से अभिन्नता का प्रतिपादन हो नहीं सकता। और यदि कहा जाय कि ब्रह्मविद् भी ईश्वर के प्रसाद की अतिशय सिद्धि के निमित्त सगुण ईश्वर की ही उपासना करते हैं, तब कहेंगे कि इस प्रकार कहना भी युक्त नहीं होगा, कारण अयथार्थ स्वरूप के भजनशील भक्तों की अपेक्षा अपने यथार्थस्वरूप के अनुसन्धानपरायण (निरन्तर चिन्तन करनेवाले) ब्रह्मविद् के उपर ही परमेश्वर का समग्र अनुग्रह होना सम्भव हो सकता है। जिस प्रकार सभी अप्रयोजक (धर्म और कर्महीन) पुत्रों की अपेक्षा विद्या-विनयशील, वित्तार्जन में समर्थ, कीर्तिमान एवं प्रतिष्ठालब्ध सत्पुत्र में ही पिता की प्रीति का अतिशय देखा जाता है, उसी प्रकार ईश्वर प्रीति के विषय में भी ऐसा ही हुआ करता है। 'ॐ इत्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्' अज्ञान से पार पाने के लिये अर्थात् (उत्तीर्ण होने के लिये) ॐ ऐसा

आत्मा का ध्यान करो, तुमलोगों का कल्याण हो । इस प्रकार श्रुतिवाक्य से ब्रह्मविद्गणों की ध्येयवस्तु माया एवं माया के कार्यों के लेश के सम्बन्ध से शून्य सुनी जाती है। 'अथ सोऽन्यां देवतामुपास्ते' (जो अन्य देवताओं की उपासना करते हैं) इत्यादि वाक्य से श्रुति कहती है कि जो उपासक अपने से भिन्न देवता की उपासना करता है वह पशु के समान अर्थात् पशुतुल्य है। 'जीवेशावाभासेन करोति' ('जीव एवं ईश्वर की माया के आभास से सृष्टि होती है,) इत्यादि श्रुतिवाक्य से ईश्वर में भी माया का आभासत्व सुना जाता है। इसलिये इसमें (सगुण ईश्वर में) असत्त्वबुद्धि कर इससे विलक्षण सच्चिदानन्दैकरस परब्रह्म में ही आत्मबुद्धि कर जो ब्रह्मविद् सर्वदा स्थित रहते हैं एवं ब्रह्मानन्दस्वरूप अमृतरस पान करते हैं उसके सगुण में रुचि होना असम्भव होता है। अतः उनके लिये सविशेष की (सगुण ब्रह्म को) उपासना युक्तियुक्त नहीं है। और यदि कहा जाय कि ब्रह्मविद् की उपासना ही तो उपपन्न नही है, तो कहेंगे कि इस प्रकार की उक्ति युक्त नहीं है, कारण 'तमेव धीरो विज्ञाय' ('उनको ही धीर व्यक्ति जान कर') इत्यादि श्रुतिवाक्य से ब्रह्मविद् के ही ज्ञान के अप्रतिबद्धत्व की सिद्धि के लिये प्रज्ञाकरण विहित हुआ है। सर्वत्र ब्रह्मदर्शन का नाम ही प्रज्ञाकरण है। अतः निर्विशेष परब्रह्म ही ब्रह्मविद् का उपास्य है, इस प्रकार सिद्ध होने पर निर्विशेषपर ब्रह्मविद् महात्मा के सविशेष ब्रह्म के उपासक आर्त आदि भक्तगणों की अपेक्षा श्रेष्ठत्व अनेक विशेषणों से व्यक्त कर रहे हैं।

नित्ययुक्तः—नित्ययुक्त (नित्य अर्थात् जिससे अन्य क्रियाओं का अवकाश न हो इसप्रकार—युक्त अर्थात् सदा ब्रह्म में ही समाहित चित्त-वाला), अथवा (नित्य में अर्थात् माया एवं मायाके कार्य के साथ सम्बन्ध-शून्य होने के कारण) अविकारी अनन्तर परमात्मा में ही युक्त रहते हैं—अनित्य वस्तुमें युक्त नहीं अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मको ही देखते हैं, दूसरे को नहीं यही अर्थ है। किन्तु द्रष्टा (भक्त) एवं दृश्य (उपास्य) इनमें तो भेद रहेगा ही। इसके उत्तर में कहा जा रहा है—'एकभक्तिः' इत्यादि।

एकभक्तिः—अपनी विषयीभूत वस्तुके आकार के भजन करने को भक्ति कहते हैं। वह अन्तःकरण की वृत्ति है। एक अर्थात् 'यह मैं हूँ' इसप्रकार द्वैतरहित तथा अपनी आत्मा और ब्रह्मके एकत्व को ग्रहण करनेवाली अखंडा-कार भक्ति (वृत्ति) जिनकी हैं वे 'एकभक्ति' हैं। अतः जगत् एवं ब्रह्म के तथा अपने एवं ब्रह्म के एकत्व की अर्थात् अभेददर्शन में जिनकी निष्ठा हैं (निरन्तर ही स्थित) रहते हैं वे ही 'एकभक्ति' हैं। इसलिये ज्ञानिनः—ज्ञानीके अहम्—

मैं अर्थात् निर्विशेष परमात्मा ही आत्मा एवं आनन्दस्वरूप होने के कारण अत्यर्थम्—अत्यन्त हि प्रियः—प्रिय अर्थात् प्रियतम, दूसरा नहीं।

'तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' (जो इन सब से अधिक अन्तरतर (भीतर की) आत्मा है वही प्रिय हैं, वे पुत्र से भी प्रिय, धनसे भी प्रिय और अन्य सभी विषयों से प्रिय इत्यादि। श्रुतिवाक्यों की प्रसिद्धि प्रदर्शित करने के लिये 'हि' शब्द का प्रयोग हुआ है। तथा मम च—मेरा भी अर्थात् जगदीश्वर का भी सः—वह ज्ञानी ही प्रियः—प्रिय अर्थात् उक्त लक्षणयुक्त होनेपर प्रेष्ठ (प्रियतम) हैं।

इस कारण तेषाम्—उनसे ['तेषाम्' इस शब्द की पंचमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति हुआ है] अर्थात् सविशेषपरायण (सगुण ब्रह्मोपासक) आर्त आदि भक्तगण से ज्ञानी—ज्ञानी नित्ययुक्त आदि विशेषणों के द्वारा विशिष्यते—विशिष्ट (श्रेष्ठ) होते हैं।

(३) नारायणी टीका—आर्त, जिज्ञासु एवं अर्थार्थी, ये तीन प्रकार के सकामी भक्त होते हैं। रोग अथवा दुःखों से मुक्त होने की कामना आर्त की रहती है। ये रोग अथवा दुःख निवृत्त होने पर वे मेरा भजन नहीं भी कर सकते हैं। इस प्रकार अर्थार्थी भक्त भी (इहकाल अथवा परकाल में भोग की सामग्री प्राप्त करने के लिए मेरा भजन करते हैं वे भी) उनके काम (वासना) पूर्ण होने से मुझे पुनः आश्रय नहीं भी कर सकते हैं। संसार के ताप में तप्त होकर क्षणिक वैराग्य-वश शान्ति लाभ की आशा से जिज्ञासु होकर (मेरा यथार्थ तत्त्व जानने के इच्छुक होकर) गुरु व शास्त्र की कृपा से मेरे-स्वरूप-सम्बन्ध में परोक्षज्ञान लाभ करके भी वैराग्य व अभ्यास की तीव्रता का अभाव रहने के कारण चित्त को समाहित करके सबकी आत्मा रूप में सदा विद्यमान मेरे स्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार जिज्ञासु नहीं भी कर सकता किन्तु जो ज्ञानी अर्थात् मेरे यथार्थ स्वरूप को निर्विकल्प समाधि द्वारा साक्षात्कार किए हैं वे जान सकते हैं कि आत्मातिरिक्त समस्त प्रपञ्च ही मिथ्या है—एक मात्र मैं ही सर्वरूप में विद्यमान हूँ एवं सत् (एकमात्र नित्यसत्ता) हूँ, मैं ही चित् (एकमात्र ज्ञान अथवा प्रकाश स्वरूप) हूँ एवं मैं ही आनन्द हूँ (अर्थात् जिसे प्राप्त करने के लिए जीव अनादिकाल से संसार में भ्रमण कर रहे हैं वह परमानन्द स्वरूप मैं ही हूँ) एवं मैं ही उनकी यथार्थ आत्मा हूँ। इस प्रकार ज्ञानी की दृष्टि में अन्य किसी वस्तु की सत्ता नहीं रहती है। अत एव मुझ में ही वे नित्ययुक्त रहते हैं अर्थात् वे सदा मेरा ही दर्शन करते हैं एवं मैं ही उनकी प्रियतम आत्मा होने के कारण वे

'एकभक्ति' होते हैं [अर्थात् एकमात्र मुझे ही अर्थात् अखण्डाद्वय सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा की ही वे भक्ति (निरतिशय प्रेम) करते हैं। अन्य किसी वस्तु के प्रति उनकी भक्ति अथवा प्रेम नहीं रहता]। ज्ञानी जन अपरोक्ष साक्षात्कार के द्वारा जान सकते हैं कि वे ब्रह्मस्वरूप वासुदेव ही हैं अर्थात् मैं और ज्ञानी एकात्मक ही हूँ। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा उसके निकट समस्त वस्तुओं से प्रियतम है। इसलिए रासपञ्चाध्यायी में गोपीयों ने श्रीकृष्ण को कहा है—'प्रेष्ठो भवान् तनुभृतां किल बन्धुरात्मा' अर्थात् तुम हमारे प्रियतम हो क्योंकि तुम सकल शरीरधारियों की आत्मा एवं बन्धु (सुहृत्) हो अतः ज्ञानी साक्षात् अनुभव करते हैं कि उनकी आत्मा मैं ही हूँ, इसलिए मैं उनको अत्यधिक (अत्यन्त) प्रिय हूँ। और ज्ञानी भी मेरी आत्मा (आत्मा स्वरूप) होते हैं, अत एव ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। श्लोक में 'अत्यर्थम्' शब्द का तात्पर्य यह है कि आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भी मुझे प्रिय हैं किन्तु ज्ञानी सर्वाधिक प्रिय (प्रियतम) हैं, क्यों कि तत्वज्ञान लाभ करने के पश्चात् ज्ञानी और मैं एक ही हो जाता हूँ।

[पूर्व श्लोक में भगवान् ने कहा है ज्ञानीभक्त मेरे अत्यन्त प्रिय है। अब प्रश्न होगा तब क्या आर्त, जिज्ञासु एवं अर्थार्थी इन तीन प्रकार के भक्त तुम्हारे (वासुदेव के) प्रिय नहीं हैं ? इसके उत्तर में भगवान् बोल रहे हैं कि नहीं वे भी मेरे प्रिय हैं फिर भी ज्ञानी भक्तों के मैं अत्यन्त प्रिय क्यों हूँ उसका कारण सुनो]।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।। १८ ।।

अन्वयः—एते सर्वे एव उदाराः ज्ञानी तु आत्मा एव (इति) मे मतम्। हि सः युक्तात्मा अनुत्तमां गतिम् माम् एव आस्थितः।

अनुवाद—ये सभी उत्कृष्ट (महान्) हैं किन्तु ज्ञानी भक्त मेरी आत्मा ही (मेरे स्वरूप ही) है यही मेरे कहने का तात्पर्य है, कारण वह मुझमें ही सदा चित्त को समाहित कर सर्वोत्कृष्ट गतिस्वरूप मुझको ही सर्व प्रकार से आश्रय करता है।

भाष्यदीपिका—एते सर्वे एव उदाराः—आर्त प्रभृति ये तीन प्रकार के सकाम भक्त भी उदार हैं अर्थात् उत्कृष्ट हैं। सकामभाव से मेरी उपासना करने पर भी बाद में चित्तशुद्धि और ज्ञानलाभ कर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

इसलिये वे भगवद् विमुख व्यक्तिगण की अपेक्षा उत्कृष्ट अथवा श्रेष्ठ है। सभी भक्त मेरे प्रिय हैं कारण मेरे (वासुदेव के) कोई भी भक्त मुझको अप्रिय नहीं हो सकता। ज्ञानी मेरे अत्यन्त प्रिय हैं, यही विशेषता है। अभिप्राय यह है कि उनके पूर्वजन्मार्जित बहु सुकृत न रहते पर आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी होकर मेरा भजन नहीं कर सकते हैं कारण ऐसे बहुत लोग हैं जो आर्त होकर अथवा जिज्ञासु होकर अथवा अर्थार्थी होकर मेरी उपेक्षा कर अन्य लोगोंका अथवा अन्य क्षुद्र क्षुद्र देवताओं का भजन करते हैं अथवा अपने बुद्धिबल का आश्रय लेकर कार्यसिद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं। इसलिये जो लोग आर्त, जिज्ञासु एवं अर्थार्थी होकर भी केवल मेरा ही आश्रय लेते हैं वे लोग ऐसे सभी लोगों से [अर्थात् जो लोग उसी अवस्था में मुझको भजन (आश्रय) नहीं करते उनकी अपेक्षा] उत्कृष्ट हैं, इस विषय में और संशय ही क्या रह सकता है? अतः इन तीन श्रेणियों के भक्त मेरे प्रिय हैं। ज्ञानी और अज्ञानी सभी भक्त मेरे प्रिय हैं तब भी मेरे प्रति जिनकी जितनी प्रीति हैं उतनी ही मेरी भी उनके प्रति प्रीति होना स्वाभाविक है। आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्तों को जिन जिन वस्तुओं की कामना रहती है वे सब वस्तु उनकी प्रिय होती हैं एवं साथ साथ कार्यसिद्धि के लिए मुझको भी वे प्रेम करते हैं अर्थात् मैं भी उनका प्रिय होता हूँ। किन्तु ज्ञानी को मुझसे भिन्न कोई वस्तु काम्य या प्रिय नहीं है—मैं ही उनके निरतिशय प्रेम का विषय (अर्थात् अत्यन्त प्रिय) हूँ। इसलिए ज्ञानी मेरे अत्यन्त प्रिय हैं यही ज्ञानी और अज्ञानी भक्तों में विशेष भेद पार्थक्य) है। मैं पहले भी यह कह चुका हूँ (ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४।११) अर्थात् जो लोग जिस प्रकार की भावना से मेरे शरणापन्न होते हैं मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ अर्थात् उनके मनकी कामनाओं को पूरण करता हूँ। श्रुतिमें कहा गया है—"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छा० उ० १।१।१०) अर्थात् जो मनुष्य विद्याके साथ (विशेष ज्ञान के साथ) श्रद्धा के साथ एवं उपनिषद् अर्थात् एकाग्रता के साथ कोई कर्म करते हैं वे (कर्म) अधिक वीर्यशाली हुआ करते हैं। उक्त श्रुतिवाक्य में "वीर्यवत्तरम्" इस शब्द में 'तरप्' प्रत्यय द्वारा कहा गया है कि अज्ञानी, अश्रद्धालु एवं अस्थिरचित्त व्यक्ति के द्वारा किये हुए कर्म भी फलदायक होते हैं किन्तु उनके कर्म की अपेक्षा श्रद्धायुक्त स्थिरचित्त ज्ञानी के कर्म अधिक फलदायक होते हैं। उसी प्रकार पूर्ववर्ती श्लोक में 'अत्यर्थम्' शब्द से यही समझाया जा रहा है कि अज्ञानी सकाम भक्त भी मेरे प्रिय है। परन्तु ज्ञानी भक्त

मेरे अत्यधिक प्रिय है। किस कारण से ज्ञानी अत्यधिक प्रिय होता है, वह भगवान् अभी स्पष्ट कर रहे हैं—

ज्ञानी तु—ज्ञानी किन्तु। [ज्ञानी मुझको (परब्रह्म परमेश्वर को) अपनी आत्मा के रूपसे जान चुके हैं इसलिए वे भेददर्शी सकाम, आर्त प्रभृति त्रिविध भक्तों की अपेक्षा विलक्षण अर्थात् अधिकतर उत्कृष्ट हैं यह सूचित करने के लिये 'तु' शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः ज्ञानी]

आत्मा एव—मेरे आत्मस्वरूप ही होते हैं अर्थात् वह मुझसे पृथक् नहीं रहते हैं अर्थात् ज्ञानी का जिस प्रकार मैं ही आत्मस्वरूप हूँ मेरे भी उसी प्रकार ज्ञानी ही आत्मस्वरूप होते हैं क्योंकि शुद्ध चैतन्य की दृष्टि में हम दोनों ही एक हैं।

(इति) मे मतम्—यही मेरा मत अर्थात् निश्चय है। इस सम्बन्ध में कूट तार्किकगण का अन्य प्रकार का सिद्धान्त रहने पर भी सर्वज्ञ एवं जगद्गुरु मेरा यही निश्चित सिद्धान्त है। हि—क्योंकि [मुझसे ज्ञानी की अभिन्नता का कारण यह है कि सः—वह ज्ञानी युक्तात्मा (सन्) [आत्मा शब्द का अर्थ यहाँ अन्तःकरण है] मैं ही भगवान् वासुदेव हूँ—उनसे भिन्न मैं नहीं हूँ' इस प्रकार की भावना से ज्ञानी अन्तःकरण को परमात्मा में युक्त रखकर अर्थात् समाहित-चित्त होकर मामेव अनुत्तमां गतिं—मुझको ही।सर्वोत्कृष्ट गति निश्चय कर [अनुत्तमा जिससे उत्तम (श्रेष्ठ) और कुछ भी नहीं है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट। गतिः—अन्तिम गन्तव्य स्थान।] आनन्दस्वरूप परब्रह्म ही सभी के गन्तव्य स्थान हैं कारण आनन्द ही सभी प्राणियों के सभी कार्यों की एकमात्र लक्ष्य वस्तु हैं। श्रुति में भी परब्रह्म परमात्मा को ही गति कहा गया है यथा—"पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः" (कठ० उ०) अर्थात् उस पुरुष से और श्रेष्ठ कुछ नहीं है—वही अन्तिम सीमा है, वही परागति है, इस प्रकार जिसको सभी वेद ने चरमगति अर्थात् जीवन का परम फल कहकर प्रतिपादन किया है उसको ही सर्वोत्कृष्ट गति [अर्थात् परब्रह्मस्वरूप मुझसे भिन्न अन्य कोई वस्तु प्राप्तव्य नहीं है, यह] निश्चय कर मेरे ही एकनिष्ठ भक्त होकर आस्थितः—उस लक्ष्य वस्तु में पहुँचने के लिए अर्थात् मुझमें आरूढ़ होने के लिए (योगारूढ़ या ज्ञाननिष्ठ होने के लिए) प्रवृत्त होते हैं। 'आस्थितः' शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ—आ (समन्तात्) मामेव अधिष्ठाय स्थितः आश्रितः अर्थात् सर्वतो भाव से मुझको ही आश्रय कर स्थित रहते हैं अर्थात् 'मैं परब्रह्म वासुदेव ही हूँ' इस प्रकार अखंडाकारा वृत्ति के द्वारा सदा मेरे स्वरूप में ही (पूर्णात्मा परब्रह्मरूप में ही) स्थितिलाभ करने में प्रवृत्त रहते हैं। चूँकि

ज्ञानी मुझसे अतिरिक्त (भिन्न) अन्य किसी प्रकार फल नहीं चाहते इसलिए ज्ञानी मेरे आत्मभूत होते हैं और आत्मा सभी वस्तु से प्रियतम होने के कारण ज्ञानी मेरे अत्यन्त प्रिय होते हैं। भाष्य में 'आस्थितः' शब्द का 'आरोढुं प्रवृत्तः' अर्थ किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानी ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य (अभिन्नता) साक्षात्कार करने पर युक्तात्मा होते हैं एवं शुद्धचैतन्य-स्वरूप आत्मा ही एकमात्र नित्य और परमानन्द का हेतु जानकर वह ही जीवन की सर्वोत्कृष्ट गति है ऐसा निश्चय कर उस आत्मस्वरूप में निरन्तर अप्रतिबद्ध रूप से स्थितिलाभ करने में (अर्थात् योगारूढ़ या ज्ञाननिष्ठ होने के लिये) प्रवृत्त होते हैं। जब तक योगारूढ़ न हो तब तक उपासना या भजनरूप क्रिया रहती है; और तब तक ज्ञानी को भक्त कहा जाता है। योगारूढ़ होने पर और कोई कर्म नहीं रहता है (गीता ६।३)। तब सभी एकाकार हो जाते हैं। तब न भक्त रहते हैं, न भगवान—सभी प्रकार के भेद रहित एक अखंड शुद्धचैतन्य सत्ता ही तब अवशिष्ट रहती है—यही चरम गति है।

टिप्पणी—(१) भाष्य में 'आरोढुं प्रवृत्तः' 'अनुत्तमां गतिं गन्तुं प्रवृत्तः' इत्यादि कहने से यही प्रमाणित होता है कि १६ वें श्लोक की भाष्यदीपिका में ज्ञानी शब्द की जो व्याख्या की गयी है वही युक्तिसंगत है। मधुसूदन सरस्वती के मत से 'आस्थितः' शब्द का अर्थ अंगीकृतवान् अर्थात् ज्ञानी मुझको ही अनुत्तमा (सर्वोत्कृष्टा) गति मानते हैं ज्ञानी मुझको छोड़कर—अन्य कोई भी फल की इच्छा नहीं करते हैं।

(२) श्रीधर—[तब क्या तुम्हारे अन्य तीन प्रकार के भक्त जन्म-मृत्युके चक्र में भ्रमण करते रहते हैं ? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि ऐसी बात नहीं—]

सर्वे अपि एते उदाराः—इन चार प्रकार के भक्त ही उदार (महान् अर्थात् मोक्ष के पात्र—मोक्षलाभ करने में समर्थ) ज्ञानी तु आत्मा एव (इति) मे मतम्—परन्तु ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है, यह मेरा मत अर्थात् निश्चय है। हि सः युक्तात्मा (सन्) अनुत्तमां गतिम् माम् एव आस्थितः—कारण वही ज्ञानी युक्तात्मा होकर (अर्थात् एकमात्र मुझमें ही चित्त को समाहित रखकर) अनुत्तमां गतिं माम् एव—जिससे उत्तम और कोई गति नहीं है इस प्रकार सर्वोत्तम गतिस्वरूप मुझको ही आस्थितः—सर्वावस्था में आश्रय कर मुझमें ही स्थित रहते हैं अर्थात् मुझसे भिन्न अन्य किसी फल को वे (ज्ञानी) नहीं मानते (स्वीकार नहीं करते)।

(३) शंकरानन्द—यदि शंका हो कि तुम्हारे भक्तों में यदि ज्ञानी ही श्रेष्ठ है तब तुम्हारे अन्य आर्त आदि तीन प्रकार के भक्तों में निकृष्टत्व होता है, किन्तु तुम्हारे भक्तों के लिये यह कैसे युक्त है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं— वे सभी उदार हैं (श्रेष्ठ हैं)। श्लोक में 'सर्वः' शब्द द्वारा यद्यपि ज्ञानी का भी आर्त आदि में ही अन्तर्भाव होता है तथापि 'ज्ञानी तु' इससे ज्ञानी का विभाग (पृथकत्व) होने से 'सर्व' शब्द द्वारा यहाँ ज्ञानी से भिन्न अन्य भक्तों को ही समझाया जा रहा है। एते—वे अर्थात् पूर्वोक्त आर्त आदि सर्वे—सभी उदाराः एव—उदार ही (उत्कृष्ट ही) हैं अर्थात् मेरे भजन से विमुख मीमांसक आदि से श्रेष्ठ ही हैं। 'उत्कृष्टत्वमेव आरान्तीत्युदाराः' (जो उत्कृष्टता के ही भाजन हैं अर्थात् पात्र हैं उन्हें उदार कहा जाता है)। जिस कारण से मुझमें अर्पणबुद्धि से कर्मों का अनुष्ठान, चित्तशुद्धि, यही परमेश्वर हैं, इसप्रकार का ज्ञान, एवं मेरा भजन—इन सब अत्यन्त दुर्लभ वस्तुओं को प्राप्त करके ये मुझको ही भजते हैं इसलिये उनमें भी श्रेष्ठत्व है ही अर्थात् वे भी श्रेष्ठ हैं ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। अब प्रश्न होगा कि यदि भजन क्रिया के निमित्त ज्ञानी और इनमें श्रेष्ठता समान है, तब ज्ञानी विशेष अर्थात् श्रेष्ठ हैं' इस प्रकार सभी में समदृष्टि रखनेवाले तुम्हारा ज्ञानी के प्रति पक्षपात क्यों है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—हि—क्योंकि सः—वह ज्ञानी युक्तात्मा—प्रत्यक् वृत्तिसे सदा सर्वत्र मेरे स्वरूप के ग्रहण में ही युक्त रहते हैं अर्थात् उनकी आत्मा (मन) मुझमें ही युक्त (अभिनिविष्ट) रहती हैं। यानी लगा हुआ है इस प्रकार युक्तात्मा होकर अनुत्तमां गतिं—सर्वश्रेष्ठ गति को। [जो केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है उसे 'गति' कहा जाता है। 'अनुत्तम' शब्द का अर्थ जिससे उत्तम (श्रेष्ठ) और कुछ भी नहीं है। नित्य, महत्, सूक्ष्म, आन्तर, आनन्दरूप, ज्ञेय और प्राप्यरूप होने के कारण जिस गति से लोक में या शास्त्र में प्रसिद्ध अन्य कोई उत्तम पदार्थ नहीं है (एवं जो प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा बाधित नहीं होता), वही 'अनुत्तमा गति' है। उस गति को अर्थात् कैवल्य-स्वरूप माम् एव आस्थितः—मुझमें ही सदा स्थित रहते हैं। इस प्रकार के चिदेकरस, अद्वितीय परब्रह्म मुझकोही अपने 'अहं' का अर्थ मानकर पूर्णात्म-रूपसे स्थित रहते है (कहीं भी देह, इन्द्रिय आदि में अभिमान कर परिच्छिन्न नहीं होते)। इसलिये ज्ञानी—ज्ञानी केवल श्रेष्ठ ही नहीं है तु—किन्तु मे—मेरी अर्थात् मुझ परमेश्वर की पूर्वोक्त रीति के अनुसार, आत्मा एव—आत्मा ही है। 'ब्रह्म ही मैं हूँ' इसप्रकार सर्वदा पूर्णस्वरूप से उनकी स्थिति रहने के कारण वे मेरे स्वरूप ही होते हैं अर्थात् मेरे साथ एकरूपता प्राप्त होते हैं।

(इति) मे मतम्—यही मेरा निश्चय है। इसलिए सब सगुण भक्तों से ज्ञानी ही विशिष्ट है, इस प्रकार कहा है।

(४) नारायणी टीका—यह सत्य है कि आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी सकाम होकर ही (कोई अभीष्ट सिद्धि के लिए ही) मुझको भजन करते हैं—मुझको आश्रय करते हैं। किन्तु नित्यशुद्ध परमात्मस्वरूप मुझको चिन्तन करते करते उनके भी पापक्षय होकर चित्तशुद्धि होती है और अंत में मैं ही उनकी एकमात्र काम्यवस्तु हो जाता हूँ अर्थात् चित्तशुद्धि से विवेक उत्पन्न होने पर क्षणिक सुखदायक विषयों के प्रति काम (वासना) त्याग कर वे भी परमानन्द-स्वरूप मुझको ही प्राप्त करने को इच्छुक होते हैं। पूर्वजन्मों की अनेक सुकृतिके फलों से वे मुझको ही आश्रय करते हैं। अतः ज्ञानी ही हो या अज्ञानी ही हो मेरे सभी भक्त मेरे प्रिय हैं अर्थात् केवल ज्ञानी ही नहीं परन्तु मेरे अन्य तीन प्रकार के भक्त भी उदार (उत्कृष्ट अर्थात् मोक्ष के योग्य अधिकारी) होते हैं। तथापि ज्ञानी का विशेषत्व यह है कि ज्ञानी आत्मा से अभिन्न रूपसे ही मुझको अनुभव करते हैं। इसलिए मेरे विचार से ज्ञानी तो आत्माही (अखंडाद्वय आत्मस्वरूप ही) हो जाते हैं क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि से मुझसे बढ़कर और कोई भी उत्तमा गति (गन्तव्य स्थान या परमफल) नहीं है एवं इस कारण ज्ञानी मुझको ही सर्वोत्कृष्ट आश्चर्य निश्चय कर सदा मुझमें ही युक्तात्मा होकर (चित्तको समाहित रखकर) सर्वप्रकार से मेरे ही शरणापन्न होते हैं (मुझमें ही स्थित रहते हैं)। इसलिये ज्ञानी मेरा अत्यन्त प्रिय है। [ज्ञान साक्षात् रूपसे मोक्ष का कारण होता है और आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी के भक्ति और भगवत् भजन क्रमशः—मोक्ष का कारण होता है, यही सूचित कर रहे हैं]।

[पूर्ववर्ती दो श्लोकों में ज्ञानी भगवान् के अत्यन्त प्रिय हैं, यह कहा गया है। अब इस प्रकार के ज्ञानी दुर्लभ हैं यह कह कर ज्ञान और ज्ञानी की स्तुति की जा रही है]

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

अन्वयः—बहूनां जन्मनाम् अन्ते 'वासुदेवः सर्वम्' इति ज्ञानवान् (सन्) मां प्रपद्यते; (यः एवं) सः महात्मा सुदुर्लभः।

अनुवाद—बहुजन्मों के अन्त में [अर्थात् बहुजन्म तक पुण्य संचय के फल रूप से तत्त्वज्ञान के अनुकूल चरम जन्म में] "सभी वस्तु वासुदेव हैं"

इस प्रकार परिपक्व ज्ञानलाभ कर ज्ञानी मुझको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के महात्मा (जगत् में) अत्यन्त ही दुर्लभ है।

भाष्यदीपिका। बहूनां जन्मनाम् अन्ते—जो ज्ञानार्थ (तत्वज्ञान के अनुकूल) संस्कारार्जन का आश्रय हुए हैं इस प्रकार वहुजन्मों की समाप्ति होने पर। प्रत्येक जन्म में ही यदि चित्तशुद्धि कर पुण्यकर्मों के अनुष्ठान से स्वल्प पुण्य संचित हो तो तत्त्वज्ञान के अनुकूल संस्कार भी प्रत्येक जन्म के साथ साथ उत्तरोत्तर वढ़ता जाता है (गीता ६।४३)। इस प्रकार वहु जन्मों की समाप्ति होने पर अर्थात् वहुजन्मार्जित पुण्य फलों से जिस जन्म में चित्तशुद्धि लाभ कर तत्त्वज्ञान प्राप्त हो सकता है उस अन्तिम जन्म में वासुदेवः सर्वम् इति—'सर्वाणि भूतानि वसन्ति यस्मिन् स वसुः, सर्वाणि भूतानि ससत्तास्फुरणेन द्योतयति प्रकाशयति य सः देवः, वसुश्चासौ देवश्च वसुदेवः, वसुदेवः एव वासुदेवः सर्वात्मा परं ब्रह्म' अर्थात् सभी भूत (ब्रह्मा से स्तम्व पर्यन्त सभी भूतवर्ग) जिसमें निवास करते हैं उसे 'वसु' कहते हैं, सभी भूतों को अपनी सत्ता के स्फुरण से प्रकाश करते हैं इसलिये उसे 'देव' कहते हैं। 'वसु एवं देव' इस प्रकार द्वन्द्व समास कर वसुदेव शव्द निष्पन्न हुआ है। वसुदेव ही वासुदेव अर्थात् सर्वात्मा परब्रह्म विष्णुपुराण में भी कहा गया है—"भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत्। धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः"। अर्थात् जो सव भूतों में निवास करते हैं एवं भूतसमूह जिसमें निवास करते हैं, जो धाता (पालनकर्ता) हैं एवं जगत् के विधाता (कर्मफलदाता) है, उस प्रभु को (जगत्पति को) वासुदेव कहते हैं। श्रुति में कहा गया है "आत्मैवेदं सर्वं" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् ये सब कुछ आत्मा ही है—यह दृश्यमान संपूर्ण जगत् ब्रह्म ही है। इन सब श्रुतिप्रसिद्ध वाक्यों के अनुसार सव चराचर विश्व (अर्थात् सभी वस्तु ही) सर्वात्मा परब्रह्म वासुदेव ही है, इस प्रकार से ज्ञानवान् (सन्) मां प्रपद्यन्ते—ज्ञानवान् होकर अर्थात् (समाधि निष्ठा के द्वारा) ज्ञान की परिपकता लाभ कर, ज्ञानी मुझको अर्थात् सभी जीवों के अन्तरात्मा वासुदेव को प्रत्यक्षरूप से प्राप्त होते हैं (प्रत्यगात्मा से अभिन्नरूप से साक्षात्कार करते हैं अर्थात् 'सबही वासुदेव हैं' और 'मैं भी वासुदेव हूँ' इस प्रकार साक्षात्कार करते हैं)।

सः महात्मा—इस प्रकार सभी के अन्तरात्मा मुझको जो प्राप्त होते हैं (साक्षात्कार करते हैं) ऐसे महात्मा [मधुसूदन सरस्वती ने इस प्रकार से व्याख्या की है—'वासुदेव ही सब हैं' इस प्रकार ज्ञानवान् (ज्ञानसम्पन्न) होकर मुझको अर्थात् निरुपाधिक प्रेम के पात्र परमेश्वर को प्रपन्न होते हैं

(सर्वदा सभी प्रेम के विषय रूप से सेवा किया करते हैं) कारण 'ये सब वासुदेव एवं मैं भी वासुदेव स्वरूप हूँ' इस प्रकार की दृष्टि (ज्ञान) होने से ज्ञानी के सभी प्रेम मुझमें ही पर्यवसित (समाप्त) होते हैं। अतः इस प्रकार ज्ञानपूर्वक भगवद्भक्तिविशिष्ट महात्मा।] [अत्यन्त शुद्ध आत्मा (अन्तः-करण) होने के कारण जो महान अर्थात् जीवन्मुक्त, अतः सर्वोत्कृष्ट हैं वे महात्मा हैं (मधुसूदन) अथवा आनन्दगिरि के विचार में—महत् अर्थात् (सर्वोत्कृष्ट) आत्मा ही जिनके वैभव (ऐश्वर्य) है उनको महात्मा कहते हैं। श्रीधर स्वामी के विचार से (जिनकी दृष्टि अपरिच्छिन्न) (अज्ञान द्वारा सीमित नहीं) वे ही महात्मा हैं। इस प्रकार के महात्मा]

सुदुर्लभः—अत्यन्त दुर्लभ अर्थात् उनके समान या उनसे अधिक (श्रेष्ठ) कोई भी नहीं है, इसलिये सुदुर्लभ। वेदान्तादि शास्त्र श्रवण करते हैं ऐसे सहस्र सहस्र मनुष्यों में भी इस प्रकार के व्यक्ति बहुत ही विरल हैं। पहले भी गीता में "मनुष्याणां सहस्रेषु" (गीता ७।३) इत्यादि श्लोक में यही कहा गया है। अतः इस प्रकार के ज्ञानी भक्त मेरे अत्यन्त प्रिय होंगे, यह युक्त ही है।

टिप्पणी। (१) 'प्रपद्यते'—शब्द का टीकाकारों ने भिन्न भिन्न अर्थ किया है यथाः—

(क) श्रीधर—(सर्वात्मदृष्टि से अर्थात् मैं सबकी आत्मा हूँ इसी दृष्टि से) भजन करते हैं (ख) मधुसूदन—सदा सभी प्रेमों के विषयरूप से मुझको (परमात्मा को) भजन (सेवा) करते हैं कारण ज्ञान की परिपाक अवस्था में "इन सभी वस्तु ही वासुदेव ही हैं एवं मैं भी वासुदेव हूँ" इस प्रकार की दृष्टि लाभ होने पर ज्ञानी के सभी प्रेम मुझमें ही (परमात्मा में ही) पर्यवसित होते हैं (ग) शंकराचार्य—प्रत्यक्षभाव से प्राप्त होते हैं।

(२) श्रीधर—[मेरा उक्तप्रकार का ज्ञानी भक्त अति दुर्लभ हैं, यह कह रहे हैं—] बहूनां जन्मनाम् अन्ते—बहु जन्म से थोड़ा थोड़ा पुण्यसंचय करके अन्त में अर्थात् चरम जन्म में ज्ञानवान्—ज्ञानवान् होकर वासुदेवम् सर्वम् इति—('यह सम्पूर्ण चराचर वासुदेव स्वरूप ही है' इस प्रकार सर्वात्म-दृष्टि से अर्थात् मुझको सर्वभूतों की आत्मा जान कर भजन करते हैं। अतः सः महात्मा—इस लिये वे महात्मा हैं अर्थात् उनकी अज्ञानरूप परिच्छिन्न दृष्टि ज्ञान के द्वारा नष्ट हो गई है। अतः सुदुर्लभः—ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं।

(३) शंकरानन्द—इस प्रकार ज्ञान के आधिक्य के कारण ज्ञानी में सर्वापेक्षा उत्तमता (उत्कृष्टता) है, यह प्रतिपादन कर, अब ब्रह्म में निष्ठा

(स्थिति) लाभ करना ही जिनका एकमात्र प्रयोजन है इस प्रकार के महात्माओं का अभ्यास के फलस्वरूप अनेक जन्मों का विज्ञान सम्यक् (परिपक्व) होने पर एवं सभी प्रतिबन्धकसमूह नष्ट होने पर 'सब ब्रह्म ही हैं' इस प्रकार के दर्शन (साक्षात् अनुभव) होता है और उस सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होने पर उसके फलरूप से विदेहमुक्ति होती है यही अब प्रतिपादन कर रहे हैं—बहूनां—बहु (अनेक) अर्थात् दो तीन, चार संख्यक जन्मनाम्—जन्मों के। 'तत्र तं बुद्धिसंयोगम्' (गीता ६।४३-४४) अर्थात् वहाँ उस बुद्धि का संयोग लाभ करते हैं, इस प्रकार पहले जिस प्रकार कहा गया है उसके अनुसार सम्यक् ज्ञान की सिद्धि ही जिनका एकमात्र प्रयोजन (अर्थात् जीवन का लक्ष्य) है उनके बहुजन्मों के अन्ते—अन्त में अर्थात् अन्तिम जन्म में। प्राक्तन (पूर्वजन्म की) एवं आधुनिक (साम्प्रतिक) समाधिनिष्ठा से विपरीत भाव के कारण समूह को सम्पूर्णरूप से विनष्ट कर ब्रह्मविद् वासुदेवः सर्वम् इति—'वासुदेव ही सब हैं' इस प्रकार की अप्रतिबद्ध वृत्ति के द्वारा (अखंडित ब्रह्माकारा वृत्ति के द्वारा) अर्थात् सम्पूर्ण जगत् वासुदेवमात्र ही है इस प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न होकर ब्रह्मवित् [यदि शंका हो कि नाम, रूप, क्रिया एवं जाति विशेषों के द्वारा पृथ्वी, जल, वायु आदि एवं उनके कार्यों सभी भेदविशिष्ट होने से जगत् की (जागतिक वस्तु की) पृथक् सत्ता तो प्रत्यक्ष ही उपलब्ध होती है। अतः 'वासुदेव ही सब हैं' यों कैसे हो सकती है अर्थात् जगत् से विलक्षण वासुदेव के साथ जगत् की कैसे अभिन्नता सिद्ध हो सकती है ? उत्तर—नहीं, इस प्रकार की शंका युक्त नहीं है, कारण श्रुति और युक्ति के द्वारा विचार करने से नाम रूप आदि की तथा नामरूपादि विशिष्ट जगत् की भी ब्रह्म की सत्ता से अतिरिक्त सत्ता सिद्ध नहीं होती। मृतिका में घट के समान मरुभूमि में जल के समान ब्रह्म में कल्पित जगत् की (पृथक्) सत्ता यदि सम्भव होती तो नाम, रूप और जाति आदि के द्वारा (जागतिक विषय के) बहुत्व एवं ब्रह्म से विलक्षणत्व सिद्ध होता परन्तु ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता। अतः जगत् की पृथक् सत्ता एवं ब्रह्म से विलक्षणता भी सिद्ध नहीं होती। मृत्तिका की सत्ता से भिन्न घटकी सत्ता का कोई प्रमाण के द्वारा निरूपण किया नहीं जा सकता है। यदि शंका हो कि पृथुबुध्न, कम्बुग्रीवा आदि आकार से मृत्तिका से पृथक् रूप से घट के स्वरूप की उपलब्धि होती है, इसलिये मृत्तिका से भिन्न घट की सत्ता को स्वीकार करना युक्त ही होगा। उत्तर-नहीं, इस प्रकार कहना युक्त नहीं है, कारण पृथुबुध्नत्व आदि आकार से मृत्तिका ही घट के रूप से स्थित है, इसलिये घट में मृत्तिका की जड़ता,

गंधवत्ता आदि धर्मों का विचार नहीं होता। यदि शंका हो कि घट की स्थिति के भेद से (भिन्न भिन्न घट भिन्न भिन्न स्थान पर रहने के कारण एक घट से दूसरे घट में) भेद ही हैं, तब कहेंगे कि यह भी युक्त नहीं है, कारण मृत्तिका में ही स्थितिभेद कल्पित है, इसलिये स्थिति के भेद में अनुगत रूप से मृत्तिका ही उपलब्ध होती है एवं इस कारण से उक्त मृत्तिका के धर्मको व्यभिचार भी नहीं होता। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा मृत्तिका से घट की सत्ता की भिन्नता निरूपित नहीं की जा सकती। अतः मृत्तिका से घट का भिन्नत्व सिद्ध नहीं होता, कारण मृत्तिका से घटकी अभिन्नता प्रत्यक्ष है। घट का मृत्तिका से भिन्न होना अनुमान से सिद्ध किया जा नहीं सकता, कारण जिस विषय के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण से कोई संशय नहीं रहता उस विषय में अनुमान की प्रवृत्ति भी नहीं होती। घट आदि में भी इस न्यायकी (युक्ति की) उपयोगिता रहने से मृत्तिका की सत्ता का घट की सत्ता से सादृश्य उपपन्न (युक्त) नहीं होता, अतः उपमान प्रमाण की भी अनुपपत्ति है अतः घट के कारण की (मृत्तिका की) सत्ता से घट की भिन्न सत्तावत्ता सिद्ध नहीं होती। 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्' ('जिस प्रकार हे सोम्य, एक मृत्तिका के पिण्ड से समस्त मृत्तिका के विकार ज्ञात होता है') इस श्रुति से घट का मृत्तिका मात्र होना ज्ञात होता है। इस कारण से शब्द (आगम) प्रमाण के द्वारा भी घट की पृथक् सत्ता का सम्पादन किया नहीं जा सकता। इस प्रकार मृत्तिकामें घट के समान ब्रह्म में कल्पित जगत् की प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण द्वारा ही ब्रह्मसत्ता से पृथक् सत्ता का सम्पादन नहीं किया जा सकता। कल्पितत्व तो दोनों में ही समान है, इसलिये स्वतः सत्ताशून्य जगत् की ब्रह्म से अभिन्नता सिद्ध है। पूर्वोक्त रीति के अनुसार जगत् की सत्ता बाधित (निषिद्ध) होने से जगत् के आश्रय नाम रूप जाति आदि भी बाधित (निषिद्ध) होने के कारण उनके अपने अपने कार्य का भी निर्वाह नहीं हो सकता (अर्थात् नामरूप जाति आदि के कार्य भी कल्पित होने के कारण उनका वास्तविक कोई तात्पर्य नहीं रहता है। अतः 'वासुदेवः सर्वम् इति' भ्रान्ति के द्वारा प्रतीत सम्पूर्ण जगत् उसकी अधिष्ठान सत्ता से पृथक् न होने के कारण सब कुछ वासुदेव स्वरूप ही है, इस प्रकार अप्रतिबद्ध प्रत्यक् दृष्टि के द्वारा ('यह सभी और मैं वासुदेव ही हूँ') इस प्रकार ज्ञानयुक्त होकर ब्रह्मविद्वरिष्ठ अवशिष्ट प्रारब्ध के समाप्ति के बाद 'तस्य तावदेव चिरम्' ('उसको तब तक देर है') इस प्रकार श्रुति में उक्त रीति के अनुसार विद्वत्-शरीर के पतन होने से अशेष (सभी) विशेषों से रहित

(अर्थात् निर्विशेष) अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अबाह्य, सच्चिदानन्दैकरस, अद्वितीय मुझ परब्रह्म को प्राप्त होते हैं अर्थात् जिसप्रकार घट नष्ट होने से घटाकाश, महाकाश स्वरूप से स्थित होता है, उस प्रकार उपाधि के नष्ट होने से परिच्छिन्नता का कोई हेतु (कारण) न रहने से ब्रह्मवित् पूर्ण स्वरूप से स्थित होते हैं अर्थात् विदेह-कैवल्य प्राप्त होते हैं, यही कहने का अभिप्राय है। इस प्रकार अप्रतिबद्ध वृत्ति के द्वारा सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शी महात्मा—ब्रह्मविद्वरिष्ठ पुरुष लोक में (संसार में) सुदुर्लभः—बहुत ही दुर्लभ अर्थात् शुकादि के समान विरल ही है। प्रायशः इस प्रकार के पुरुष दिख नहीं पड़ते, यही तात्पर्य है। अथवा, बहूनाम्—अनेक अर्थात् सम्यक् ज्ञानसिद्धि के कारण समाधि ही जो सभी जन्मों की एकमात्र प्रयोजन है, उस प्रकार अनेक जन्मनामन्ते—जन्मों के अन्त में। उस उस जन्म में अनुष्ठित समाधि विशेष के द्वारा अविद्या, काम आदि प्रतिबन्धकादि की निःशेष-निवृत्ति होने पर विशुद्ध विज्ञान युक्त होकर ज्ञानवान्—ज्ञानी वासुदेवः सर्वम् इति—'सब कुछ वासुदेव ब्रह्म ही है' इस अप्रतिबद्ध वृत्ति से मां—मुझको अर्थात् सर्वात्मक परब्रह्म को प्रपद्यते—प्राप्त होते हैं—'ये सब मैं ही हूँ' इस प्रकार सभी जगत् को अपने स्वरूप से अभिन्न रूप से जानते हैं इस प्रकार से सभी वस्तु और आप ब्रह्म ही है ऐसा जानते हैं सः—वह अर्थात् महात्मा—महान् अर्थात् सर्वदा ब्रह्माकार से ही जिनकी आत्मा (अन्तः-करण) स्थित रहता है वह महात्मा [(उत्कृष्ट) आत्मा है (अन्तःकरण) जिनकी उनको महात्मा अर्थात् महानुभाव कहते हैं] ऐसा महात्मा सुदुर्लभः—अत्यन्त ही (बहुत ही) दुर्लभ (विरल) अर्थात् जो श्रवणादि करते हैं उस प्रकार के शत सहस्रों पुरुषों में भी इस प्रकार का कोई महात्मा विरल ही होता है, यही भाव है।

(४) नारायणी टीका—आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी इत्यादि मेरे भक्तगण पूर्व जन्मार्जित सुकृति के फल से ही क्षुद्र क्षुद्र देवता अथवा अन्य कोई पुरुष को आश्रय न कर मेरे ही शरणागत होते हैं और वे भी क्रमशः मोक्षस्वरूप मुझको ही प्राप्त होते हैं यह पूर्ववर्ती श्लोक की टीका में कहा गया है। किस क्रम से वे तत्त्वज्ञान लाभ कर मुझको (परमेश्वर को) प्राप्त होते हैं अर्थात् मेरे अत्यन्तप्रिय ज्ञानी-भक्त कब हो सकता है ? वह अभी कहा जा रहा है। जो सुकृतिशाली हैं उनके प्रत्येक जन्म में ही कुछ कुछ पुण्य संचय होता रहता है अर्थात् ज्ञान लाभ के संस्कार क्रमशः पुंजीभूत होते रहते हैं। इस प्रकार बहु जन्म व्यतीत होने पर क्रमशः उनकी (क) चित्तशुद्धि होती है एवं तत् पश्चात्

मुमुक्षुत्व एवं साधनचतुष्टय सम्पन्न होकर ज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ गुरु से वेदान्त महावाक्यादि के श्रवण, मनन, निदिध्यासन में परिपक्क होकर सर्व कर्म संन्यासी होते हैं इस प्रकार अन्तिम जन्म में निदिध्यासन परिपक्क होने पर निर्विकल्प समाधि के द्वारा वे लोग ज्ञानवान् होते हैं अर्थात् परमतत्व को साक्षात्कार कर लेते हैं। उस तत्वज्ञान का स्वरूप क्या है ? 'वासुदेवः सर्वमिति' [जो वसु अर्थात् ब्रह्म से स्तम्ब पर्यन्त सर्वभूतों के अनुपरमाणु में निवास करते हैं और जो 'देव' हैं अर्थात् सभी विश्व प्रपंच को स्वयं अपने में ही प्रकाश करते हैं "उस वासुदेव ही (अखंडाद्वय शुद्धचैतन्य स्वरूप परमात्मा ही) यह सब कुछ हैं और मैं भी वही वासुदेव ही हूँ" इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। विभिन्न गुण और अलंकार समन्वित भगवान की रामकृष्णादि परिच्छिन्न मूर्ति को ध्यानमूर्ति कहते हैं अर्थात् चित्त को एकाग्र और समाहित करने के लिये इन सभी मूर्तियों के ध्यान (एवं तद्गतभाव) अनुकूल होते हैं। और भगवान की जो मूर्ति सर्व प्रपंच रहित अव्यक्त आत्मस्वरूप शुद्धचैतन्यस्वरूप है जिसके द्वारा यह समस्त जगत् व्याप्त है (गीता ६।४) उसको ही श्रुति में शिव (कल्याणमय) शान्त अद्वैत (अर्थात् अपरिच्छिन्न अनन्त) ज्ञानमूर्ति कही गई है (मा० उप०)। 'सभी वासुदेव' इस प्रकार के परमात्मा का साक्षात्कार जो ज्ञानी किये हैं उन्हें महात्मा कहते हैं कारण की तत्त्वज्ञान से अज्ञानकृत परिच्छिन्न दृष्टि नष्ट होने पर उनकी आत्मा (अन्तःकरण) महान् ब्रह्म में लीन होती है और उसके फलस्वरूप से वे वासुदेव की स्वरूपता ही (ब्रह्मस्वरूपता ही) प्राप्त होते हैं इस प्रकार के ज्ञानी तथा भक्त महात्मा बहुत ही दुर्लभ है अर्थात् कोटि कोटि लोगों में एक भी इस प्रकार का महात्मा मिलना कठिन है। इस अध्याय के तृतीय श्लोक में यही कहा गया है।

['यह समस्त जगत् आत्मस्वरूप वासुदेव ही है' इस प्रकार का ज्ञान अन्य देवताओं के उपासकों को क्यों नहीं प्राप्त होता है ? उसका कारण कहा जा रहा है—]

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

अन्वयः—तैः तैः कामैः हृतज्ञानाः (सन्तः) स्वया प्रकृत्या नियताः (सन्तः) तं तं नियमम् आस्थाय अन्यदेवताः प्रपद्यन्ते ।

अनुवाद—उन उन (पुत्र, पशु, स्वर्गादि की) कामना द्वारा जिनका विवेक ज्ञान अपहृत (आच्छादित) हुआ है वे अपनी अपनी प्रकृति के

वशीभूत होकर (अर्थात् निज निज स्वभावानूरूप) जो जो देवता की उपासना का जैसा नियम प्रसिद्ध है उसे अवलम्बन कर के मुझसे अन्य (इन्द्रादि) देवता की आराधना करते हैं।

भाष्यदीपिका—तैः तैः कामैः हृतज्ञानाः—(काम्यन्ते इति कामाः अर्थात् जिनकी कामना की जाती है उनको ही काम अर्थात् विषय कहते हैं श्रुति में भी कहा गया है—"एतैरायुष्काम आयुराशास्ते राष्ट्रकामः पशुकामो ब्रह्मवर्चसकामः" अर्थात् उन देवताओं से आयु की कामनावाले आयु की, राज्य की कामनावाले राज्य की, पशुकामी पशु की, ब्रह्मतेजःकामी ब्रह्मतेज की आशा करते हैं। इसप्रकार इस संसार में कोई-कोई पुत्र, पशु इत्यादि विषय को एवं परलोक में स्वर्गादि की (विष्णु लोक शिव लोक प्रभृति की) कामना करते हैं फिर कोई-कोई मोहन, स्तम्भन, आकर्षण, वशीकरण, मारण, उच्चाटनादि की कामना करते हैं अर्थात् वे सभी ही नश्वर (अनित्य) एवं परिणाम में दुःखदायक सांसारिक विषयों की ही प्राप्ति करने की इच्छा करते है किन्तु मोक्षरूप परम पुरुषार्थ की कामना नहीं करते हैं। अतः अज्ञानीजीव जो जो अनित्य विषय की कामना करते हैं उन उन पुत्र पशु स्वर्गादिरूप विषय द्वारा उन लोगों का विवेकविज्ञान अपहृत (तिरोहित) होता है। इसलिए नित्यानित्य (आत्मानात्म) पदार्थ का विवेक अर्थात् पार्थक्यनिर्णय की सामर्थ्य उनकी नहीं रहती है। अतएव विवेक का फलरूप से जो विज्ञान अर्थात् परमार्थ तत्त्व का विशेष ज्ञान (साक्षात् अनुभव) प्राप्त हो सकता है। उससे वे वंचित रहते हैं। अतएव विभिन्न विषय की कामना द्वारा जिन लोगों का विवेक ज्ञान अपहृत हुआ है वे लोग [मधुसूदन सरस्वतीने किञ्चित् अन्य प्रकार से व्याख्या की है। उनके मत में काम—विषय को अभिलाषा, ज्ञान अन्तःकरण, हृत=भगवान वासुदेव से विमुख होकर अन्य क्षुद्र देवता के अभिमुख में स्थापित हुआ है। अतएव 'हृतज्ञाना' शब्द का अर्थ है—मोहन, स्तम्भन, वशीकरण, प्रभृति विषय की सामर्थ्य भगवत् सेवा द्वारा प्राप्त नहीं की जाती है, इस प्रकार सोचकर उन-उन काम (अर्थात् क्षुद्रादि विषयाभिलाष) द्वारा जो लोग हृतज्ञान हुए हैं अर्थात् जिन लोगों का ज्ञान (अन्तःकरण) हृत (भगवान् वासुदेव से विमुख होकर) उन-उन क्षुद्र-क्षुद्र फलदाता देवताओं के (इन्द्रादि देवता के) अभिमुख में स्थापित हुआ है वे हृतज्ञान व्यक्तिगण स्वया प्रकृत्या नियताः (सन्तः)—अपनी अपनी (स्वया) प्रकृति के (स्वभाव के) द्वारा (अर्थात् जन्मान्तरार्जित संस्कारविशेष द्वारा) नियमित अर्थात् वशीभूत होकर। संस्कार शब्द का अर्थ है पूर्वाभ्यासजनित

वासना। पूर्व पूर्व जन्मों में जिन-जिन वस्तुओं की कामना कर जिन-जिन देवता की आराधना का (भजन का) अभ्यास किया गया है वही वासनारूप संस्कार तत् तत् व्यक्ति के अन्तःकरण में आश्रित (स्थित) रहकर व्यक्ति-विशेष की प्रकृतिरूप में (स्वभावरूप में) परिणत होता है। इस प्रकृति के (अर्थात् जन्मान्तर में अभ्यासजनित संस्कार के) वशीभूत होकर जीव इस जन्म में कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकृति (या स्वभाव) दैवी भी हो सकती है अथवा आसुरी भी हो सकती है। जिस प्रकार की प्रकृति से सम्पन्न होता है उसके अनुसार उपास्य देवता निर्धारित हुआ करती है। सात्त्विक-सम्पन्न पुरुष की विष्णु शिवप्रभृति सात्त्विक देवता उपास्य होते हैं, राज प्रकृति-सम्पन्न लोगों के यक्ष या राक्षस देवता एवं तामसिक प्रकृति-सम्पन्न लोगों के भूत प्रेत पिशाच इत्यादि उपास्य होते हैं (गीता १७।४)। इसलिये कहा गया है—अपनी अपनी प्रकृति के द्वारा वशीभूत अर्थात् प्रेरित होकर तं तं—नियमम्—आस्थाय—उन-उन देवताओं की आराधना के लिए विहित (अर्थात् वेद, स्मृति, पुराण, एवं तंत्र प्रभृति के द्वारा विहित) जो जो नियम [उपवास, होम, दान, स्तोत्रपाठ प्रदक्षिण्य नमस्कार प्रभृति कर्मानुष्ठान की विधि] है उस उस नियम का आश्रय कर (अवलम्बन कर)

अन्यदेवताः प्रपद्यन्ते—अपनी आत्मस्वरूप निरुपाधिक निर्विशेष परब्रह्म वासुदेव से भिन्न (पृथक्) देवता को अर्थात् सविशेष (उपाधिविशिष्ट) ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु प्रभृति देवताओं का अथवा भूत प्रेत यक्षादि क्षुद्र देवताओ का (क्षुद्र-क्षुद्र फलप्राप्ति के लिए) आश्रय कर आराधना (उपासना) करते हैं।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[सकाम भक्त होकर भी जो लोग कामना सिद्धि के लिये केवल परमेश्वर का ही भजन करते हैं वे उनके काम्य विषयोंकी प्राप्ति कर क्रमशः मुक्त हो जाते हैं, यह पहले ही कहा गया है। किन्तु जो लोग अत्यन्त राजस और तामस प्रकृतिसम्पन्न होते हैं वे काम (वासना) के द्वारा अभिभूत होकर क्षुद्र क्षुद्र देवताओं का—भजन करते हैं। अतः वे लोग संसारचक्र में ही भ्रमण करते रहते हैं—यह अभी चार श्लोकों के द्वारा कहते हैं—] तैः तैः कामैर्हृतज्ञानाः—परन्तु जिनका ज्ञान (विवेकज्ञान) उन उन पुत्र, कीर्ति, शत्रुजय आदि विषयक कामनाओं के द्वारा अपहृत हुए हैं (हर लिया गया है) अन्यदेवताः प्रपद्यन्ते—वे अन्य भूत-प्रेत-यक्षादि क्षुद्र देवताओं को भजते हैं। कैसे वे उनके भजन करते हैं? स्वया प्रकृत्या नियताः सन्तः—अपनी प्रकृति के द्वारा अर्थात् पूर्वकृत अभ्यास की वासना के द्वारा

नियत (वशीभूत) होकर तं तं नियमम् आस्थाय—उन-उन देवताओं की आराधना के लिये जो जो नियम (उपवासादिरूपनियम) विहित है उन-उन नियमों को स्वीकार करके (पालन करके) [उन-उन देवताओं को भजते हैं]।

(२) शंकरानन्द—यदि प्रत्यक् लक्षणवाला (साक्षो चैतन्य स्वरूप) सर्वात्मक ब्रह्म अपना स्वरूप ही है, तब सर्व प्रकार से परिपूर्ण, सबसे निकट, अश्रमलभ्य (अनायासलभ्य) आत्मा को क्यों नहीं जानते हैं एवं जान कर मुक्ति क्यों नहीं प्राप्त होते, इस प्रकार की आशंका हो सकती है। इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि मेरी माया के द्वारा उनलोगों का विवेकज्ञान अपहृत होने के कारण वे अन्य देवताओं की आराधना में रत होकर मुझको नहीं जानते हैं। अतएव मेरा भजन भी नहीं करते हैं एवं भजन का फल भी प्राप्त नहीं करते हैं।

'पश्यति पुत्रं पश्यति पौत्रं' ('पुत्र को देखता है पौत्र को देखता है') (एतैरायुष्काम आयुराशास्ते, राष्ट्रकामः पशुकामो ब्रह्मवर्चसकामः) उन सब देवताओं से आयुकी कामनावाले आयु की, राज्यकामनावाले राज्य की, पशु की कामनावाले पशु की, ब्रह्मतेज की कामनावाले ब्रह्मतेज की आशा करते हैं, इत्यादि श्रुतिवचनों से एवं 'विष्णुलोकं स गच्छति' (वह विष्णु लोक में जाता है) 'शिवेन सह मोदते' (शिव के साथ आनन्द करता है) इत्यादि पुराणों के वचनों से उक्त तैः तैः कामैः—तत् तत् पुत्र, पशु, स्वर्ग, विष्णु आदि लोक सम्बन्धी तत् तत् देवताओं के महत्त्व के प्रतिपादक वाक्यों के श्रवण से उत्पन्न हुई मायारूप कामनाओं से हृतज्ञानाः—ज्ञान हृत होने के (तिरोहित) होने के (छिप जाने के) कारण। नित्यानित्य पदार्थ के विवेचन में नित्य पदार्थ के जानने में, नित्य पदार्थ का अनुसन्धान करने में एवं इसके फल का सम्पादन करने में (अर्थात् मोक्षरूप फल प्राप्ति करने में) जिनका विवेकज्ञान असमर्थ है उनको 'हृतज्ञान' कहा जाता है। इस रूप होने से मीमांसक, तार्किक, शैव, शाक्त, वैष्णव एवं अन्य सभी लोक स्वया—स्वकीय अर्थात् स्वीय अन्तःकरण में स्थित प्रकृत्या—प्रकृति से (अर्थात् वासना द्वारा) अर्थात् तत्तत् देवता की आराधना में, भजन में एवं उसके फल का सम्पादन करने में जो सब कर्म करना पड़ता है उन कर्म करानेवाली वासना से नियताः—प्रेरित होकर तं तं नियमम् आस्थाय—उस उस कर्म के अनुष्ठान में एवं तत्=तत् देवता का भजन के विषय में वैदिक, स्मार्त्त, पौराणिक एवं तांत्रिक शास्त्रों में जप, होम, दान, स्तोत्रपाठादि कर्मों के

सम्बन्ध में जो जो विधि (नियम) विहित है इसका अतिक्रम न कर के तत्-तत् नियम में आस्था रखकर अर्थात् उस उस नियम को आश्रय कर के अन्य-देवताः—अन्य [स्वीय आत्मतत्व से व्यतिरिक्त (विलक्षण) अर्थात् परब्रह्म से भिन्न देवतागण को अर्थात् सविशेष सोपाधिक ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, आदि देवताओं को प्रपद्यन्ते—पूजा करते हैं। उनकी उपासना से प्राप्त होनेवाले अनित्य एवं तुच्छ फलों में नित्यत्व एवं रम्यत्व बुद्धि कर के मोहित होकर उनकी सिद्धि के लिये इन्द्र आदि को भजते हैं, यह कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—विषय में नित्यत्व और रमणीयत्व बुद्धि रहने पर ही उनकी प्राप्ति के लिये अभिलाष (काम) जाग्रत होता है। यह काम जब तक रहता है तब तक विवेकविज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता कारण अज्ञान या अविद्या अर्थात् अनात्म वस्तु में (देहेन्द्रियादि में) आत्मबुद्धि, अनित्य और दुःखमय विषय में नित्यत्व और सुखबुद्धि जबतक रहती है तबतक तत्वज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये कहा गया कि 'काम से जिनका ज्ञान अपहृत हुवा है वे काम्य वस्तु की प्राप्ति के लिये आत्मा भिन्न अन्य देवता का भजन करते हैं। वस्तुतः आत्मा से अर्थात् निर्विशेष परब्रह्मस्वरूप वासुदेव से भिन्न (पृथक्) अन्य वस्तु कुछ भी नही है (गीता ७।१९) परन्तु कामी व्यक्ति अनित्य और मिथ्या विषय के प्रति आसक्ति से विवेक ज्ञानशून्य होनेपर भिन्न भिन्न देवताओं को (भेदबुद्धि से) विशेष विशेष नियम अवलम्बन कर भजते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि अन्य देवता की आराधना करने से शीघ्र फल मिलेगा—सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सर्वव्यापी वासुदेव की आराधना से उनकी जागतिक काम्य वस्तु शीघ्र प्राप्त नही होगी। वे शीघ्र रोग से मुक्ति पाने के लिये सूर्यादि की उपासना करते है; धन, ऐश्वर्यादि प्राप्ति के लिये लक्ष्मी प्रभृति देवताओं की, तथा विशेष कोई काम की सिद्धि के लिये गणेश, हनुमान आदि मूर्तियों की उपासना करते हैं। वे यह नही जानते कि ये सब मेरी ही (सच्चिदानन्दस्वरूप वासुदेव की ही) विभूतियाँ हैं एवं ये सब देवता मुझसे पृथक नही हैं। इस प्रकार का ज्ञान न रहने के कारण ही वे हृतज्ञान अर्थात् नष्टबुद्धि और नष्टविवेक होते हैं। प्रश्न होगा कि भिन्न भिन्न व्यक्तियों की भिन्न भिन्न देवताओं की आराधना में रुचि क्यों होती है ? उत्तर में भगवान बोलें—निज निज स्वभाव के द्वारा प्रेरित होकर ही वे इस प्रकार करते हैं। पूर्व पूर्व जन्म में भी वे उन उन देवताओं के भजन के विशेष विशेष नियमों का आश्रय कर उपासना किये थे, वही वासना संस्काररूप में परिणत होकर (अर्थात् स्वभाव रूप में परिणत होकर) इस

जन्म में उन उन देवताओं के प्रति और उनकी आराधना के अनुकूल कर्मानुष्ठान के प्रति रुचि उत्पन्न कर देती है।

इस प्रकार क्षुद्र क्षुद्र देवताओं की आराधना के फल भी क्षुद्र ही (अर्थात् अनित्य और अल्प ही) हुआ करता है। अतः भिन्न भिन्न देवताओं के उपासक की संसार गति ही चलती रहती है अर्थात् 'सर्वत्र एकमात्र सर्वात्मा वासुदेव ही विराजमान है, इस प्रकार की दृष्टि से निरन्तर भगवद्भजन करने से जो तत्त्वज्ञान में निष्ठा (ब्राह्मीस्थिति) प्राप्त कर ज्ञानी मोक्ष प्राप्त करते हैं उस तत्त्वज्ञान से वे कामी उपासकगण वंचित रहते हैं। श्रुति में इसलिये ही कहा गया है कि "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (क० उ०) अर्थात् देवता देवता में भेद है, जीव जीव में भेद है, इस प्रकार की भेदबुद्धि जब तक रहती है तब तक जीव मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त होते हैं (मरणशील जगत् में ही भ्रमण करते रहते हैं)।

आर्त, जिज्ञासु, और अर्थार्थी इन तीन प्रकार के मेरे भक्त यद्यपि सकाम होकर भेदबुद्धि से ही मेरी आराधना करते हैं तब भी उनको मैं उदार (उत्कृष्ट) कहता हूँ। इसका कारण यह है कि अन्य देवता के भक्त की एवं मेरे (परमेश्वर के) भक्त की उपासना में क्लेश समान होने पर भी जो मेरे भक्त हैं वे चित्तशुद्धि, सर्वकर्मसंन्यास और तत्वज्ञान प्राप्ति—इन तीनों भूमिका क्रम से अतिक्रम कर मोक्षरूप फल प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। किन्तु जो क्षुद्र क्षुद्र विषय की कामना पूरण करने के लिये मुझसे अन्य (परिच्छिन्न) देवता की आराधना करते हैं उनकी चित्तशुद्धि न होने के कारण पुनः पुनः संसाररूप गति ही प्राप्त होती है। यही सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा शुद्धचैतन्यस्वरूप वासुदेव के भक्त एवं क्षुद्र क्षुद्र देवताओं के भक्तों में विशेष अन्तर (पार्थक्य) है।

[प्रश्न—उन देवताओं के अनुग्रह से उन उपासकों को क्रमशः सर्वेश्वर, सर्वात्मक, भगवान वासुदेव के प्रति भक्ति का उदय हो सकता है, अतः वे भी अन्त में मोक्ष लाभ कर सकेंगे ?

उत्तर—नहीं, ऐसा होना कठिन हैं क्योंकि—]

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—यः यः भक्तः यां यां तनुं श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति अहं तस्य तस्य (तस्यां तस्यां तनौ) ताम् एव अचलां श्रद्धां विदधामि।

अनुवाद—जो जो भक्त श्रद्धापूर्वक जिन जिन देवताओं की मूर्ति की अर्चना (पूजा) करने के इच्छुक होते हैं हम उन उन देवताओं की मूर्ति के प्रति उन-उन व्यक्तियों की श्रद्धा को अचला अर्थात् दृढ़ कर देते हैं।

भाष्यदीपिका—यः यः भक्तः—उन सब कामियों में जो कामनावान् (फल की इच्छा करनेवाले) वैष्णव, शैव, शाक्त, कर्मकाण्डी या अन्य कोई भक्त (उपासक) यां यां तनुं—जिन जिन देवताओं की शरीरों को (मूर्तियों को)। ['कामितार्थं तनोतीति' अर्थात् काम्य वस्तुओं की जो वृद्धि करता है उसको 'तनुं' अर्थात् देवता कहते हैं। इसलिए तनु शब्द से शिव, विष्णु, इन्द्र, प्रभृति देवताओं की मूर्तियों को सूचित किया जा रहा है]।

'तनु' शब्द के एक वचन के प्रयोग से भगवान् यही सूचित करते हैं कि देवताओं के तनु का अर्थात् मूर्ति का ही भेद होता है, परन्तु उनकी आत्मा चैतन्यस्वरूप वासुदेव मैं ही हूँ। अतः परमार्थतः उन देवताओं में और मुझ में कोई भेद नहीं है। तथापि जो लोग भेद-दृष्टि से देवता की मूर्ति को श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक। ['श्रद्धया' और 'भक्त' इन दो शब्दों से यही स्पष्ट होता है कि उन देवता-मूर्तियों में श्रद्धा और भक्ति संयुक्त होकर आराधना करने पर ही कामना की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। अतः इसप्रकार श्रद्धा व भक्ति के साथ जो] अर्चितुम् इच्छति—(फल सिद्धि के हेतु) पूजा करने को इच्छुक होते हैं (अर्थात् उन देवताओं की आराधना में प्रवृत्त होते हैं) [अर्च्च धातु चुरादि गणीय, अतः इसके साथ णिच् प्रत्यय युक्त होने पर तुम् प्रत्यय युक्त होगा अर्थात् अर्चितुम् शब्द का 'अर्चयितुम्' अर्थमें प्रयोग किया गया है]।

अहम्—मैं अर्थात् बुद्धि में अन्तर्यामी रूप में स्थित वासुदेव मैं तस्य तस्य ताम्—उन उन कामी व्यक्तियों के (उन उन देवताओं की मूर्तियों के प्रति) ['ताम्' पद श्रद्धा का सर्वनाम है ऐसा मानकर व्याख्या करने पर ('यां यां तनुं' इस स्थान में प्रयुक्त) 'याम्' शब्द का अन्वय नहीं होता है। इसलिए 'ताम्' पद के बाद 'प्रति' शब्द युक्त होकर 'तनुं' पद के सर्वनाम के रूप से व्याख्या करना चाहिए अर्थात् 'तामेव' शब्द को 'ताम् (तनुं) प्रति एव' इस रूप से ग्रहण करना पड़ेगा। (मधुसूदन)] अचलां श्रद्धां विदधामि—श्रद्धा को अचला (स्थिरा अथवा दृढ़ा) कर देता हूँ (टिप्पणी)

टिप्पणी (१) श्रीधर—[जो लोग भिन्न भिन्न देवताओं की उपासना करते हैं उन लोगों में—] यः यः—जो जो भक्त यां यां तनुं—जिस जिस शरीर को अर्थात् [देवतामूर्ति को। सब मूर्तियाँ मेरी ही हैं, अतः उन उन देवतामूर्ति से मुझको ही] श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति—श्रद्धापूर्वक पूजा करना चाहता है

अर्थात् पूजा करने के लिये प्रवृत्त होता है तस्य तस्य—उन्हीं भक्तों का ताम् एव—उन्हीं मूर्तिविषयक श्रद्धाम् अचलां विदधामि—श्रद्धा को (अन्तर्यामी मैं) अचल (दृढ़) कर देता हूँ।

(२) शंकरानन्द—उनमें शैव, वैष्णव, शाक्त, कर्मी अथवा अन्य यो यो—जो जो भक्तः—उपासक यां यां—जो जो, तनुं 'कामितार्थं तनोतीति तनुर्देवता' अर्थात् काम्य पदार्थ को वृद्धि करता है उसको तनु अर्थात् देवता कहा जाता है। उस तनु को अर्थात् शिव, विष्णु, इन्द्र अथवा अन्य देवताओं को श्रद्धया—अपनी जिस श्रद्धा से अर्चितुम्—अर्चना करना अर्थात् फलसिद्धि के लिए आराधना करना इच्छति–चाहता है तस्य तस्य–उन उन भक्तों की ताम् एव—उसी शिव आदि देवता में वही श्रद्धाम् अचलाम्—श्रद्धा को अचला या स्थिरा अहम्—मैं (आत्मा) [अर्थात् बुद्धि में स्थित अन्तर्यामी मैं] विदधामि—कर देता हूँ यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि– जिस प्रकार बीज के अंकुर चाहे वह पीपल का, नीम का, या आम का हो अपनी वासना के अनुसार परिणाम प्राप्त होता है (वृद्धि प्राप्त होता है) अंकुर में स्थित जल उसको शक्ति देता है, सभी प्राणियों अपने अपने कर्मानुरूप वासना से जिस प्रकार प्रवृत्त होना चाहते हैं, उसी प्रकार बुद्धि में स्थित आत्मा भी अपने सान्निध्य मात्र से उनकी बुद्धि को उसकी प्रवृत्ति के अनुसार शक्ति प्रदान करती है। जिस प्रकार सारथी रथको चालित करता है उस प्रकार नहीं करता क्योंकि अमूर्त एवं अविकारी आत्मा में क्रिया सम्भव नहीं है। श्रुति में भी कहा गया है—'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयति य आत्मनि तिष्ठन्' ('जो आदित्य में स्थित होकर, आदित्य के भीतर अवस्थान करता है, जिसको आदित्य नहीं जानता है, जिसका आदित्य शरीर है, जो भीतर रहकर आदित्य का नियमन करता हैं; जो आत्मा में स्थित होकर' इत्यादि)।

(३) नारायणी टीका—स्वभावतः—(अर्थात् जन्मान्तरीय संस्कारवशतः) विशेष देवता के विग्रहों (मूर्तियों) के प्रति विशेष–विशेष व्यक्तियों की श्रद्धा रहती है एवं उसी श्रद्धा से प्रेरित होकर वे–वे कामी व्यक्ति फल लाभ करने के लिये उन–उन देवता की विशेष मूर्तियों को भक्तिपूर्वक अर्चना (पूजा) में प्रवृत्त होते हैं। उस श्रद्धा को (अर्थात् उस सात्त्विकी, राजसो या तामसी श्रद्धा को) मैं अन्तर्यामी रूप से बुद्धि में स्थित होकर अचला या स्थिरा कर देता हूँ। [इसके द्वारा कहा जा रहा है कि पृथक् पृथक् देवतामूर्तियों की आराधना करने पर जो फल प्राप्त होते हैं वे सभी भगवान के

अनुग्रह से ही होते हैं (आनन्दगिरि)] परन्तु मुझमें अर्थात् आत्मस्वरूप परब्रह्म में उन लोगों की श्रद्धा के अभाव से वे मोक्ष लाभ करने में असमर्थ होते हैं। कारण एकमात्र मुझको आश्रय करने पर ही इस संसाररूपी माया का अतिक्रमण करना संभव होता है, अन्यथा नहीं—यह मैं पूर्व में ही वर्णन कर चुका हूँ (गीता ७।१४)।

अब प्रश्न यह है कि तुम जब सब कर्मों के भोक्ता, अन्तर्यामी एवं सर्व भूतों का सुहृत हो (गीता ५।२९) तब उन लोगों की श्रद्धा तुम्हारे प्रति अचला न कराकर अन्य देवताओं के प्रति दृढ़कर क्यों उनको संसार गति प्राप्त कराते हो ? इसका उत्तर यह है—जिस प्रकार अश्वत्थ, निम्ब (नीम) अथवा आम वृक्ष के अंकुरावस्था में जल सिंचन करने पर अपने-अपने संस्कार के अनुसार ही उनकी वृद्धि होती है, जल केवल वृद्धि के अनुकूल शक्ति प्रदान करता है, उसी प्रकार प्राणि-मात्र भी जन्मान्तरीय कर्म संस्कार अथवा वासनानुसार अपने अपने कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। बुद्धि में स्थित शुद्ध चैतन्य स्वरूप उदासीन आत्मा केवल सान्निध्य से उस प्रवृत्ति के अनुकूल बुद्धि की शक्ति का विकास करता है। अथवा स्वयं वैद्युतिक शक्ति जिस प्रकार प्रदीप (Electric Lamp), व्यजन (Electric Fan) इत्यादि को संयोगमात्र से (स्वयं उदासीन होकर भी) अपने-अपने संस्कार के अनुसार कार्य करने की शक्ति को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार आत्मा भी अपनी चितिशक्ति से भिन्न-भिन्न जीवों को उनके भिन्न-भिन्न संस्कार के अनुसार कर्म करने की शक्ति को प्रकाश करता रहता है एवं पुनः अभ्यास द्वारा वे संस्कार उत्तरोत्तर दृढ़ व स्थिर होते रहते हैं। देवताओं की आराधना कार्य में भी ऐसा ही होता है।

आत्मा में कोई क्रिया नहीं है अर्थात् आत्मा कुछ कराता भी नहीं है और स्वयं करता भी नहीं है। आत्मा अमूर्त और अविकारी है, सभी जीव स्वभाव से ही प्रेरित-होकर कर्म करते हैं, यह पंचम अध्याय के १४ वें श्लोक में श्रीभगवान्‌ने वर्णन किया है। स्वभाव या प्रकृति जड़ है अतः आत्मा के संयोग के विना उससे कोई कर्म संभव नहीं है, जिस प्रकार वैद्युती शक्ति के संयोग विना प्रदीप या यंत्रादि (Bulbs, Mechines etc.) कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं कर पाता है। इसी कारण यह कहा जाता है कि मैं ही (परमात्मा ही) पृथक्-पृथक् देवताओं के उपासकों की श्रद्धा को अचल (स्थिर) कर देता हूँ। कारण चैतन्य-स्वरूप भगवान की सन्निधि (संयोग) बिना जड़ देह इन्द्रियाँ अथवा बुद्धि न तो कोई पूजा आदि कर्म कर सकते हैं और न तो अभ्यास से उन सभी कर्मों का संस्कार दृढ़ हो सकता है। भगवान निर्लिप्त और उदासीन

रहकर भी इन सभी कर्मों के हेतु होते हैं। इस कारण उनमें किसी प्रकार का पक्षपातित्व–दोष संभव नहीं होता।

[जिस प्रकार चैतन्य स्वरूप मेरे सान्निध्य मात्र से अन्य देवताओं के भक्तों की उन देवताओं के प्रति श्रद्धा दृढ़ (स्थिर) होती है, उसी प्रकार मेरी सन्निधि से ही उन देवताओं से भक्तों के अभिलषित फल की प्राप्ति भी होती है, यही अभी कह रहे हैं—]

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

अन्वयः—सः तया श्रद्धया युक्तः (सन्) तस्य आराधनम्, ईहते ततः च मया एव विहितान् तान् कामान् हि लभते।

अनुवाद—उस श्रद्धा से युक्त होकर वह भक्त उसी देवता की मूर्ति को ही अर्चना करता है और उस देवताविशेष से जो सब काम (अभिलषित पदार्थ) लाभ करता है, वह सभी फल देवताओं के अंतर्यामी एवं सर्व फलदायी मुझ से ही विहित (निर्मित) होते हैं (अर्थात् मैं ही उन सब फलों का विधाता हूँ)।

भाष्यदीपिका—स तया श्रद्धया युक्तः (सन्) वह भक्त पूर्वश्लोकोक्त श्रद्धा (जो मुझसे अचल (स्थिरीकृत) होती है) उसके द्वारा युक्त होकर तस्याः—उन देवतनु के (देवता-मूर्ति के) आराधनम्—[उन देवतासम्बन्धी मन्त्र, जप, होमादि कर्मरूप] पूजा अथवा आराधना ईहते—करने की प्रचेष्टा करता है अर्थात् सम्पादन करता है ततः च—तत्पश्चात् उस आराधित देवता मूर्ति से मया एव—उन देवताओं के भी अन्तर्यामी एवं सर्वज्ञ, सर्व फलदायी मुझसे ही विहितान् कामान्—विहित (निर्मित) अभीष्ट सभी विषय लभते—लाभ करते हैं।

श्रद्धा और भक्ति के साथ विधिपूर्वक देवताओं की आराधना करने से सकाम भक्त अभिप्सित वस्तुओं को प्राप्त करता है, यह प्रसिद्ध है। इसीलिए श्लोक में 'हि' शब्द का प्रसिद्धार्थ में प्रयोग हुआ है। परन्तु आराधित देवताओं के प्रसाद (कृपा) से ही यदि फल सिद्ध हो (अर्थात् वाञ्छित वस्तुओं का लाभ हो) तो तुम्हारा (सर्वज्ञ ईश्वर का) और प्रयोजन ही क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं—मैं परमेश्वर और सर्वज्ञ हूँ—अतः सभी प्रकार के कर्मफलों का विभाग को मैं ही जानता हूँ और इसी कारण विपाक

काल में (अर्थात् उन देवताओं की आराधना रूप कर्म जब फल प्रसव करने के लिए परिपक्क होता है तब) उन सब फलों का निर्माण (विधान भी) मैं ही करता हूँ। कहने का अभिप्राय यह है कि देवताओं के अन्तर्यामी रूप से मैं ही अवस्थान कर देवताओं के द्वारा उन सब अभीष्ट वस्तुओं को प्रदान करता हूँ। इसी लिए श्रुति में भी कहा गया है "एको बहूनां यो विदधाति कामान्" यतः इन सब कामों का (इच्छित विषयों का) फलदाता मैं ही हूँ इसलिए वह अवश्य ही उन कामों को प्राप्त होगा ऐसा निश्चितार्थ प्रकाश करने के लिए 'हि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। [श्लोक में 'विहितान् कामान्' इस पदका यदि वि (विशेष रूप) + हितान् + कामान्—इस प्रकार पदच्छेद किया जाय तो श्लोक के शेष अंश का अर्थ इस प्रकार होगा ततः अर्थात् देवता की आराधना के पश्चात् मुझसे ही विशेष रूप से हित (मन के प्रिय एवं अभिलषित) काम अर्थात् इच्छित विषयों की प्राप्ति होती है। परन्तु सभी कामों को यदि 'हित' कहा जाय तो यहाँ 'हित' शब्द औपचारिक ही होगा क्योंकि कामसमूह (अभिष्ट जागतिक विषयसमूह) किसी के लिए हितकर नहीं हो सकते कारण वे सब दुःखमय संसार गति की प्राप्ति का ही हेतु होते हैं। [तात्पर्य यह है कि वास्तविक रूप से कोई काम ही हितकर नहीं है। परन्तु अहित होने पर भी अज्ञानवश वे सब हित जैसे प्रतीत होते हैं, अतः वे औपचारिक हैं। अतः 'वि + हितान् कामान्' पद का अर्थ होगा मन के विशेष प्रिय कामसमूह (भोग्य वस्तुसमूह)] ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[उसके बाद—] स तया श्रद्धया युक्तः—वह भक्त उस दृढ़ श्रद्धा द्वारा युक्त होकर तस्य आराधनम् ईहते—उस मूर्ति की आराधना करते हैं।

ततः च—एवं उस आराधना के फलस्वरूप उन-उन देवता विशेष से तान् कामान् लभते—अपने संकल्पित कामसमूह (भोगसमूह) प्राप्त होते हैं किन्तु मया एव विहितान्—उन-उन देवताओं के भी अन्तर्यामी वासुदेव स्वरूप मेरे द्वारा ही निर्मित्त (विहित) वे सब भोग उन सब देवताओं से प्राप्त होते हैं। यह स्पष्ट है कि वे देवताएँ मेरे ही अधीन और मेरे ही स्वरूप हैं।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार अन्य देवताओं के भक्तों की तत् तत् देवताओं में दृढ़ श्रद्धा की सिद्धि मुझसे ही (आत्मा से ही) होती है, ऐसा प्रतिपादन करके उनके उनके फल की सिद्धि भी तत् तत् देवताओं के द्वारा मुझसे (आत्मा से) ही विहित होती है, यह प्रतिपादित कर रहे हैं सः—वह

भक्त भी तया—उससे अर्थात् उक्त रीति से मेरे द्वारा परिवर्द्धित श्रद्धया—श्रद्धा से युक्तः—आसक्त होकर तस्याः—उसका अर्थात् अपने-अपने देवता का आराधनम्—आराधन अर्थात् तत् तत् देवता विषयक कर्म (मंत्र, जप, होम आदि) ईहते—करता है, पश्चात् उन-उन (तत्-तत्) देवताओं के अंतर्यामी मया एव—मुझसे ही विहितान्—विहित अर्थात् प्रदत्त अर्थात् तत्-तत् देवता मूर्ति का अवलम्बन कर मैं जो भी प्रदान करता हूँ उन हितान्—इष्टकामान् लभते—कामनाओं (अभीष्ट पदार्थों) को प्राप्त करता है। 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' (यही शुभ कर्म कराते हैं)। 'एको बहूनां यो विदधाति कामान्' [एक होकर भी जो बहु व्यक्ति की कामनासमूह को विधान करते हैं (इष्ट पदार्थों को दिया करते हैं)] इत्यादि श्रुति वाक्य द्वारा मैं ही कर्म कारयिता (कर्म कराने वाला) और उन सब कर्मों का फलदाता हूँ—यही कहा गया है। अतः इन सब वाक्यों के द्वारा उन सब देवताओं का अनात्मत्व, अनीश्वरत्व एवं अस्वातंत्र्य सूचित होता हैं एवं साथ साथ यह भी स्पष्ट होता है कि चेतन ईश्वर संपूर्ण पदार्थों के दाता, आत्मभूत एवं अनायास प्राप्त होने योग्य मुझको त्यागकर मूढ़ पुरुष ही उक्त लक्षणयुक्त दूसरे देवताओं को भजते हैं।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में कहा गया है कि जो पुरुष पूर्व जन्मार्जित संस्कार रूप प्रकृति (स्वभाव) द्वारा प्रेरित होकर जिन देवता-विशेष की मूर्ति को श्रद्धापूर्वक पूजन करने में प्रवृत्त होते हैं उस श्रद्धा को मैं (परमेश्वर) अचल (दृढ़ एवं स्थिर) कर देता हूँ। अब भगवान कह रहे हैं कि उस श्रद्धायुक्त होकर विषयभोगकामी पुरुष अपनी-अपनी इष्ट देवता की आराधना करने में तत्पर रहते हैं। देवताओं की मूर्तियाँ भी मनुष्य शरीर जैसी जड़ हैं। अतः वे मूर्तियाँ स्वतंत्र अथवा ईश्वर नहीं हो सकती। उन लोगों के अंतर्यामी चेतन पुरुष के (जो उनकी आत्मा है उनके) संयोग या प्रेरणा के विना देवताओं की कुछ करने की या देने की सामर्थ्य नहीं है अर्थात् देवता-गण भी परमेश्वर के अधीन हैं कारण वे परमेश्वर की ही विशेष-विशेष मूर्तियाँ (विभूतियाँ) होते हैं। अतः उनसे जो सब अभीष्ट फल लाभ होता है, उन सब फलों के दाता भी परमेश्वर ही हैं। 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' इत्यादि श्रुति वाक्यों से यही प्रमाणित होता है कि परमेश्वर ही सान्निध्य मात्र से सब को कर्म कराता है एवं उन कर्मों का फल भी प्रदान करता है अर्थात् परमेश्वर ही कारयिता (कराने वाला) और कर्मफल विधाता हैं। अतः चैतन्यस्वरूप परमेश्वर से ही सभी प्रयोजनों की सिद्धि होती है। इसलिए भगवान ने कहा कि उन सभी देवताओं से जो सब अभीष्ट फल उपासकगण लाभ करते हैं वे मेरे द्वारा

ही (सर्वज्ञ सर्वकर्मफल विधाता परमेश्वर द्वारा ही) विहित (निश्चित) होते हैं। मैं ही सभी की आत्मा हूँ, अतः सबसे सन्निकृष्ट और अनायासलभ्य मैं ही हूँ। इस प्रकार सर्वतः संप्लुतोदक स्थानीय (महा सरोवर सदृश) मुझको (गीता २।४६) त्यागकर जो सब कामी व्यक्ति उदपान (कूप तड़ाग आदि) सदृश अन्य देवता का क्षुद्र-क्षुद्र फल लाभ के लिए भजन करते हैं वे मोक्षरूप महाफल से वंचित होकर संसार चक्र में ही भ्रमण करते हैं। मेरी और अन्य देवताओं की उपासना में परिश्रम एक प्रकार का ही है, तथापि दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त करके भी तुच्छ कुँआ तालाब आदि सदृश दूसरे क्षुद्र-क्षुद्र देवताओं के तुच्छ भोग वासना की तृप्ति के लिए आराधना करके दुःखमय गति प्राप्त होते हैं किन्तु अज्ञानवश मुझ परिपूर्ण अन्तरात्मा को साक्षात्कार कर मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करते हैं। इससे और अधिक मूढ़ता क्या हो सकती है ?

[यद्यपि सभी देवता सर्वात्मा मेरी ही मूर्ति हैं, अतः भिन्न-भिन्न देवताओं की आराधना भी मेरी ही आराधना है और अंतर्यामी मैं ही सभी कर्मों का फलदाता हूँ, तथापि मेरे भक्त और अन्य देवताओं के भक्त की उपासना के फलों में भेद (वैषम्य) होता है कारण पूर्व श्लोकोक्त कामी और अविवेकी का साधन और जिसके लिए वे साधन (प्रयास) करते हैं वह फल भी विनाशशील होता है।] अतः—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अन्वयः—तेषाम् अल्पमेधसाम् तत् फलम् अन्तवत् तु भवति, हि देवयजः देवान् यान्ति, मद्भक्ताः अपि माम् यान्ति ।

अनुवाद—इन अल्पबुद्धि व्यक्तियों को जो फल प्राप्त होता है वह विनश्वर है, कारण भिन्न-भिन्न देवताओं के उपासक गण तत्-तत् देवलोक प्राप्त होते हैं [और पुण्य के फल का क्षय होने से उस-उस लोक से च्युत होकर फिर मर्त्यलोक में जन्म लेते हैं]। परन्तु मेरे भक्तगण (अविनश्वर) मुझको ही प्राप्त होते हैं।

भाष्यदीपिका—तेषाम् अल्पमेधसाम्—[क्योंकि अन्य देवताओं के भक्तगण अविवेकी अर्थात् नित्य वस्तु (आत्मा को) अनित्य वस्तु से (जगत् प्रपंच से) विवेक (पृथक्) करने में असमर्थ हैं और क्षुद्र फलकामी होते हैं 'अल्पमेधसः' अर्थात् उनलोगों की प्रज्ञा (बुद्धि) भी अल्प ही होती है। उन अल्पप्रज्ञ व्यक्तियों के तत् फलम्—जो फल उन-उन देवताओं की आराधना से

प्राप्त होता है वह मुझसे विहित होने पर भी अन्तवत्तु—अवश्य ही विनाशशील (नश्वर) होता है। 'तु' शब्द अवधारणार्थ (निश्चयार्थ) में व्यवहृत हुआ है। मेरे विवेकी भक्तगण अनन्तस्वरूप मेरी आराधना कर अनन्त फल को प्राप्त करते हैं। किन्तु मुझसे भिन्न देवताओं के उपासकगण जो फल प्राप्त करते हैं वह कभी भी इस प्रकार का नहीं होता यही कहने का अभिप्राय है। देवताओं की आराधना के फल विनश्वर होने का कारण क्या है ? और अनन्त फल लाभ करने की साधना भी क्या है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—

हि—क्योंकि देवयजः—मुझ आत्मस्वरूप परमात्मा को छोड़कर दूसरे देवताओं का जो लोग पूजन करते हैं वे देवान्—विनाशशील इन्द्रादि देवगणों को [अर्थात् उन-उन देवताओं को] यान्ति—प्राप्त होते हैं अर्थात् इन्द्रादि देवगणों के सालोक्य प्राप्त होते हैं और उन लोकों (ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक, शिवलोक, विष्णुलोक प्रभृति) के भोग उपभोग करते हैं।

परन्तु इन्द्रादि देवगण स्वयं ही विनाशशील हैं अर्थात् चिरस्थायी (नित्य) नहीं है। कल्प के नाश के साथ-साथ उनका भी नाश होता है। अतः उनकी आराधना से प्राप्त हुआ फल भी विनश्वर ही होगा [मैं सर्व कर्म का फलदाता होने पर भी जिनकी जिस प्रकार की श्रद्धा और भावना रहती है मैं भी उनको उस प्रकार का ही फलदान किया करता हूँ। अल्पबुद्धि मानव तुच्छ क्षणस्थायी विषय की कामना करके क्षुद्र-क्षुद्र देवता की आराधना करते हैं इस कारण से वे लोग विनाशशील फल प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको चाहते हैं। मैं नित्य शाश्वत हूँ अतः—]

मद्भक्ताः अपि—मेरे भक्त गण भी [मेरे ज्ञानी भक्त तो मेरा निरंतर चिन्तन कर मुझमें ही लीन हो जाते हैं। अतः वे मुझको अनायास ही प्राप्त होते हैं किन्तु उनके अतिरिक्त मेरे अन्य भक्तगण भी (गीता ७।१६) अर्थात् आर्त, जिज्ञासु एवं अर्थार्थी भक्त भी 'अपि' शब्द से इन तीन प्रकार के भक्तों को ही सूचित किया जा रहा है]। मां यान्ति—मुझको अर्थात् सर्वात्मा, सर्वव्यापी, अनन्त, सच्चिदानन्द, परमेश्वर, परब्रह्म को आत्मभाव से प्राप्त होते हैं। उक्त तीन प्रकार के सकाम भक्त भी मेरे अनुग्रह से प्रथमतः अभीष्ट (काम्य) विषयसमूह को प्राप्त होते हैं एवं उसके बाद उपासना की परिपक्वता होने पर (चित्तशुद्धि और तत्त्वज्ञान होने पर) मुझको (परमेश्वर को) प्राप्त होते हैं मेरे साथ एकत्व अनुभव कर मुझमें ही स्थित होते हैं अन्य देवताओं को प्राप्त करने के लिए जितना परिणाम, अभ्यास या प्रयत्न आवश्यक हैं, मुजको प्राप्त करने के लिए भी उतने ही परिमाण प्रयत्न की

आवश्यकता होती है। तथापि मूढ़ व्यक्ति अनन्त फल के (मोक्ष के) हेतु स्वरूप मेरा भजन न कर कामना के वशवर्ती होकर विनाशशील क्षुद्र-क्षुद्र फल लाभ की आशा से अन्य देवताओं की अर्चना किया करते हैं। इसका एकमात्र हेतु है उनलोगों की अल्पबुद्धि या विवेकहीनता। मेरे ज्ञानी भक्तों को सदसद्वस्तु-विवेक है (अर्थात् मैं ही नित्य, सत्य, वस्तु और सभी अनित्य है, यह ज्ञान है) किन्तु अन्य देवताओं के भक्तों को उस प्रकार का विवेक-ज्ञान नहीं है। यही दोनों के फलभेद का कारण है। अहो अविवेकिगण इस प्रकार से संसार गति प्राप्त कर कितना ही कष्ट (क्लेश) भोग करते हैं, इस प्रकार कहकर भगवान् उनलोगों के प्रति करुणा (अनुकम्पा) दिखा रहे हैं।

टिप्पणी (१) श्रीधर—इस प्रकार से यद्यपि सभी देवता मेरी ही मूर्ति (मेरे ही स्वरूप) हैं अतः उनकी आराधना से वस्तुतः मेरी ही आराधना होती है, एवं उन उपासकों के सब अभीष्ट फलों का दाता मैं ही हूँ तथापि मेरे साक्षात् भक्तों के एवं उन सब देवताओं के उपासकों के फल के विषय में विषमता (भेद) रहती हैं, यही अब कहा जा रहा है ।

तेषाम् अल्पमेधसाम्—वे सब अल्पबुद्धि अर्थात् परिच्छिन्न दृष्टि-सम्पन्न व्यक्तियों का [अन्य देवता की आराधना करने से जो फललाभ होता है] तत् फलम् अन्तवत् तु—(वह मेरे द्वारा प्रदत्त होने पर भी) वह फल अन्तवत् ही अर्थात् नाशवान् ही होता है।

नाशवान् क्यों होता है ? वह अभी कहा जा रहा है—देवान् देवयजः यान्ति—जो लोग देवता की पूजा करते हैं वे लोग विनाशशील देवताओं को ही प्राप्त होते हैं। मद्भक्ताः माम् अपि यान्ति—भक्तगण—आदि अन्तरहित मुझको (परमानन्द को) प्राप्त होते हैं।

(२) शंकरानन्द—'काम एष क्रोध एषः' (यह काम है, यह क्रोध है) इसके द्वारा काम और क्रोध का दुष्पुरत्व, (कभी पूर्ति न होना), पातकित्व एवं वैरित्व पहले ही कहा गया है। अतः काम ही सब अनर्थ का बीज है कारण का भी पुरुष द्वारा कृतकर्म एवं उसका फल नाश का प्रतियोगी (अर्थात् अनित्य) होते हैं इसलिए वे पुरुषार्थ का (मोक्ष का) सम्पादक नहीं होते, यह अब कहा जा रहा है—अल्पमेधसाम्—अल्पमेधाशील व्यक्ति-गण का। अल्प (सत्य एवं असत्य की विवेचना, असत्य का त्याग एवं सत्य का ग्रहण आदि क्रिया के अयोग्य अर्थात् मंद) मेधा (विवेकबुद्धि) जिनकी है उनको 'अल्पमेधा' अर्थात् कामनाशील कहा जाता है। इस प्रकार कामियों का तत् फलं—वह फल अर्थात उपवास, नियम, आयास एवं बहुधनसाध्य यज्ञ,

दान आदि क्रियाओं के द्वारा देवतासमूह को प्रसन्न कर उनकी कृपा से जो फल प्राप्त होता है वह। अन्तवत् तु—अनित्य अर्थात् विनाशी ही होता है। तु—('तु' शब्द अवधारण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है) जिस विषय की सेवा की जाती है उसका (अर्थात् सेव्य का) महत्व रहने से फल का भी महत्व रहता है, इसके विपरीत होने पर विपरीत फल होता है। यह 'महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः' ('महा पुरुष की सेवा को विमुक्ति के द्वार कहे गये हैं') इस वाक्य से प्रसिद्ध है एवं राजा और भट्ट का (भृत्य का) सेवा आदि में भी प्रत्यक्ष देखा जाता है। अल्पबुद्धि पुरुषगण जिन सब देवताओं की सेवा करते हैं वे सगुण हैं। अतः वे सगुण होने के कारण अनित्य, परिच्छिन्न, सोपाधिक, अनीश्वर एवं स्वल्प (थोड़ी) विभूति सम्पन्न है। उनकी सेवा से, भट्ट की सेवा के समान स्वल्प थोड़ा ही फल प्राप्त होता है और वह फल अनित्य ही है। इस कारण इन सब कामनावाले व्यक्तियों के उन-उन फल भी अनित्य (अन्तवाला) होता है। 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते अन्तवदेवास्य तद्भवति' ('हे गार्गि! जो इस अक्षर को न जानकर इस लोक में होम करते हैं, तपस्या करते हैं एवं यजन करते हैं उनके फल अन्तवाले ही होते हैं') इस श्रुति वाक्य द्वारा यही सिद्ध होता है कि उन कामनायुक्त पुरुषों के जो जो फल प्राप्त होते हैं वे अन्तवाले (नाशवान्) ही होते हैं, मोक्ष के समान नित्य नहीं होते हैं, कारण अनित्य की उपासना से नित्य तथा महान् फल प्राप्त नहीं हो सकता है। यतः इस प्रकार होते हैं, अतः देवयजः—जो लोग देवताओं का (ब्रह्मा, इन्द्रादि देवताओं का) यजन करते हैं अर्थात् तत्-तत् शास्त्रोक्त विधि से जो लोग भजन करते हैं वे देवयज अर्थात् देवता के भक्त हैं। वे देवान्—देवगण को यान्ति—प्राप्त होते हैं। 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' ('कर्म के द्वारा पितृलोक एवं विद्या के द्वारा देवलोक') और 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (देवता होकर देवतागण को प्राप्त होते हैं) इसी प्रकार श्रुति है। अतः देवभक्तगण तत्-तत् देहसारूप्य को प्राप्त होकर तत्-तत् देवता के लोक को प्राप्त होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सगुण के उपासकों का आयास (प्रयत्न) जनित क्लेश एवं धन के व्यय के निमित्त क्लेश से स्वल्प (अनित्य) फल ही प्राप्त होता है। अतः इस प्रकार की उपासना से केवल क्लेश ही मिलता है। यह महा कष्ट का विषय है। इस प्रकार सगुण ब्रह्म के उपासकों की उपासना के फल का प्रतिपादन कर 'वासुदेवः सर्वमिति' ('वासुदेव ही सब हैं') 'ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' (ज्ञानवान् मुझको प्राप्त होते

हैं) इन सभी वाक्यों से पूर्व जो कहा गया है उस विषय को विवेकसम्पन्न पुण्यात्मा श्रोताओं की अपनी-अपनी उपासना में ही जिससे श्रद्धा दृढ़ हो इस बुद्धि से पुनः कहते हैं।

अपि—'अपि' शब्द यहाँ 'तु' अर्थ में अर्थात् किन्तु अर्थ में व्यवहृत हुआ है।

मद्भक्ताः—जो सदसत् के विवेक, वैराग्य, शम, दम, संन्यास आदि उत्तम साधन सम्पत्ति से और ब्रह्मविद्वर्य के (श्रेष्ठ ब्रह्मविद् के) प्रसाद से तथा श्रवण एवं मनन के द्वारा आत्मा का (मुझ परब्रह्म को) ज्ञात होकर निरन्तर एकात्मिका भक्ति से भजन करते हैं, वे मेरे यति (संन्यासी) भक्त तो माम्—मुझको अर्थात् परब्रह्म को ही यान्ति—प्राप्त होते हैं। श्रुति में कहा गया है—'संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति' (इस सर्वव्यापक परब्रह्म को सर्वथा प्राप्त होकर ज्ञान से तृप्त, कृतात्मा, रागरहित, प्रशान्त, धीर, एवं मुक्तात्मा ऋषिगण सर्वव्यापक परमात्मा में प्रवेश करते हैं अर्थात् नित्य, निरतिशयानन्द, पुनरावृत्तिरहित, विदेह कैवल्य को प्राप्त होते हैं)। गीता में कहा गया है 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' [उनमें ज्ञानी नित्य-युक्त और एकभक्ति वाला होने के कारण विशिष्ट (सर्वश्रेष्ठ) होते हैं], 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' ('जो हमारे भक्त हैं वह हमारे प्रिय हैं') इसके द्वारा ज्ञानी का भी भक्त होना प्रतिपादन किया गया है, अतः यहाँ पर मेरे 'भक्त' शब्द के द्वारा ज्ञानी को ही बताया जा रहा है, दूसरे को नहीं। 'ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' (ज्ञानवान् मुझको प्राप्त होता है) इससे ज्ञानी भक्त ही भगवत्-स्वरूप को प्राप्त होते हैं इसका प्रतिपादन किया गया है। अतः ज्ञानी भिन्न अन्य भक्तों का 'सभी वासुदेव हैं' इस प्रकार का ज्ञान असंभव है 'सर्वारम्भ-परित्यागी' इत्यादि वाक्य से भी ज्ञानी भिन्न दूसरे भक्त के लिये सभी कर्म का परित्याग अयोग्य (असम्भव) है। गीता में और भी कहा है—'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'। इससे अपने स्वरूप को तत्त्व से जो जान गये हैं वे ही (भगवान में प्रवेश कर) विदेह-मुक्ति प्राप्त होते हैं जिस कारण से ऐसा है, इसलिये यहाँ 'भक्त' शब्द से ब्रह्मविद् को ही सूचित किया गया है—ऐसा समझना पड़ेगा।

(३) नारायणी टीका—विशेष-विशेष देवता मेरे ही तनु (मूर्ति) अर्थात् मेरी ही अंश शक्ति हैं, अतः विशेष-विशेष देवता की आराधना (पूजा) द्वारा मेरी ही आराधना होती है। उस आराधना का फलदाता भी मैं ही हूँ

तथापि मेरे भक्त और देवताओं के भक्त के फल में अनेक अन्तर (वैषम्य) है। मेरे भक्तगण मेरी किसी भी प्रकार की मूर्ति की पूजा क्यों न करें, मेरे परम भाव का अवलम्बन करते हुए ही अर्थात् "मैं सृष्टि-स्थिति-प्रलय कर्ता, अखंडाद्वय, पूर्ण, सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा हूँ" ऐसे भाव से ही मेरी पूजा करते हैं। 'यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः। यश्च सर्वमयो नित्यः तस्मै सर्वात्मने नमः' ॥ अर्थात् जिनमें सम्पूर्ण विश्व स्थित हैं, जिससे सब कुछ की सृष्टि हुई है, जो सभी रूपों में प्रतीयमान हो रहे हैं, जो सर्वव्यापी, जो सर्वात्मा (सर्वशक्तिमान्) एवं एकमात्र नित्य (सत्य) वस्तु है उस सर्वात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार की भावना और विश्वास से जिसकी (अर्थात् जिस किसी मूर्ति की) पूजा की जाती है उससे मेरी ही पूजा होती है। किन्तु जा लोग मुझसे व्यतिरिक्त (पृथक्) अन्य देवता-विशेष की पूजा करते हैं वे लोग अल्पबुद्धि होने के कारण अर्थात् उनकी दृष्टि परिच्छिन्न (सीमित) वस्तु में हो निबद्ध रहने के कारण मेरे सर्वात्मक भाव का ग्रहण नहीं कर पाते। अतः 'मैं सर्वशक्तिमान् हूँ', इस प्रकार का विश्वास उनलोगों में नहीं रहता है। वे लोग समझते हैं कि भिन्न-भिन्न अभीष्ट फल देने की शक्ति भिन्न-भिन्न देवताओं की ही है। किन्तु वे यह नहीं जानते हैं कि सर्व कर्मों का फलदाता मैं ही हूँ अर्थात् पृथक्-पृथक् देवताओं के उपासक को क्षुद्र-क्षुद्र अभीष्ट फल उन सब देवता की मूर्तियों से मैं ही दिया करता हूँ। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' अर्थात् जिनकी जिस प्रकार की भावना है उसके अनुसार ही फल की सिद्धि होती है, इस नियम के अनुसार वे सब अल्प बुद्धि अविवेकी उपासक जब हमारी अनन्त शक्ति की धारणा न कर मेरा अंश शक्तिरूप (सीमित शक्तिविशिष्ट) देवता मूर्ति की ही पूजा करते हैं तब मैं भी तत्-तत् देवतामूर्ति से उन लोगों को जो फल प्रदान करता हूँ वह अन्तवन् अर्थात् नाशवान् ही होता है क्योंकि खंडशक्ति की भावना के द्वारा कभी भी अविनाशी या अनन्त फल की प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् अनन्त की (पूर्णब्रह्म रूपी मेरी) आराधना न करने पर अनन्त फल (मोक्ष) लाभ करना कभी भी सम्भव नहीं होता है। द्वितीयतः 'तं यथा यथोपासते स तथैव भवति' अर्थात् जिस प्रकार के भाव से उपासना करता है उसी प्रकार वह हो जाता है, इस नियमानुसार अनन्त परमेश्वर से भिन्न क्षुद्र क्षुद्र देवताओं के उपासकगण तत्-तत् देवताओं के भाव को ही (सालोक्य इत्यादि ही) प्राप्त होते हैं। देवतागण कल्प का क्षय होने पर लय प्राप्त होते हैं क्योंकि देवतागण अन्तशील है। अतः उनकी उपासना का फल भी (क्षुद्र-

क्षुद्र जागतिक विषय प्राप्ति भी तथा विष्णुलोक, शिवलोक, प्रभृति भी) विनाशशील ही हैं ।

पूर्ण, अनन्त और अविनाशी एकमात्र मैं ही हूँ । अतः मेरे भक्त कभी भी विनाश प्राप्त नहीं हो सकते एवं उस भक्ति का फल भी अविनाशी ही (नित्य ही) होता है । मेरे ज्ञानी भक्त मेरे सर्वात्मक अविकारी, शुद्धचैतन्य-स्वरूप पूर्ण सत्ता को जानकर उनकी ही पूजा कर (ध्यान कर) मेरे साथ एकत्व लाभ करते हैं और जीवनमुक्त होते हैं । मेरे अन्य तीन प्रकार के भक्तों (आर्त, जिज्ञासु एवं अर्थार्थी भक्त) भी कामनायुक्त उस कामना (वासना) को पूर्ण करने के लिए मेरी ही (अनन्त, अविनाशी, परमेश्वर की ही) आराधना करते हैं इसीलिए कहा जा चुका है 'उदाराः सर्व एवैते' (गीता ७।१८) अर्थात् ये लोग अन्य देवता के भक्तों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे लोग केवल हमारी कृपा से अभिलषित फल को ही प्राप्त होते हैं ऐसा नहीं है किन्तु मेरी पूजा और चिन्तन के प्रभाव से इन लोगों की क्रमशः चित्तशुद्धि भी होती है और इस कारण से ये कामनारहित होकर मुझमें ही चित्त समाहित रखते हुए निर्विकल्प समाधि द्वारा मेरी स्वरूपता प्राप्त होते हैं । इसीलिए श्रुति में कहा गया है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' 'ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति' अर्थात् जो ब्रह्म को जानते हैं वे ब्रह्म ही हो जाते हैं एवं ब्रह्म होकर (देहान्त के पश्चात्) ब्रह्म के साथ एक हो जाते हैं । यही 'मद्भक्ता यान्ति माम् अपि' वाक्य का तात्पर्य यही है ।

श्रीभगवान् का कहने का अभिप्राय यह है कि जो लोग कामनायुक्त (फलाकांक्षी होकर) भेदबुद्धि रखते हुए भिन्न-भिन्न देवता की मूर्ति विशेष की पूजा करते हैं उनलोगों से यदि कोई आर्त, जिज्ञासु या अर्थार्थी सकाम (फलाकांक्षी) होकर एक अखंड, सच्चिदानन्द स्वरूप मेरे ही शरणापन्न होकर हमारी पूजा करते तो हैं, वे लोग श्रेष्ठ हैं । इस प्रकार सकाम भक्त से हमारे निष्काम भक्त और अधिक श्रेष्ठ हैं । सभी भक्तों में मेरे ज्ञानी भक्त सर्वोत्कृष्ट हैं ।

[मेरी अर्थात् मेरे सच्चिदानन्द परमेश्वरस्वरूप की उपासना के फल इस प्रकार से सर्वोत्तम होने पर भी सभी जीव मुझको क्यों नहीं भजते हैं यह श्रवण करो—]

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।। २४ ।।

अन्वयः—मम अव्ययम् अनुत्तमं परं भावम् अजानन्तः अबुद्धयः अव्यक्तं माम् व्यक्तिम् आपन्नं मन्यन्ते ।

अनुवाद—मन्द बुद्धिगण मेरे अव्यय (अविनाशी) एवं सर्वोत्कृष्ट परमात्म-स्वरूप को नहीं जानते, इसीलिए वे लोग अव्यक्त (प्रपञ्चातीत, निराकार, सर्वकारणस्वरूप) मुझको (परिच्छिन्न) शरीरधारी जैसा मानते हैं ।

भाष्यदीपिका—मम—मेरे अव्ययम्—व्ययरहित अर्थात् अविनाशी, नित्य (सर्वदा एकरूप में स्थित) अनुत्तमं—जिससे और कोई वस्तु उत्तम नहीं है अर्थात् निरतिशय (सर्वोत्कृष्ट) परं भावं—परमात्मस्वरूप को अर्थात् आविर्भाव और तिरोभावरहित एवं सर्वोपाधिरहित मेरे अद्वितीय, अनन्त, परमानन्दस्वरूप को [भाव शब्द का अर्थ यहाँ स्वरूप या स्वभाव है]।

[श्लोक में 'अनुत्तमम्' एवं 'परमं' इन दो शब्दों द्वारा परमात्मा के (यथाक्रम से) निरुपाधिक एवं सोपाधिक भाव के (स्वरूप को) सूचित कर रहा है। (आनन्दगिरि)। नीचे मधुसूदनी व्याख्या में यह स्पष्ट किया गया है]।

अजानन्तः—न जानकर अबुद्धयः—अविवेकिगण अव्यक्तं मां—अप्रकाशित मुझको अर्थात् शरीर ग्रहण के पूर्व देहेन्द्रियादि के साथ सम्बन्ध रहित रहने के कारण व्यक्ति (अभिव्यक्ति या प्रकाश) रहित मुझको [अथवा प्रपञ्चातीत और सर्वोपाधिशून्य होने के कारण अस्पष्ट (इन्द्रियादि के अविषय) नित्य शुद्ध परमेश्वर मुझको (नीलकण्ठ)]

व्यक्तिम् आपन्नं—[इदानीं (इस समय में) अर्थात् जब लीला विग्रह या अवतार मूर्ति मैं धारण करता हूँ तब (आनन्दगिरि)] प्रकाश प्राप्त हुआ हूँ [अर्थात् साधारण मनुष्य प्रभृति के समान शरीराभिमानी होकर (जीव भाव प्राप्त होकर) वासुदेव के रूप में इदानीं जागतिक कार्य करने में प्रवृत्त हूँ] मन्यन्ते—इस प्रकार मानते हैं [मधुसूदन सरस्वती ने इस प्रकार व्याख्या की है—अबुद्धयः—विवेकशून्य व्यक्तिगण अव्यक्तम्—देह ग्रहण के पूर्व कार्य करने में असमर्थ अवस्थित (निराकार, निर्विकार निष्क्रिय रूप में अवस्थित) मुझ परमेश्वर ने इस समय वासुदेव के भवन में (श्रीकृष्ण रूप में) व्यक्तिम् आपन्नं—भौतिक देहविशिष्ट होकर कार्य करने की सामर्थ्य प्राप्त होकर साधारण जीवविशेष रूप से जन्म ग्रहण किया है, यही मन्यन्ते—मानते हैं। अथवा अव्यक्तं माम्—मैं सभी का कारण होने पर भी वह जगदीश्वर स्वरूप मैं व्यक्तिम् आपन्नं मन्यन्ते–मत्स्य, कूर्म प्रभृति अनेक अवतार रूप में कर्मरूपता प्राप्त हुआ हूँ अर्थात् कार्य करने की सामर्थ्ययुक्त हुआ हूँ, इस

प्रकार मानते हैं। (प्रश्न) वे अल्पबुद्धि व्यक्तिगण तुम्हें क्यों नहीं पहचान सकते हैं? उत्तर में कहा जा रहा है—मम परम् अव्ययम् भावम्—जो परम है अर्थात् सभी के कारण स्वरूप है तथा अव्यय (नित्य) है, उस मेरे 'उपाधिविशिष्ट' भाव को (रूप को) वे अजानन्तः—नहीं जानकर एवं अनुत्तमम्—सर्वोत्कृष्ट, निरतिशय, अद्वितीय, परमानन्दघन मेरे 'निरुपाधिक' जो अनन्त स्वरूप हैं उसे न जानकर साधारण प्राणी के समान मेरे कार्यादि देखकर वे अविवेकी व्यक्तिगण मुझको साधारण जीव ही मानते हैं और इस कारण मुझे अनीश्वर (अपूर्ण) सोचकर मुझको (अन्तर्यामी परमात्मा को) त्यागकर अन्यान्य प्रसिद्ध देवताओं की उपासना करते हैं। इस कारण से उनकी उपासना से जो फल प्राप्त होते हैं वह भी अन्तवत् (विनाशशील) होता है। श्रीभगवान् बाद में भी यह कहेंगे—'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्' (गीता ९।११) अर्थात् मूढ व्यक्तिगण देहधारी मेरा अवज्ञा (अनादर) करते हैं]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[यदि कहो कि 'तुम्हारी पूजा करने में और देवताओं की पूजा करने में परिश्रम तो समान ही होता है परन्तु फल में महान् भेद (अनेक पार्थक्य) होता है तथापि अन्य सभी देवताओं को आराधना छोड़कर केवल तुमको ही लोग क्यों नहीं भजते?' इसके उत्तर में कह रहे हैं—] अल्पबुद्धयः—वे अल्पबुद्धि वाले लोग अव्यक्तं मां—प्रपञ्चातीत मुझको (परमेश्वर को) व्यक्तिम् आपन्नं—मनुष्य, मत्स्य, कूर्म आदि के रूप में व्यक्तिभाव को प्राप्त हुआ मन्यन्ते—मानते हैं। उसका कारण यह है कि वे लोग मम परं भावम् अजानन्तः—मेरे परम भाव अर्थात् स्वरूप को नहीं जानते हैं। वह परम भाव किस प्रकार का है? अव्ययम्—नित्य और अनुत्तमम्—जिससे उत्तम (बढ़कर) कोई भाव नहीं है वही सर्वश्रेष्ठ मेरे भाव को (स्वरूप को) नहीं जानते। इस कारण जगत की रक्षा के लिए लीला से मैं जो नाना विशुद्ध एवं ऊर्जित (वृद्धि प्राप्त) सत्वगुणयुक्त मूर्तियाँ (अवतार शरीर समूह) ग्रहण करता हूँ अर्थात् जिसमें सत्वगुण का अत्यन्त आधिक्य है इसप्रकार की भिन्न भिन्न विशुद्ध अवतार मूर्तिओं में मैं प्रकट होता हूँ उन सब मूर्तिओं को भी अन्य देवताओं के समान अपने कर्मों से निर्मित भौतिक देह समझते हैं अर्थात् देवताएँ जैसा अपने कर्मों के अनुसार भौतिक देह धारण करते हैं उसी प्रकार मेरे पूर्वकृत कर्म द्वारा ही मेरे सब अवतारशरीर (मूर्तियाँ) निर्मित हुए हैं, इसप्रकार जानकर मुझको भी परमेश्वर को भी वे अधिक आदर नहीं करते किन्तु शीघ्र फल देनेवाले अन्य देवताओं को भजते

हैं। इस कारण से वे लोग पूर्वोक्त प्रकार से अन्तवत् (विनाशशील) फल ही प्राप्त होते हैं।

(२) शंकरानन्द—महापंडित उक्त भक्तगण सम्यक् विचारपूर्वक शास्त्रार्थ को जानकर, प्रत्यक्—लक्षणयुक्त, आत्मभूत, निर्विशेष, अद्वितीय तुम्हारी उपासना करके विदेहमुक्ति क्यों नहीं प्राप्त करते, इस प्रकार की शंका होने पर इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि अविद्या एवं अविद्या के कार्य द्वारा अपहृत-चित्त (विवेकशून्य) होने के कारण उन लोगों के चित्त में विपरीत प्रत्ययरहित मेरे स्वरूप-विषयक ज्ञान यथार्थ रूप से उदय नहीं होता एवं उस ज्ञान के अभाव के कारण ही वे लोग मुझको प्राप्त नहीं होते। अबुद्धयः—विवेकशून्य व्यक्तिगण। आत्मतत्त्व निश्चय करने में समर्थ बुद्धि मेरे प्रसाद (कृपा) से ही उत्पन्न होती है। जो लोग आत्मा एवं अनात्मा के स्वरूप की विवेचना कर आत्मतत्त्व निश्चय करने में असमर्थ हैं वे लोग अबुद्धि अर्थात् मूढ़ हैं। अतः इसप्रकार के व्यक्ति पंडित होने पर भी सदसद्-विवेक-शून्य होकर मम—मेरे अव्ययम्—अविनाशी (अव्यक्त से स्थूल पर्यन्त सम्पूर्ण दृश्यों के नाश होने पर भी स्वयं नाशरहित) अतः अनुत्तमम्—अनुत्तम 'सा काष्ठा सा परागतिः' ('वह काष्ठा है, वह ही परागति है') इस श्रुति के द्वारा सर्वोत्तम, सर्वत्र परिपूर्ण, परं—चेतनत्व, सर्व प्रकाशत्व, सर्वाधारत्व एवं सर्वद्रष्टित्वधर्मविशिष्ट होने के कारण जो बुद्धि-आदि से परे अर्थात् विलक्षण (भिन्न) भावं—परमतत्व को अजानन्तः—नहीं जानने के कारण अव्यक्तं—जो किसी प्रमाण के द्वारा व्यक्त नहीं होता वह अव्यक्त अथवा जो व्यक्त (विकार प्राप्त) होता है वह व्यक्त अर्थात् देह इन्द्रियादि। देहादि के साथ सम्बन्ध रहित होने के कारण परमात्मा अव्यक्त हैं। उस प्रकार मम—मुझको अर्थात् आत्मा को—'अहं' (मैं) इस शब्द के विषय को व्यक्तिमापन्नं—देह रूप से स्थित जानते हैं। (व्यक्तिशब्द का अर्थ देह है)। 'त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च। आत्मा पुनर्बहिर्मृगय अहोऽज्ञजनताज्ञता। ('परमात्मा रूप तुमको उत्कृष्ट आत्मा जानकर भी मूढ़ व्यक्ति आत्मा को बाहर ढूँढ़ते हैं अहा। वही यज्ञ जनों की अज्ञता है'।) उस रीति के अनुसार उनकी मुक्ति में देह को एवं देह में मुझको अध्यास (एक) कर देह ही मैं हूँ इस प्रकार देह को ही आत्मा देखते हैं। इसप्रकार अनात्मा को ही आत्मा के रूपसे जो (अविवेकी पुरुष) देखते हैं उनको कहाँ से ज्ञान और कहाँ से मुक्ति होगी ? किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती, यही सिद्ध हुआ।

(३) नारायणी टीका—जो लोग अनात्मवस्तु से आत्मा को पृथक्

करने में असमर्थ है वे अल्पबुद्धिवाले लोग मेरे अव्यय (विनाशरहित) एवं अनुत्तम (सर्वोत्कृष्ट) परम भाव (परम स्वरूप) को नहीं जान सकते। पूर्व श्लोक की नारायणी टीका में कहा गया है कि भगवान् एक और (१) अखंडाद्वय, निर्गुण, निराकार, सर्वोपाधिशून्य सच्चिदानन्दघन स्वरूप से अव्यक्त हैं किन्तु दूसरी ओर (२) वही मायोपाधियुक्त होकर सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्ता, सर्वशक्तिमान, सर्वान्तर्यामी विश्वमूर्ति रूप से व्यक्त भी हैं। सुवर्ण ही विभिन्न अलंकार रूप में प्रकाशित होता है अर्थात् सुवर्णनिर्मित अलंकार के प्रति अणु परमाणु में जिस प्रकार सुवर्ण ही विद्यमान रहता है उसी प्रकार भगवान की व्यक्त मूर्ति के अणु परमाणु में उनका अव्यक्त स्वरूप पूर्ण रूप से विद्यमान रहता है। अनन्त का कभी भी विभाग (अंश) नहीं हो सकता इसलिये भगवान का स्वरूप अनन्त होने के कारण व्यक्त ही हो और अव्यक्त ही हो सर्वकाल में, सर्वदेश में एवं सर्वरूप में वे पूर्ण परमात्मतत्व एक ही रूप से स्थित है इसलिये भगवान ने कहा यह समग्र विश्व मेरे स्वरूप से ही (अखंडाद्वय सच्चिदानन्दस्वरूप से ही) व्याप्त (परिपूर्ण) है। (गीता ९।४) किन्तु अज्ञानी व्यक्ति मेरे इस अव्यक्त स्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) की आराधना नहीं करते क्योंकि वे लोग समझते हैं—

(१) ब्रह्म जब निर्गुण, निष्क्रिय, निराकार एवं निर्विकार (उदासीन) है तब इस प्रकार स्थाणुवत् (जड़ के समान स्वभाववाले) ब्रह्म की उपासना कर क्या फल होगा ?

(२) इसके अतिरिक्त ब्रह्म की जब कोई मूर्ति नहीं है तब उनकी उपासना ही किस प्रकार से सम्भव है ?

(३) ब्रह्म जब अखण्ड अद्वितीय हैं तब जीव जगत् ईश्वर कुछ भी उनमें नहीं हैं। अतः उपासक जीव, कर्मफल दाता उपास्य ईश्वर एवं अभीष्ट जागतिक विषय ये तीनों ही जब ब्रह्ममें नहीं है तब इस प्रकार के ब्रह्म की उपासना की सार्थकता क्या हो सकती है ? इस प्रकार सोचकर अल्पबुद्धि वाले लोग मेरे अव्यक्त (अर्थात् निरुपाधिक ब्रह्म भाव को) भजन नहीं करते।

(४) यद्यपि विश्व की सभी मूर्तियाँ भी मेरी ही हैं तथापि जब शुद्ध सत्त्वगुण युक्त होकर मत्स्य, कूर्म राम, कृष्ण इत्यादि रूप में (मेरे ऐश्वर्य के विशेष प्रकाशरूप में व्यक्त मूर्ति धारण करता हूँ तभी वे लोग मुझको नहीं भजते क्योंकि वे सोचते हैं कि अन्यान्य प्राणी के जैसा होता है उसी प्रकार मेरे भी अपने कर्मानुसार ही जन्म ग्रहण करना पड़ता

है। अतः मेरे जन्म एवं लीला रूप कर्म को तत्त्व न समझकर मेरी व्यक्त मूर्तिओं की परिच्छिन्न जरा-मरणशील (देहाभिमानी) साधारण देह मानकर अनादर किया करते हैं। अतः अविवेकी व्यक्ति मुझको अव्यक्त (निर्गुण, निष्क्रिय, उदासीन, अनभिव्यक्त ब्रह्म) सोचकर मेरी उपासना त्याग करते हैं अथवा अवतार मूर्तिओं में अभिव्यक्त (प्रकाश प्राप्त) होने पर भी वे सब मूर्तियाँ को प्राकृत मनुष्यादि की मूर्ति के जैसा अनित्य, अल्पज्ञ, अल्प शक्तिमान मान कर मेरी उपासना नहीं करते। इसका एकमात्र कारण है कि वे लोग अल्पबुद्धि हैं अर्थात् उनलोगों की बुद्धि अशुद्ध रहने के कारण मेरे परम भाव को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होते अर्थात् खंड में भी जो अखंड (पूर्ण) सत्ता विद्यमान है परिच्छिन्न मूर्ति में भी जो हमारे असीम अनन्त शक्ति विराजमान है, विनाशशील मूर्ति में भी जो मेरे अविनाशी अज्ञ, अमर, पूर्ण स्वरूप अव्यक्त (अप्रकाशित) रूप से स्थित है—इस परम भाव को ग्रहण नहीं कर पाते। मेरा परम भाव अव्यय विनाशरहित अर्थात् सदा ही एक रूप) एवं अनुत्तम (सर्वोत्कृष्ट, अद्वितीय, परमानन्दघन, परमात्मस्वरूप) है। मुझको इस प्रकार जानने से स्वर्णकार जिस प्रकार स्वर्णनिर्मित भिन्न-भिन्न अलंकारों में एकमात्र स्वर्ण ही देखते हैं उस प्रकार वे लोग मुझको ही (वासुदेव को ही) सर्वत्र देख सकते हैं। (एकादश अध्याय में) मेरी संकीर्ण व्यक्त मूर्ति वासुदेव के अन्दर ही तुम असीम, अनन्त विश्वरूप देखोगे ज्ञान-दृष्टि से व्यक्त एवं अव्यक्त में कोई भेद नहीं है कारण व्यक्त के प्रत्येक बिन्दु में अव्यक्त ही है। साकार, निराकार, व्यक्त, अव्यक्त सभी मैं ही हूँ—मेरे पूणत्व को किसी प्रकार से संकुचित नहीं कर मैं व्यक्तिभाव प्राप्त होता हूँ अर्थात पूर्ण का कोई अंश सम्भव न होने के कारण मैं जब विशिष्ट आकार में प्रगट होता हूँ तब भी मैं पूर्ण ही रहता हूँ।

प्रश्न—तुम्हारे अव्यक्त स्वरूप जब अनन्त सर्वव्यापी हैं तब तुम्हारे लिए व्यक्तिभावापन्न होकर परिच्छिन्न एवं विनाशशील मूर्ति का परिग्रह करना किस प्रकार संभव है ?

उत्तर—मैं सर्वव्यापी हूँ अतः कहीं भी मेरी सत्ता का अभाव नहीं हो सकता। चित्रपट में जो कुछ भी मूर्ति अंकित होती है उसके बाहर और भीतर चित्रपट ही विद्यमान रहता है। द्वितीयतः मैं जब अनन्त हूँ तब मेरी शक्ति भी अनन्त है अर्थात् मैं सर्वशक्तिमान् हूँ। सर्वशक्तिमान के लिए यह संभव है—और यह असंभव है इस प्रकार की शंका नहीं हो सकती है क्योंकि सब कुछ होने की और करने की जिनको शक्ति है उनको ही सर्वशक्तिमान्

कहा जाता हैं। अतः एक ओर जिस प्रकार मत्स्य, कूर्म इत्यादि मेरी ही अवतार मूर्तियां हैं, फिर महाशक्तिशाली राम, कृष्ण इत्यादि भी मेरी ही मूर्तियां हैं। मैं ही गणेश, सूर्य, विष्णु, शिव, दुर्गा हूँ—मैं ही देव, देवी, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, कीट, पतंग, पशु-पक्षी इत्यादि हूँ। अर्थात् विश्व प्रपंच में व्यक्त और अव्यक्त सब कुछ मैं ही हूँ। कोई भी मूर्ति का उपासक यदि मेरे 'अव्यय' एवं 'अनुत्तम' परम भाव को विस्मृत न होकर उस मूर्ति या भाव को मेरे परम भाव से अभिन्न जानकर उपासना करे तब वह मुझको ही प्राप्त होता है (मेरे साथ एकत्व लाभ करके मेरे परम भाव अर्थात् ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होता है)। किन्तु जो लोग अल्पबुद्धि हैं वे मेरे इस सर्वत्र व्याप्त (अव्यय) एवं सर्वोत्कृष्ट (अनुत्तम) परम भाव को नहीं जान सकते एवं इसी कारण से काली, दुर्गा, विष्णु, शिव इत्यादि देवताओं की मूर्ति को मुझसे भिन्न मानकर अपनी-अपनी क्षुद्र कामना की सिद्धि के लिए इन देवताओं को भजते हैं। एवं इसके फलरूप से जो कुछ भी प्राप्त होता है वह विनाशशील ही होता है कारण एकमात्र, नित्य, सत्य, अविनाशी वस्तु मैं ही हूँ। मुझसे जो कुछ भी भिन्न (पृथक्) है वह मायिक होने के कारण विनाशशील ही होगा।

[अविवेकरूप अज्ञान के 'वशीभूत' होकर ही साधारण लोग भगवान् के परम भाव को नहीं जान सकते अतः भगवान् की आराधना भी नहीं करते हैं, यह पूर्व श्लोक में कहा गया है। उनलोगों का यह अज्ञान किस कारण से होता है वह अब कहा जा रहा है—]

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—योगमायासमावृतः अहं सर्वस्य प्रकाशः न (भवामि,) अयं मूढः लोकः अजम् अव्ययम् मां न अभिजानाति।

अनुवाद—योगमाया द्वारा आच्छादित रहने के कारण मैं सबके निकट अभिव्यक्त (प्रकाशमान) नहीं रहता हूँ। मूढ व्यक्तिगण मेरा जन्म-रहित व अव्यय तत्त्व को नहीं जानते हैं।

भाष्यदीपिका योगमायासमावृत्तः अहं—सत्व रज एवं तम इस गुणत्रय की युक्ति या घटन (अर्थात् मिश्रण) को योग कहा जाता है। वह योग ही माया है। उस योग-माया द्वारा आच्छादित (आवृत्त) मैं। [योग-भगवान के अचिन्त्य प्रज्ञा—विलासरूप संकल्प। यह योग अथवा संकल्प ही

माया है कारण यह 'अघटनघटनपटीयसी' है (श्रीधर)। अभिप्राय यह है कि शुद्धचैतन्य में माया भी नहीं है, अतः गुणों की क्रिया भी नहीं है। शुद्ध-चैतन्य में अचिन्त्य एवं अनिर्वचनीय कल्पनाशक्ति के उदय होने पर जगत्-सृष्टि का आरम्भ होता है क्योंकि इस अवस्था में गुणत्रय का योग या संघटन (मिश्रण) होकर वह जो जगत की वस्तुतः कोई सत्ता नहीं है उस जगत् को शुद्ध ब्रह्म रूप अधिष्ठान में प्रतीत (प्रकाशित) कराती रहती है। अतः वह कल्पनाशक्ति अघटनघटनपटीयसी होने के कारण उसको माया (या योगमाया) कहा जाता है। [योग ही माया है, इस प्रकार के अर्थ में 'योगमाया' शब्द निष्पन्न हुआ है।] इस प्रकार योगमाया द्वारा समावृत अर्थात् सम्यक् प्रकार से आच्छन्न (आवृत) रहने के कारण मैं परब्रह्म परमेश्वर सर्वप्रकाशक एवं सर्वव्यापी होते हुए भी सर्वस्य न प्रकाशः—सभी के निकट (अर्थात् अज्ञानी लोगों के निकट प्रकाश) (ज्ञान का विषय) नहीं होता हूँ—मेरे किसी-किसी भक्त के निकट ही मैं मेरे यथार्थरूप से प्रकाश (प्रकट) होता हूँ, यही कहने का अभिप्राय है। 'अयं मूढः लोकः'—('मैं योग-माया द्वारा आवृत होने के कारण यह मूढ़ः जगत् अर्थात् अज्ञानाच्छन्न (अविवेकी) व्यक्तिगण (जो लोग माया से चैतन्य स्वरूप मुझको विवेक (पृथक्) करने में असमर्थ हैं इस प्रकार के अज्ञानी व्यक्तिगण) अजम् अव्ययम् मां—जन्मरहित एवं व्ययरहित (विकाररहित) मुझको अर्थात् आदिअन्तविहिन नित्य, सत्य परमेश्वर को न अभिजानाति—सर्व भाव से (पूर्ण रूप से) जान नहीं सकते [किन्तु अज्ञान से विपरीत बुद्धि युक्त होने के कारण मुझको साधारण मनुष्य जैसा एक देहधारी व्यक्ति ही मानते हैं (मधुसूदन, वेंकटनाथ और सदानन्द)]।

[अनादि एवं अनिर्वचनीय अज्ञान (माया) द्वारा आच्छन्न रहने के कारण भगवान् के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में लोगों की मूढ़ता (विवेक-हीनता) रहती है एवं उस कारण से वे लोग भगवान की उपासना से विरत रहते हैं अर्थात् अन्य देवताओं में उनलोगों को निष्ठा रहने पर भी भगवान में उनकी निष्ठा नहीं रहती है। (आनन्दगिरि)]

प्रश्न—इस योगमाया का स्वरूप क्या है ? यदि योगमाया नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु हो तो तुम्हारा अद्वैत तत्त्व सिद्ध होगा और तुम भी योगमाया के द्वारा वशीभूत रहते हो, यह भी स्वीकार करना होगा।

उत्तर—सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के एकत्रावस्थान को योग कहा जाता है। यह योग ही माया है। इसलिए उसको योगमाया कहा जाता

है। मुझमें स्वतःसिद्ध एक अनिर्वचनीय (अचिन्त्य) संकल्प—शक्ति है। उस संकल्पशक्ति के स्पन्दन से किस प्रकार से त्रिगुण के एवं उनके कार्य की सृष्टि होती है, वह पहले ही विस्तृत रूप से वर्णित हुआ है। (४-५ श्लोकों की नारायणी टीका द्रष्टव्य)। संकल्प कोई वस्तु नहीं है, अतः उस योगमाया की भी पृथक् कोई सत्ता नहीं है। रज्जु में सर्प का अथवा स्वप्नावस्था में स्वप्न दृश्यों का अथवा चलचित्र (Cinema) में जो कुछ भी देखा जाता है उनकी जिस प्रकार कोई वास्तविक सत्ता न रहने पर भी वे दिख पड़ते हैं उसी प्रकार इस जगत्प्रपंच की कोई सत्ता न रहने पर भी मेरी जो ऐश्वरी (दैवी) कल्पनाशक्ति द्वारा वह जगत् मुझको अधिष्ठान कर (आश्रय कर) प्रतीत होता है, उसी शक्ति को योगमाया कहा जाता है। अतः योगमाया की कोई पृथक् सत्ता न रहने के कारण मेरे अद्वैत स्वरूप की कोई हानि नहीं होती। वह मेरी ही अचिन्तनीय शक्ति है। अतः वह मेरे ही सर्वदा अधीन है—मैं उससे कभी भी वशीभूत नहीं होता हूँ अर्थात् मैं मायाधीश हूँ। उस योगमाया विवेकहीन जीव की बुद्धि को ही आवृत कर अपने स्वरूप से विच्युत कर सकती किन्तु मुझको नहीं जैसा काचपटल (मोतियाबिन्द) रोगग्रस्त व्यक्ति की दृष्टि से सूर्य अदृश्य या आवृत रहने पर भी सूर्य का कोई विकार (परिवर्तन) नहीं होता है। जीव योगमाया के कार्य देहादि में 'मैं और मेरा' अभिमान कर माया के वशीभूत रहते हैं। वैराग्य और अभ्यास द्वारा जब जीव अनात्मदेहादि से आत्मा को पृथक् कर मुझ परमेश्वर के साथ ऐक्य अनुभव करते हैं तब वे तत्त्वज्ञान लाभ कर मेरी इस योगमाया का आवरण नष्ट करने में समर्थ होते हैं।

प्रश्न—'नाहं सर्वस्य प्रकाशः' ('मैं सभी के निकट प्रकाशित नहीं रहता हूँ') इस कथन से तो यही प्रतीत है कि तुम्हारा स्वरूप किसी के निकट प्रकाशित नहीं होता है अर्थात् कोई भी तुमको जान नहीं सकता अथवा प्राप्त नहीं हो सकता।

उत्तर—नहीं, मैं मेरे शरणापन्न भक्त-भिन्न अन्य सभी के पास अर्थात् मूढ़ व्यक्तियों के (अर्थात् अविवेकी अभक्त के) पास अप्रकाशित रहता हूँ, यही यहाँ कहने का अभिप्राय है।

'मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्' अर्थात् (त्रिगुणात्मिका माया द्वारा मोहित सभी प्राणियाँ मेरे पूर्वोक्त जन्मरहित एवं अव्यय (विनाशरहित) शुद्ध चैतन्यस्वरूप को पूर्ण रूप से नहीं जान सकते हैं)—इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि इस जगत् के प्रायः सभी व्यक्ति ही योगमाया द्वारा मोहित

है, यह पहले ही कहा जा चुका है (गीता ७।१३) किन्तु कोई भी मुझको जान नहीं सकता--इसप्रकार भी यहाँ कहने का उद्देश्य नहीं है, कारण पहले मैंने कहा है (गीता ७।३) कि करोड़ों व्यक्तियों में कोई विशेष भाग्यवान् पुरुष ही तत्त्वतः मेरे यथार्थ स्वरूप को जान सकता है। अतः यहाँ 'सर्वस्य' शब्द का अर्थ है--मेरे एकान्त शरणागत भक्त भिन्न अन्य सभी के निकट। मेरे शरणापन्न होकर उपासना एवं ध्यानाभ्यास द्वारा मेरे जो सब अनन्य भक्त चित्त को मुझमें समाहित कर 'जीवोऽहं' को बलिदान कर 'ब्रह्माऽहं' वृत्तिमें निमग्न होते हैं देही इस योगमाया के आवरण को भेद कर मेरे शुद्ध स्वरूप को जान सकते हैं (अर्थात् 'मैं ही वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अखंडाकारावृत्ति से मेरे साथ एकत्वानुभव कर सकते हैं), यह मैं पहले ही (गीता ७।१४) स्पष्ट कर कह चुका हूँ।

प्रश्न--तुम स्वरूपतः जब 'अज' (जननरहित) हो तब तुम स्वतः ही 'अव्यय' (अविनाशी) भी हो क्योंकि जिसका जन्म नहीं होता उसका मरण भी कभी नहीं हो सकता। अतः 'अज' कहकर फिर 'अव्यय' कहने में द्विरुक्ति दोष क्या नहीं हुआ है ?

उत्तर--नहीं, माया अथवा प्रकृति को भी शास्त्र में 'अज' (अजा) कहा जा चुका है यथा

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमाणं सरूपाः' इत्यादि (श्वे० उ० ४।५) अर्थात् एक मायाशक्ति (जिसको प्रकृति कही जाती है) एवं जिसका वर्ण है रक्त--श्वेत--कृष्ण (रज, सत्त्व और तम), जो तेज, जल और अन्यरूपा है एवं अपने अनुरूप (रक्त, श्वेत और कृष्ण) अनेक संतान (कार्यसमूह) सृष्टि करती है वह एक तथा 'अजा' (जन्मरहित अर्थात् अनादि) है--इस प्रकार से इस माया अथवा कारणस्वरूपा प्रकृति का भी अजत्व अर्थात् अविनाशित्व (नित्यत्व) स्वीकार किया गया हैं किन्तु वह नित्यत्व आपेक्षिक है। कारण श्रुति में अन्यत्र कहा जा चुका है 'ते ब्रह्म-लोकेषु परान्तकाले' इत्यादि (कैवल्योपनिषत्) अर्थात् ब्रह्मा के परान्त काल में (महाप्रलय में) माया या प्रकृति भी लय प्राप्त होती है। किन्तु मैं तो महा-प्रलय में भी अपने अविकारी सच्चिदानन्द स्वरूप में ही स्थित रहता हूँ। इसलिए 'अज' शब्द को स्पष्ट करने के लिए कहा गया है--'अव्ययम्' अर्थात् मैं (परमात्मा) केवल जन्मरहित होने से ही नित्य हूँ, ऐसा नहीं, परन्तु मैं किसी काल में भी खंडित या विनाश प्राप्त नहीं होता हूँ इसलिये मैं सर्व काल में मेरे

नित्यशुद्धमुक्त स्वरूप में एक ही रूप से स्थित रहता हूँ,—यह ही 'अज' व 'अव्यय' शब्दों से सूचित किया गया है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[वे अल्पबुद्धि व्यक्तिगण अपनी आत्मा परमेश्वर को क्यों नहीं जानते ? इसका कारण कह रहे हैं] सर्वस्य न अहं प्रकाशः—सभी प्राणी के समक्ष मैं प्रकाशित (प्रकट) नहीं होता हूँ किन्तु मेरे भक्तों के निकट ही प्रकट होता हूँ। क्योंकि मैं योगमाया-समावृतः—अपनी योगमाया के द्वारा सम्यक् प्रकार से आवृत रहता हूँ। योग शब्द का अर्थ है युक्ति। वह योग या युक्ति मेरा ही कोई एक अनिर्वचनीय (अचिन्त्य) प्रज्ञा के विलास है एवं वही अघटनघटनपटीयसी माया भी है अर्थात् जो घटने वाली नहीं हैं इस प्रकार की घटना को घटित करने की चतुरता को मेरी माया कही जाती है [अर्थात् जो योग है वही माया है]। इस प्रकार योगमाया से मैं संछन्न (छिपा) रहता हूँ इसलिये मूढः सन्—मेरे स्वरूप के ज्ञान सम्बन्ध में मूढ़ता प्राप्त होकर अयं लोकः—यह लोक अर्थात् जो लोग मेरे भक्त नहीं हैं ऐसा जनसमुदाय अजम् अव्ययम् मां न अभिजानाति—मुझ जन्मरहित एवं अव्यय (अविनाशी) को जान नहीं सकते हैं।

(२) शंकरानन्द—सभी अवस्था में सभी के प्रकाश रूप से प्रतीयमान परिपूर्ण, प्रत्यक्ष आत्म तत्त्व को लोग क्यों नहीं जानते ? इस प्रकार की आशंका के उत्तर में कह रहे हैं—'नाहम्' इत्यादि—अहं—मैं अर्थात् प्रत्यक् चैतन्य स्वरूप परमात्मा यद्यपि सभी का प्रकाश एवं सभी का व्यापक हूँ तथापि सर्वस्य—आत्मस्वरूप ईश्वर के प्रसाद (कृपा) से एवं श्रेष्ठ ब्रह्मविद् पुरुष के अनुग्रह से जो लोग वंचित रहते हैं ऐसे लोगों के निकट प्रकाशः न—प्रकाश अर्थात् ज्ञान का विषय नहीं होता हूँ। मैं अनावृत स्वरूप (सर्वावरणरहित) होने पर भी मुझको ब्रह्मविद् के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जानते हैं यही अर्थ है मनुष्यों की आत्मस्वरूप के विषय में अज्ञानता के कारण कह रहे हैं योगमायासमावृतः—अपने व्यापार से पुरुष को जन्म मरण एवं दुःख प्रवाह के साथ जो युक्त करता है उसको 'योग' कहा जाता है। जो योग है वही माया है इसलिए इसको योगमाया कही जाती है। उस तमोरूपिणी योगमाया के द्वारा समावृत होकर जिस प्रकार सूर्य को प्रकाश करनेवाली चक्षु काचपटल (मोतियाबिन्द) द्वारा आच्छादित होने पर 'मैं अंधा हूँ' इस प्रकार अध्यास के कारण पुरुष अपने को अंधा मानता है वैसे ही आत्मा का प्रकाश करने वाली ज्ञान-चक्षु आवरणरूपिणी माया के (योगमाया के) द्वारा

आच्छादित होने पर अध्यास से इन सब व्यक्ति भी अज्ञ हुए हैं ऐसा कहा जाता है चूंकि वे लोग योगमाया द्वारा समावृत होते हैं, इस कारण से मूढः— मूढ़ अर्थात् विपरीत भाव प्राप्त होकर अयं लोको मां—यह लोक अर्थात् जिस प्रकार अंध व्यक्ति सूर्य को नहीं जानते हैं उस प्रकार ये लोग अर्थात् अज्ञानी व्यक्तिगण आत्मभूत, प्रत्यक्ष, पुरःस्थित (सम्मुख में स्थित) मुझको न अभिजानाति—नहीं जानते हैं देह इन्द्रिय आदि से विलक्षण (पृथक्) स्पष्टतर प्रतीयमान अजम् अव्ययम्—अज अव्यय आत्मा को साक्षात् रूप से अर्थात् 'यही मैं हूँ' इस प्रकार अपने आत्मरूप से नहीं जानते हैं, यही अर्थ है आत्मा नित्य अर्थात् त्रिकाल में (भूत, भविष्यत्, वर्तमान, काल में) अबाधित है, यही समझाने के लिए 'अज' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'अजामेकाम्' इस प्रकार श्रुतिवाक्य द्वारा माया को भी अजा कहने के कारण आत्मा एवं माया एक ही हैं इस प्रकार की भ्रान्ति हो सकती है। उस भ्रान्ति की निवृत्ति के लिये 'अव्यय' विशेषण दिया गया है। ते 'ब्रह्मलोकेषु परांतकाले' ('वे लोग ब्रह्म लोक में ब्रह्मा के अन्त-काल में') इस वाक्य से प्रकृति का भी (माया का भी) भय होता है ऐसा सुना जाता है एवं विद्वान्गण भी यही अनुभव करते हैं। इस कारण से आत्मा में अव्ययत्व विशेषण कभी भी व्याहत नहीं होता है अर्थात् आत्मा का अस्तित्व बाधित नहीं होता है प्रकृति (माया) अजा होने पर भी उसका लय होता है किन्तु आत्मा केवल अज ही नहीं, आत्मा तीनों काल में ही नित्य एवं अविनाशी है, यही स्पष्ट करने के लिए 'अजम्' एवं 'अव्ययम्' ये दो विशेषण दिये गये हैं।

(३) नारायणी टीका—[अविवेकी लोग सर्वात्मा भगवान् के परम-भाव को क्यों नहीं जान सकते यह भगवान् कह रहे हैं—] मैं योगमाया द्वारा समाच्छन्न (आवृत) होकर सबके (अर्थात् मेरे भक्तों के बिना दूसरे के) निकट प्रकाशित नहीं होता हूँ। अतः वे अविवेकी, अभक्त मूढ़ लोग (जन-समूह) जन्म और विनाशरहित मुझको नहीं जानते श्लोक का यथार्थ तात्पर्य अवधारण करने के लिए इसके प्रत्येक शब्द का अभिप्राय इस प्रकार से जानना आवश्यक है—

प्रश्न—'अहं' शब्द द्वारा तुम तुम्हारे निर्गुण या सगुण स्वरूप को समझा रहे हो ?

उत्तर—पूर्व श्लोक में जो मैंने अपने परम भाव के विषय में कहा है वही मेरा यथार्थ 'अहं' (मैं) हूँ। क्योंकि सगुण और निर्गुण दोनों रूप में ही मेरा वह परमभाव ओतप्रोत (व्याप्त) है वह परमभाव (जिसको

शुद्ध चैतन्य स्वरूप परम ब्रह्म कहा जाता है वह) 'अवाङ्मनसोगोचरः' है, अर्थात् शब्द एवं मन का अविषय है। श्रुति ने इसका इस प्रकार वर्णन किया है—'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः'। अर्थात् वह परमात्मा स्वप्न दृश्य में अभिमान कर अतः प्रज्ञ नहीं होता वह जाग्रदवस्था का अभिमानी होकर बहिःप्रज्ञ नहीं होता, वह स्वप्न और जाग्रत की सन्धि अवस्था के अभिमानी पुरुष से भिन्न है, इसलिये वह प्रज्ञानघन भी नहीं है अर्थात् सुषुप्तिअभिमानी पुरुष से भी भिन्न हैं अथवा समष्टिभाव से सर्वज्ञ ईश्वर से भिन्न (पृथक्) है। फिर वह अप्रज्ञ भी नहीं हैं (अज्ञानरूप भी नहीं है)। [जिस प्रकार रज्जु में सर्पभ्रम होता है, उस प्रकार इस ब्रह्म-स्वरूप में जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाएँ भी भ्रम से कल्पित मात्र हैं]। उनकी कोई उपाधि नहीं रहने के कारण वह तूरीय (चतुर्थ) अर्थात् जाग्रदादि तीनों अवस्था से अतीत है। वह अदृष्ट (इन्द्रियग्राह्य नहीं है), अव्यवहार्यम् (व्यवहार के अयोग्य है), अग्राह्य (उसको कर्मेन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता), अलक्ष्य (कोई अनुमान द्वारा उसको लक्ष्य किया नहीं जा सकता), अचिन्त्य (उसको मन की चिन्ता द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता), अव्यपदेश्य (शब्द द्वारा प्रकाश नहीं किया जा सकता), एकात्म-प्रत्ययसार (जाग्रदादि तीनों अवस्था में वह एक ही चैतन्यस्वरूप हैं इस प्रकार के निश्चयात्मक प्रत्यय अर्थात् ब्रह्माकारा वृत्ति द्वारा लभ्य), प्रपञ्चोपशम (जगत् प्रपञ्चरूप उपाधिशून्य), शान्त (रागद्वेषादि शून्य), शिव (मंगलमय विशुद्ध), अद्वैत (सर्व प्रकार से द्वैतभाव वर्जित अर्थात् निर्विशेष शुद्ध चिन्मात्र), चतुर्थ (स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीनों से भिन्न तुरीय ब्रह्म)—वही आत्मा है। उसको जानना होगा।

[योगमाया द्वारा यदि भगवान् आवृत रहते हैं तो साधारण व्यक्ति जिस प्रकार अविद्या द्वारा आच्छन्न होने पर विवेकहीन होता है उसी प्रकार भगवान को भी ज्ञान का प्रतिबन्ध (बाधा) उपस्थित होगा। अतः वे फिर सर्वज्ञ नहीं रहेंगे। इस प्रकार की शंका के उत्तर में भगवान् कहे रहे हैं—जिस योगमाया द्वारा आवृत होने के कारण मुझको (परमात्मा को) जगत् जान नहीं सकता वह योगमाया मेरी ही शक्ति है। अतः वह मेरे अर्थात् मायावी ईश्वर के ज्ञान का प्रतिबन्ध हो नहीं सकता जैसे कोई लौकिक मायावी की (बाजीगर की) माया ज्ञान को आच्छादित नहीं कर पाती]।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे अर्जुन ! अहं च समतीतानि वर्तमानानि भविष्याणि च भूतानि वेद; मां तु कश्चन न वेद ।

अनुवाद—हे अर्जुन ! मैं अतीत, वर्तमान और भविष्यत् इन त्रिकाल-वर्ती सभी भूतगण (अर्थात् स्थावर, जंगम सभी वस्तु को) अवगत हूँ (जानता हूँ), किन्तु मुझको कोई नहीं जानता ।

भाष्यदीपिका—हे अर्जुन—तुम शुद्ध बुद्धि हो, अधिकन्तु तुम मेरा शिष्यत्व वरण किये हो । अतः मेरे उपदेशानुसार चलने पर अवश्य ही तुम मुझको जान सकोगे । इस प्रकार आश्वासन देने के लिए ही यहाँ श्रीभगवान् 'अर्जुन' कहकर सम्बोधन किये । अहं—मैं (सर्वज्ञ, परमेश्वर) मेरे अधीन उस माया द्वारा सभी व्यक्ति को मोहित करते हुए भी समतीतानि—सम्यक् प्रकार अतीत अर्थात् जो सब विषय बहुकाल हुए विनष्ट हुए हैं उनको एवं वर्तमानानि—जो वर्तमान है एवं भविष्याणि च—भविष्यत् अर्थात् जो बाद में रहेंगे भूतानि—इस प्रकार त्रिकाल में रहनेवाले स्थावर, जंगम सभी भूतों का अर्थात् सभी पदार्थ के विषय ही वेद—जानता हूँ । अतः मैं सर्वज्ञ मायाधीश परमेश्वर हूँ, इस विषय में कोई संशय रह नहीं सकता, यही कहने का अभिप्राय है । मां तु—मुझको (परमेश्वर को) किन्तु माया परमेश्वर के अधीन हैं, अतः परमेश्वर का त्रिकालवर्ती पदार्थ का ज्ञान (अर्थात् सर्वज्ञत्व) माया द्वारा किसी भी प्रकार से क्षुण्ण (आच्छादित) नहीं होता है । किन्तु साधारण जीव के लिए वही माया भगवत्—तत्त्वज्ञान लाभ के मार्ग में प्रतिबन्ध होती है । इस पार्थक्य प्रकाश करने के लिए 'तु' शब्द व्यवहृत हुआ है । कश्चन—(केवल मेरे शरणापन्न होकर जो लोग मेरे भक्त हुए हैं एवं मेरे साथ एकत्व अनुभव किये हैं उनके अतिरिक्त) दूसरे कोई भी न वेद—जानते नहीं हैं अर्थात् मेरी माया द्वारा मोहित होकर मेरे तत्त्व को न जानने के कारण ही प्राणिगण मुझको नहीं भजते [विवेकी लोग ही मेरा तत्त्व जानकर मेरा भजन कर सकते हैं, विवेकशून्य लोग नहीं (आनन्दगिरि)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—['अविवेकी लोग मेरे सर्वश्रेष्ठ स्वरूप को नहीं जानते हैं, यह बात पहले ही कही गयी हैं (गीता ७।२४) माया द्वारा अनावृत रहने के कारण भगवान् अनावृत ज्ञानशक्ति सम्पन्न होता है यह ही उनका सर्वोत्तम भाव (परमभाव) है यह दिखाते हुए भगवान् अब बोल रहे हैं

कि दूसरे लोगों को मेरे इस स्वरूप का ज्ञान नहीं है अर्थात् वे लोग (माया द्वारा मोहित होकर) मेरे उस सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को जान नहीं सकते—] हे अर्जुन ! समतीतानि—जो व्यतीत (विनष्ट) हो गया है वर्तमानानि—जो विद्यमान है भविष्याणि च—और जो भविष्य में होनेवाले हैं—इन त्रिकालवर्ती भूतानि—सभी स्थावर, जंगम प्राणियों को अहं वेद—मैं जानता हूँ क्योंकि मैं माया का आश्रय (अधिष्ठान) हूँ। वह माया अपने आश्रय को मोहित नहीं कर सकती, यह बात तो लोक में (संसार में) प्रसिद्ध ही है। तु—किन्तु न कश्चन मां वेद—मुझको कोई भी नहीं जानता है क्योंकि सभी मेरी माया से मोहित है। माया का स्वभाव है अपने आश्रय के अधीन रहना एवं दूसरों को मोहित करना—यह लोक में प्रसिद्ध ही है।

(२) शंकरानन्द—'नाहं प्रकाशः सर्वस्य' ('मैं सभी के ज्ञान का विषय नहीं हूँ') इस उक्ति के द्वारा तुम स्वयं ईश्वर होते हुए भी लोगों के समान यदि अविद्या से आवृत होते हो तो सम्पूर्ण जगत् अन्धा हो जायगा, इस प्रकार की शंका होने से 'मैं अविद्या द्वारा आच्छन्न (ढका हुआ) नहीं हूँ' इस प्रकार कहकर भगवान्न आत्मा में अविद्या का अभाव प्रतिपादन कर रहे हैं भूतानि—भोक्ता के भोग के लिए मन बुद्धि आदि और उनके व्यापार को जो मुझसे उत्पन्न होते है उनको भूत कहा जाता है। वे भूतसमूह को अर्थात् मन, बुद्धि, आदि एवं उनके व्यापारों जो समतीतानि—समतीत अर्थात् गत हुए हैं वर्तमानानि च भविष्याणि—अभी हो रहे हैं और भविष्य में होंगे, उन सबको अहं—मैं वेद—जानता हूँ। जाग्रत आदि अवस्थाओं में उन लोगों की सत्ता, स्फूर्ति (प्रकाश) एवं प्रवर्तन-शक्ति प्रदान कर सर्वदा प्रकाशमान होकर प्रत्यक्-रूप से मैं उन सभी को जानता हूँ। देह, इन्द्रियादि की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति तथा अवस्थाओं के भेद के अनुसार उनकी सत्ता एवं असत्ता को मैं साक्षात् जानता हूँ, यही अर्थ है। यदि मैं माया के द्वारा आच्छन्न (ढका हुआ) होता, तो प्राणियों में ज्ञान का अभाव एवं प्रवृत्ति का अभाव तथा मुझे भी ज्ञान का अभाव हो जाता। इस प्रकार होना तो इष्टापत्ति ही है, ऐसा यदि कहो तो कहेंगे कि यह युक्त नहीं है कारण वैसा होने पर प्रत्यक्ष से विरोध होगा कारण प्राणीमात्र ही इष्ट और अनिष्ट को जानते हैं एवं उसके अनुसार कार्य में प्रवृत्त भी होते हैं, यह सभी को ही प्रत्यक्ष है। अतः प्राणियों की प्रवृत्ति द्वारा एवं 'जाग्रत्-स्वप्न सुषुप्त्यादिप्रपचं यत् प्रकाशते' ('जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि प्रपंच को जो प्रकाशित करता है,) इत्यादि श्रुति वाक्य द्वारा यही सिद्ध होता है कि आत्म-स्वरूप मुझमें अविद्यारूप आवरण नहीं है। इसीलिए मैं सभी अवस्था में

सर्वदा सबको जानता हूँ। **मां तु कश्चन न वेद**—मुझको किन्तु देह इन्द्रिय-समूह, प्राण, मन, बुद्धि अथवा अन्य सभी दृश्य अनित्य और जड़ होने के कारण मुझको जान नहीं सकते, यही अर्थ है। श्रुति में भी कहा गया है—'अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्' ['विविक्तरूप (शुद्ध चैतन्य स्वरूप) मैं सभी को विशेष रूप से जानता हूँ। मैं सदा ही चिद्रूप हूँ किन्तु मेरा वेत्ता (ज्ञाता) कोई भी नहीं है]। इसलिए आत्मा में अजत्व, अव्ययत्व, अनुत्तमत्व आदि विशेषण सार्थक हैं अथवा—सभी के प्रकाशक होने के कारण सभी अवस्थाओं में अर्थ (विषय) रूप से प्रकाशमान बुद्धि आदि सभी पदार्थों का, उनके धर्म का तथा उनके कर्म का मैं ज्ञाता हूँ अर्थात् उन सबको मैं जानता हूँ। **मां तु**—किन्तु मुझको **कश्चन**—कोई पण्डित भी **न वेद**—नहीं जानता है। अथवा—प्रत्यक्-आत्मा से अभिन्न परमात्मा में समतीत (व्यतीत हुए) वर्तमान एवं भविष्यत्कालीन भूतसमूह को (सभी प्राणियों को) मैं जानता हूँ। परन्तु मुझको अर्थात् प्रत्यक्-लक्षणयुक्त, आत्मभूत अर्थात् 'अहं (मैं) इस पद के अर्थ को कोई (अर्थात् मेरे भक्त भिन्न दूसरा कोई) न जानता हैं, न सुनता है, न मनन करता है, न पहचानता है, अतः न भजता है।

(३) नारायणी टीका—योगमाया मेरे ही अधीन हैं (एवं मुझसे अभिन्ना है)। अतः माया मुझे मोहित नहीं कर पाती है। इस कारण मेरे सर्वज्ञत्व (भूत, भविष्यत् और वर्तमान के सब कुछ जानने की शक्ति) किसी काल में व्याहत नहीं होता है। जिस प्रकार मायावी की (जादूगर की) माया मायावी को (जादूगर को) मोहित न कर पाती है, एवं जनसमूह मायावी की माया से मोहित होकर उसको देख नहीं सकते हैं, उसी प्रकार मेरे शरणागत अनन्य भक्त भिन्न दूसरे कोई भी मुझको (मेरे सगुण और निर्गुण भाव को) साक्षात् जान नहीं सकते हैं क्योंकि मेरी माया द्वारा उनलोगों की बुद्धि विमूढ़ होती हैं। [प्रसिद्धिः हि लोके मायायाः स्वाश्रयाधीनत्वमन्यथा-मोहकत्वञ्चेति' अर्थात् यह तो लोक में प्रसिद्ध है कि माया अपने आश्रय के अधीन हैं किन्तु दूसरों के मोह को उत्पन्न करनेवाली होती है। अतः जो लोग मेरे ही आश्रित रहकर मुझमें ही सदा युक्त रहते हैं वे लोग माया के भी आश्रय होते हैं अर्थात माया उनलोगों के भी अधीन होती है। और जो लोग मुझसे अपने को अन्य अर्थात् पृथक् मानते हैं उनको माया मोहित करेगी ही। अतः विवेकदृष्टिहीन होने पर मेरा तत्त्व या स्वरूप न जानने के कारण ही वे लोग मेरी उपासना नहीं करते हैं। **मां तु वेद न कश्चन**—अनेक टीकाकारोने

व्याख्या किया है कि 'मेरे भक्त बिना और कोई मेरे परम भाव को जानते नहीं हैं। यहाँ वेदशब्द का अर्थ विषय रूप से जानना नहीं है। भगवान् सर्वभूत की आत्मा, साक्षीमात्र हैं, अतः किसी का विषय नहीं हो सकता। इसलिए श्रुति में कहा गया है—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृह० उप०) अर्थात् जो सभी वस्तु का नित्य विज्ञाता हैं उनको किससे जानोगे ? यदि कोई भगवान् को पृथक् कर दृश्य या विषय रूप से जानना चाहे तो वह भगवान् के स्वरूप को कभी भी जान नहीं सकेगा। जीव वैराग्य व समाधि-अभ्यास द्वारा भगवान् (अर्थात् सर्वात्मा शुद्ध, चैतन्यस्वरूप ब्रह्म के साथ एकत्वानुभव कर आप ही अपने को जान सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतः उनको जानने के लिए वही (भगवान ही) हो जाना पड़ेगा क्योंकि उनसे अन्य कोई भी पृथक् ज्ञाता रह नहीं सकता है, यही 'न कश्चन' शब्द का तात्पर्य है। श्रुति में भी इसलिए कहा गया है 'अन्योऽसौ अन्योऽस्मीति न स वेद' (बृह० उप०) [अर्थात् यदि कोई समझता है कि भगवान् (ब्रह्म) अन्य हैं और मैं उनसे अन्य (पृथक्) हूँ तब वह कभी भी भगवान् को नहीं जान सकेगा।]

[भगवत्स्वरूप का साक्षात्कार करने में प्रधान प्रतिबन्धक (बाधा) होती है योगमाया (मूल अज्ञान), यह २५-२६ श्लोकों में कहा गया है। भगवत्तत्त्वज्ञान का और भी कौनसा प्रत्यक्ष प्रतिबन्धक है ? जिसके कारण समस्त उत्पत्तिशील (देहधारी) प्राणी तुमको नहीं जान सकते हैं ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे परन्तप ! हे भारत ! सर्गे इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति।

अनुवाद—हे परन्तप ! (शत्रुतापनकारी) हे भरतकुलोद्भव अर्जुन ! मातृगर्भ से उत्पत्ति काल में ही (अथवा स्थूल देह उत्पन्न होते ही) भूतगण (प्राणिगण) इच्छा एवं द्वेषजनित सुख-दुःखादि द्वन्द्व के प्रभाव से सम्यक् रूप से मोह प्राप्त होते हैं (अर्थात् विवेकज्ञान के अयोग्य होते हैं)।

भाष्यदीपिका—हे परंतप ! हे भारत—पर अर्थात् शत्रु को जो तापित करता है अर्थात् पराजित करता है वह परंतप है अर्थात् शत्रुजित्। अथवा परं उत्कृष्टं तपः यस्य सः अर्थात् उत्कृष्ट तपस्या जिनकी है उनको भी परंतप (परमतपस्वी) कहा जाता है।

हे अर्जुन ! तुम परन्तप हो अतः शीतोष्ण, सुख-दुःख, प्रभृति द्वन्द्वरूप शत्रु तुमको अभिभूत नहीं कर सकेगा। फिर तुम भारत हो अर्थात् ज्ञानवैराग्य-सम्पन्न, प्रसिद्ध भरत राजा के वंश में तुम जन्मग्रहण किये हो। अतः तुम्हारे वंश की महिमा के प्रभाव से तुम मोह के वशीभूत न होओगे। द्वन्द्व एवं मोह दोनों ही ज्ञान के प्रतिबन्धक होते हैं। तुम अपनी शक्ति के प्रभाव से एवं वंश-महिमा के प्रभाव से अनायास ही इनका जय कर सकोगे, इस प्रकार आश्वासन देने के लिये भगवान्ने अर्जुन को उन दो शब्दों से सम्बोधित किया।

सर्गे—जन्म लेने के समय—मातृगर्भ से पृथ्वी में स्थूलदेह के साथ उत्पन्न होने पर

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन—अनुकूल विषय में इच्छा एवं प्रतिकूल विषय में द्वेष रहता है। इन इच्छा और द्वेष से [इष्टप्राप्ति एवं अनिष्ट त्याग की वासना से] सम्यक् प्रकार से जो द्वन्द्वमोह उत्थित (उत्पन्न होता है) सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति—सभी प्राणी सम्यक् प्रकार से मोह (अविवेकता) प्राप्त होते हैं। द्वन्द्व निमित्त मोह से अर्थात् द्वन्द्व से उत्पन्न होता है जो मोह उसके द्वारा सभी प्राणी सम्यक् प्रकार के मूढ़ता प्राप्त होते हैं। शीत-उष्ण के समान परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले सुख-दुःख एवं उनके हेतुभूत इच्छाद्वेष भी यथासमय में भूतों के (प्राणिओं के) साथ सम्बन्धयुक्त होने पर उनको द्वन्द्व कहा जाता है।

इच्छा के विषय हैं—सुख और सुख के साधन। और द्वेष का विषय है—दुःख और दुःख के साधन। अतः ये परस्पर विरुद्ध हैं। जिस अवस्था में एवं जिस समय में सुख-दुःख एवं उनके कारण उपस्थित होने पर इच्छाद्वेष प्रकट होते हैं उस समय वे इच्छाद्वेष उन सब प्राणियों की बुद्धि को अपने में वशीभूत कर परमार्थ तत्त्वविषयक ज्ञान को उत्पत्ति के पथ में प्रधान प्रतिबन्ध (विघ्न) होते हैं एवं मोह को (अविवेक को) उत्पन्न करते हैं।

['यथाकाल में या यथासमय में प्राणी समूह के साथ सम्बन्ध होने से' इसप्रकार कहने का उद्देश्य यह है कि इच्छा और द्वेष कभी भी एकत्र नहीं रहता। 'द्वन्द्व' शब्द द्वारा जब इच्छाद्वेष को समझा जाता है तब केवल द्वन्द्व शब्द कहने से हो जाता। तथापि पृथक् कर 'इच्छाद्वेष' शब्दों का उल्लेख उपलक्षणार्थ किया गया है। कोई एक शब्द द्वारा यदि वहु तज्जातीय शब्द को ग्रहण किया जाय तो उसको उपलक्षण कहा जाता है। यहाँ इच्छाद्वेष शब्द द्वारा शीतोष्ण, मान-अपमान इत्यादि जितने परस्पर विरुद्ध पदार्थ हैं एवं जिनको द्वन्द्व कहा जाता है वे सभी गृहीत हुए हैं।

इच्छा द्वेष आदि द्वन्द्वों द्वारा वशीभूत होकर अनात्म देहेन्द्रियादि में आत्मबुद्धि कर इच्छित या अनुकूल वस्तु की प्राप्ति में 'मैं सुखी हूँ' एवं द्वेष के विषय प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति में 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा मानते हैं। इसको ही विपर्यय ज्ञान या मोह—कहते हैं। मोह उत्पन्न होने से अनात्मदृश्य प्रपञ्च एवं देहेन्द्रियादि से द्रष्टा आत्मा को विवेक करने की सामर्थ्य नहीं रहती है, अतः आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता भी नहीं होती है। इसको ही 'सम्मोह' कहा जाता है। जिस व्यक्ति का चित्त इच्छा व द्वेष से वशीभूत रहता है उसको बाह्य विषय के सम्बन्ध में भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। उन इच्छा द्वेष द्वारा जिसका चित्त आच्छादित (कलुषित) हुआ है इस विमूढ़ व्यक्ति के लिए अनेक प्रतिबन्ध युक्त परमात्मज्ञान (अर्थात् जो परमात्मज्ञानप्राप्ति के मार्ग में शत-शत (सैकड़ों) विघ्न रहते हैं वह ज्ञान) किसी प्रकार से उत्पन्न हो ही नहीं सकता, यह विशेष करके कहना ही निष्प्रयोजन है। हे भारत ! अधिकांश व्यक्ति आत्मज्ञान लाभ नहीं कर सकते हैं इसका कारण यह है कि इच्छा द्वेष से समुत्थित (उत्पन्न) द्वन्द्व मोह द्वारा सभी प्राणी जन्मकाल से ही संमोहित (संमूढ़) होते हैं अर्थात् मोह के वशीभूत होकर ही सभी प्राणी जन्म ग्रहण करते हैं। पूर्व जन्म में जिन विषयों के लिए इच्छा या द्वेष था उन विषयों की वासना ही प्राणियों के जन्म लेने के साथ-साथ इच्छा और द्वेषरूप में परिणत होती है अर्थात् जो वस्तु पूर्वजन्मार्जित संस्कार के अनुकूल (इष्ट) है उसके प्रति इच्छा होती है और जो उस संसार के प्रतिकूल (अनिष्ट) है उसके प्रति द्वेष होता है। इस प्रकार होने के कारण सभी प्राणी ही द्वन्द्व (इच्छा, द्वेष, मानापमान इत्यादि) से जो मोह (अनात्मदेहादि में आत्मबुद्धि कर 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार का मोह) उत्पन्न होता है उसके द्वारा सभी अविवेकी पुरुष का प्रज्ञान अर्थात् आत्मविषयक ज्ञान प्रतिबद्ध (रुद्ध) हो जाने के कारण वे लोग संमोहित (अर्थात् सम्यक् प्रकार से मूढ़ता प्राप्त) होते हैं। अतः मेरा आत्मभाव से भजन नहीं कर सकते।

अतः उन अविवेकी पुरुषों से मेरा भजन तथा मुझमें (भगवान् में) निष्ठा (स्थिति) लाभकर तत्त्वज्ञानप्राप्ति भी किसी प्रकार से सम्भव नहीं होती है।

टिप्पणी (१) नीलकंठ—सर्गे इत्यादि—सर्गे–सृष्टि विषय में मोह अविवेक दया विपरीत बुद्धि। अभिप्राय यह है कि जो मुझको सृष्टि के उपादान एवं निमित्त कारण जानते हैं वे ही ब्रह्मवित् एवं सर्वज्ञ होते हैं अतः वे

अतीत, वर्तमान और भविष्यत् सभी जानते हैं इस प्रकार तत्त्वज्ञानी के अतिरिक्त सभी प्राणिओं का सृष्टि के विषय में मोह रहता है अर्थात् स्त्री प्रभृति अशोभन विषय में शोभनाध्यास (भ्रान्तबुद्धि) असत्य प्रपंच में सत्यताध्यास सत्यस्वरूप एवं असंग आत्मा में असत्यत्वाध्यास (अर्थात् आत्मा नहीं है इस प्रकार की भ्रान्ति), अनित्य स्वर्गादि वस्तु में नित्यत्वाध्यास, अनात्मा देहादि में आत्माध्यास-इस प्रकार के विपर्यय द्वारा (विपरीत बुद्धि द्वारा) सृष्टि विषय में प्राणियों का ज्ञान प्रतिबद्ध रहता है अर्थात् यथार्थ ज्ञान का अभाव रहता है इस कारण से ही अज्ञानी जीवगण सर्वज्ञता लाभ नहीं कर सकते।

(२) श्रीधर—सर्गे सर्ग—काल में—स्थूल देह की उत्पत्ति काल में [माया के अधीन रहने के कारण जीव को भगवान के सम्बन्ध में ज्ञान नहीं होता है यह २५ वें श्लोक में कहा गया है। भगवान के स्वरूप के बारे में अज्ञान किस कारण से दृढ़ होता है वह इस श्लोक में कहा जा रहा है—

सर्गे—जिसका सर्जन (उत्पत्ति) किया जाय वह सर्ग है। अतः सर्ग में अर्थात् स्थूलदेह की उत्पत्ति के समय में (जन्म के साथ-साथ ही) इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन—(पूर्वसंस्कारवशतः) अनुकूल विषय में इच्छा एवं प्रतिकूल विषय में द्वेष उत्पन्न होता है एवं उन रागद्वेष से शीतोष्ण, सुख-दुःखादि द्वन्द्वनिमित्तक मोह (विवेकभ्रंश) उत्पन्न होता है। और सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति—मोह या विवेक भ्रंश होने से जीवगण संमोह प्राप्त होते हैं [अनात्मा से आत्मवस्तु को विवेक या पृथक् नहीं करने के कारण, अनात्मदेहेन्द्रियादि में आत्मबुद्धि कर संमोह (सम्यक् प्रकार की मूढ़ता) प्राप्त होते हैं अर्थात् 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार के गाढ़तर (अत्यन्त गहरे) अभिनिवेश प्राप्त हो जाते हैं। [अतः मद्विषयक यथार्थ ज्ञान का अभाव रहने के कारण वे सब अविवेकी व्यक्ति मुझको नहीं भजते हैं।]

(३) शंकरानन्द—पहले 'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः' (तत्तत् कामना समूहों के द्वारा जिनका विवेकज्ञान अपहृत हुआ है वे) इस वाक्य द्वारा काम ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है, इस प्रकार यद्यपि कहा गया है, तथापि काम आदि क्या वर्तमान में प्रतिबन्धक है ? अथवा प्रवृत्ति दशा में प्रतिबन्धक होता है ? अथवा पहले ही प्रतिबन्धक है ? इस प्रकार प्रश्न होने पर इसके उत्तर में अब कहा जा रहा है कि प्राणिमात्र ही प्राचीन पापकर्मवश कामराग आदि से उत्पन्न मोह से युक्त हो कर ही उत्पन्न होता है ऐसा कहते हैं—इच्छाद्वेषसमुत्थेन—इच्छाद्वेष से समुत्थ (इच्छा अर्थात् अनुकूल विषय में प्रीति, द्वेष अर्थात्

प्रतिकूल विषय में अप्रीति, इन दोनों से ही उत्पन्न) द्वन्द्वमोहेन—द्वन्द्वमोह से द्वन्द्व शब्द का अर्थ है सुख-दुःख। उन सुख-दुख में एवं उनके साधन में विपरीतबुद्धि अर्थात् विचित्रता या विवेक के अभाव को मोह कहा जाता है। उस द्वन्द्वमोह से सर्वभूतानि—भूतगण (सभी प्राणी) सर्गे—सर्ग में (उत्पत्ति-काल में) ही संमोहं यान्ति—संमोह को अर्थात् मूढ़भाव को (यह संमोह वस्तुतः पूर्व कर्मों के दोष के कारण प्राप्त होता है, आधुनिक कर्म से नहीं)। क्योंकि इस प्रकार है, इसलिये प्राक्तन (पिछले) जन्म के महापाप से उत्पन्न हुए मोह के द्वारा विमूढ़ पुरुष मोक्ष के साधन में (अर्थात् वेदान्तवाक्य-श्रवण में एवं वेदान्तादि के विचार में) एवं उससे उत्पन्न होनेवाली ज्ञाननिष्ठा में श्रद्धावान् न रहने के कारण वे लोग श्रवण मननादि में प्रवृत्त नहीं होते हैं। अतः उनका ज्ञानलाभ भी नहीं होता क्योंकि 'ज्ञानं नोत्पद्यते पुसां पापोपहत-चेतसाम्' ('पाप के द्वारा उपहत-चित्त पुरुष को ज्ञान नहीं होता है') इस प्रकार के स्मृतिवचन हैं। वे बन्धन के साधन काम्यकर्म एवं देवता की उपासना आदि में श्रद्धा के साथ, भक्ति के साथ एवं नियमपूर्वक प्रवृत्त होते हैं। उनमें से भी जो कर्म चित्तशोधक हैं, उनमें वे लोग प्रवृत्त नहीं होते हैं, किन्तु जो कर्म बुद्धि की मलिनता उत्पादन कर जन्मादिरूप दुःख के बीज होते हैं उन कर्मों में ही प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार जब वे लोग स्थूल बाह्य विषय को भी विवेकपूर्वक नहीं जानते हैं तब अतिसूक्ष्म आन्तरात्मतत्त्व को किस प्रकार से जानेंगे ? द्वन्द्वमोह के द्वारा विमूढ़ हुए व्यक्तिगण का जो युक्त एवं अयुक्त अर्थ का (नित्य एवं अनित्य विषय का) परिज्ञान (यथार्थ ज्ञान) नहीं होता है, वह तो पूर्वजन्म के पापकर्म के फल ही है, इस प्रकार समझना चाहिए।

(४) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में तुमने कहा है कि तुम भूत, भविष्यत्, वर्तमान सभी जानते हो अर्थात् तुम सर्वज्ञ हो किन्तु सर्वज्ञ तुमको तुम्हारे एकान्त भक्त के बिना और कोई नहीं जान सकता है। और यह भी पहले कहे हो कि तुमसे अभिन्न अन्य कोई जगत् का (निमित्त या उपादान) कारण नहीं है एवं सर्वभूत तुममें ग्रथित हैं अर्थात् तुम्ही सर्व रूप में विद्यमान हो। यदि इस प्रकार ही होता है तब तो सभी प्राणी में ही सर्वज्ञत्व रहना उचित है। फिर तुम ही जब प्रत्येक स्थावर जंगमात्मक वस्तु के अणु-परमाणु में वर्तमान हो तब तुमको नहीं जानने का कारण क्या हो सकता है ? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं—इच्छाद्वेषसमुत्थेन इत्यादि—मेरी अचिन्तनीय कल्पना शक्ति को (योगमाया को) आश्रय कर जब मैं अनेक जीवरूप में

अपने को प्रकाश करता हूँ तब जीव मायासृष्ट समस्त प्रपञ्च को सत्य जानकर विषयों में आसक्त होते हैं एवं देहादि अनात्म वस्तु में आत्मबुद्धि कर अपने यथार्थ ब्रह्मस्वरूप को भूल जाते हैं। इस प्रकार अज्ञान द्वारा आच्छन्न होते हुए मायारचित विषयों में सत्यत्व बुद्धि रहने के कारण उन विषयों का अनुचिन्तन (ध्यान) करते रहते हैं। उन विषयों के प्रति संग (आसक्ति) होने पर काम (वासना) उत्पन्न होता है। काम (अभीष्ट विषय की प्राप्ति की इच्छा) होने पर क्रोध भी (अनभीष्ट विषय के प्रति द्वेष) स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है। इच्छा एवं द्वेष होने पर द्वन्द्व का (अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल भावों का यथा सुख-दुःख, मानापमान इत्यादि परस्पर विरुद्ध भावों का) समुत्थान (सम्यक् प्रकार से आविर्भाव) होता है। द्वन्द्व एवं एकत्वबोध परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है अर्थात् जहाँ द्वन्द्व (भेदबुद्धि) है वहाँ 'वासुदेवः सर्वमिति', 'अहमेवेदं सर्वम्' इस प्रकार का एकत्व ज्ञान रहना असम्भव है अतः द्वन्द्व द्वारा मोह (मैं अमुक हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ,) इत्यादि अभिनिवेश उत्पन्न होता है एवं उस प्रकार का मोह दृढ़तर होने पर जीवगण सम्मोह प्राप्त होते हैं अर्थात् सम्पूर्ण रूप से मूढ़ता (बुद्धि का विभ्रंश) प्राप्त होते हैं अर्थात् अत्यन्त विषयासक्त होकर आत्मा से पूर्ण रूप से विमुख होते हैं। इस प्रकार से माया के अधीन रहकर (मायिक वस्तु में आसक्त रहकर) जीव अपने सर्वज्ञ स्वरूप से विच्युत होते हैं एवं रागद्वेष द्वारा उन लोगों की बुद्धि व्याकुल रहने के कारण उनलोगों के आत्मरूप से स्थित मुझको भी (परमेश्वर को भी) जान नहीं सकते हैं। अतः मेरा (सर्वात्मा परमेश्वर का) भजन नहीं करते एवं इस कारण से वे लोग नाश प्राप्त होते हैं अर्थात् पुरुषार्थ के (मोक्ष लाभ के) अयोग्य होते हैं। [गीता के द्वितीय अध्याय के ६२–६९ श्लोक में जीव की अधोगति का इस प्रकार क्रम ही दिखाया जा चुका है। वर्तमान श्लोक में सर्वानर्थ का मूल इच्छाद्वेष अर्थात् रागद्वेष ही है, वही दिखाया गया है]। प्रश्न होगा—इच्छाद्वेष तो बुद्धि के विकास के साथ-साथ अभिव्यक्त होता है तब शैशवावस्था में क्यों जीव सर्वज्ञ नहीं होते हैं एवं आत्मस्वरूप तुमको जान नहीं सकते हैं ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है—सर्गे—जन्मकाल में ही अर्थात् इच्छाद्वेष युक्त होकर ही सभी प्राणी स्थूल देहधारण कर जन्म ग्रहण करते हैं। प्राणियों का जन्म अनादि है अर्थात् कब से जन्म शुरू हुआ वह कोई निर्धारण नहीं कर सकता है। प्रत्येक जन्म में ही अनुकूल विषय में इच्छा, (राग) एवं प्रतिकूल विषय में द्वेष करने का अभ्यास होता रहता है एवं उस अभ्यास से इच्छाद्वेष का संस्कार पूंजीभूत

होता रहता है। पूर्व-पूर्व जन्म के सञ्चित संस्कार से जो संस्कार फलोन्मुख होकर प्रारब्ध रूप में परिणत होते हैं उनसे ही प्राणियों का जन्म, आयु, भोग, प्रवृत्ति और निवृत्ति निर्धारित होते हैं। किन्तु सभी संस्कारो के मूल में रहता है कर्म और कर्म तो इच्छाद्वेष से ही उत्पन्न होता है। अतः इच्छाद्वेष से कर्म, कर्म से संस्कार एवं संस्कारानुसार प्राणियों का जन्म होता है। इस कारण से पूर्व-पूर्व जन्म में जिस प्रकार इच्छाद्वेष अभ्यस्त हुआ है उसी के अनुसार वासना लेकर ही सभी प्राणी जन्म ग्रहण करते हैं। अतः इच्छाद्वेष का जन्म-काल में भी अभाव नहीं रहता है। अर्थात् कोई प्राणी ही इच्छाद्वेषरहित होकर जन्म ग्रहण नहीं करता। अतः जन्म से ही इच्छाद्वेष रहने के कारण सभी प्राणी ही द्वन्द्व मोह के वशीभूत होते हैं, यही 'सर्ग' शब्द का तात्पर्य है। उक्त द्वन्द्व मोह से सम्यक् रूप से मूढता प्राप्त होने के कारण मैं जीवों के हृदय में आत्मरूप से सर्वदा विद्यमान रहने पर भी मेरे समान जीव त्रिकालज्ञ (सर्वज्ञ) हो नहीं सकते हैं एवं मेरे यथार्थ स्वरूप भी जान नहीं सकते हैं—इस प्रकार पूर्ववर्ती श्लोक के साथ इस श्लोक की संगति समझनी होगी।

[पूर्व श्लोक में कहा गया है कि सभी प्राणी जन्म से ही मोहग्रस्त होते हैं, अतः आत्मभाव से भगवान का भजन नहीं कर पाते हैं। अब प्रश्न होगा कि यदि ऐसा ही हो तो तुमने जो चार प्रकार के भक्तों के विषय में पहले (गीता ७।१६) कहा है उन भक्तों का भजन कैसे सम्भव होता है? अतः स्पष्टभाव से जानने की इच्छा होती है कि कौन पुरुष द्वन्द्वमोह से निर्मुक्त होकर यथाशास्त्र (शास्त्र ने जिस प्रकार कहा है, उसी प्रकार) तुमको जानकर आत्मभाव से भजन कर सकते हैं? इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

अन्वयः—तु येषां पुण्यकर्मणां जनानां पापम् अन्तगतं ते दृढव्रताः द्वन्द्वमोह-निर्मुक्ताः सन्तः मां भजन्ते।

अनुवाद—जिन सब पुण्यकर्मकारी व्यक्तियों के पाप (प्रायः) विनष्ट हुए हैं वे हो द्वन्द्वमोह से मुक्त होकर दृढव्रत होकर (अर्थात् स्थिरसंकल्प होकर) मुझको भजते हैं।

भाष्यदीपिका—तु येषां पुण्यकर्मणां जनानां पापम् अन्तगतं—[जो कर्मों से अन्तःकरण की शुद्धता उत्पन्न होती है वे यज्ञ, तप, दान प्रभृति

पुण्य, विशुद्ध या पवित्र कर्म बहुत जन्म तक अत्यन्त श्रद्धा से ईश्वरार्पण बुद्धि से सर्वकामना त्यागपूर्वक किये गये हैं जिन लोगों से वे पुण्यकर्मा हैं।] इस प्रकार पुण्यकर्म करनेवाले लोगों का अनादिकाल से (तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्धकरूप से) जो पाप संचित था वह सब पुण्यकर्म के प्रभाव से समाप्तप्रायः अर्थात् क्षीण हो जाता है। ['अन्तगतं' शब्द का अर्थ है विनष्ट हुआ है। किन्तु पाप यदि समूल नष्ट हो जाय तब भक्त और भगवान् में भेदबुद्धि नहीं रह सकती है, क्योंकि उसी अवस्था में भगवान् ही (अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म ही) हो जाता है। किन्तु श्लोक के अन्त में 'भजन्ते' शब्द से यह स्पष्ट हो रहा है] कि पाप अन्तगत (क्षीण) होने पर ही भक्त भगवान् का दृढ़भाव से भजन (उपासना) कर सकता है। इसलिए भाष्य में 'अन्तगत' शब्द का अर्थ विनष्ट नहीं कहकर, समाप्तप्राय अर्थात् क्षीण कहा गया है। जो सब लोग द्वन्द्वमोहग्रस्त होकर संसार गति में चल रहे हैं उनसे पुण्यात्मा व्यक्तिगण विलक्षण हैं क्योंकि भगवद्भजन द्वारा वे सब मोक्षप्राप्ति करने में समर्थ होते हैं। यही विलक्षणता प्रकाश करने के लिए यहाँ 'तु' शब्द व्यवहृत हुआ है। ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः—उक्त पुण्यकर्मों से उत्पन्न हुई चित्तशुद्धि के फलरूप से, वे पूर्वश्लोकोक्त द्वन्द्वमोह से [अर्थात् राग-द्वेष, सुख दुःखादिरूप द्वन्द्व (विपरीतबुद्धि) से जो मोह (अविवेक) उत्पन्न होता है उससे] निःशेषरूपसे मुक्त हो जाते हैं। चित्तशुद्धि शब्द का अर्थ है चित्त में इच्छा (राग) और द्वेषरूप वृत्ति का न रहना। शास्त्रविहित पुण्यकर्म भगवदर्पण बुद्धि से निष्कामभाव से करने पर अन्तःकरण इच्छा और द्वेषहीन होता है। अतः इच्छा तथा द्वेष से उत्थित (उत्पन्न) सुखदुःख रूप द्वन्द्व अर्थात् 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार अनात्मधर्म आत्मा में आरोपित करके जो मोह या भ्रान्तिज्ञान उत्पन्न होता है उससे शुद्धचित्त व्यक्तिगण स्वतः ही मुक्त हो जाते हैं अर्थात् वे सम्पूर्णरूप से द्वन्द्वमोहरहित होते हैं। मोहनिवृत्ति होने से भगवत्तत्त्व जानकर भगवद्भजन में उनकी निष्ठा किस प्रकार होती है ? यही अब कह रहे हैं—दृढव्रताः सन्तः—[द्वन्द्वमोह से मुक्त होने पर] 'सर्वात्मा' भगवान् ही एक मात्र उपास्य है—भगवान् का स्वरूप इस प्रकार का है, अर्थात परमार्थतत्त्व इस प्रकार का है, अन्य प्रकार का नहीं, इस प्रकार दृढ़व्रत अर्थात् निश्चित विज्ञान (दृढ़बुद्धि) होते हैं। अभिप्राय यह है कि पुण्यकर्मों से पाप का क्षय होने से उन लोगों के मोह की निवृत्ति होती है एवं उसके फल से विवेकबुद्धि तीक्ष्ण और शुद्ध होती है। अतः उन सबों का ईश्वरविषयक विशेषज्ञान (विज्ञान) कोई अप्रामाण्य शंका द्वारा बाधित नहीं होता है अर्थात्

गुरुमुख से वेदान्तवाक्यों का श्रवणादि द्वारा सर्वात्मा भगवान् या ब्रह्म के विषय में जो विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है उस से सर्वसंशयरहित हो जाते हैं। अतः किसी प्रकार से भी उनलोगों के भगवद्-भजन का दृढ़ संकल्प विचलित नहीं होता है। साधारणतया 'व्रत' शब्द का अर्थ नियम है, किन्तु दृढ़संकल्प बिना कोई भी नियम-पालन करना संभव नहीं है। फिर जो विषय में निश्चित (संशय-रहित) विशेषज्ञान (विज्ञान) नहीं रहता है उस विषय के सम्बन्ध में नियम-पालन करने का दृढ़संकल्प नहीं हो पाता है। इसलिये भाष्य में 'दृढ़व्रत' का अर्थ 'निश्चित विज्ञान' कहा गया है। क्योंकि वे लोग पुण्यकर्म के द्वारा चित्त-शुद्धि लाभ कर एवं मोहमुक्त होकर मेरे स्वरूप के विषय में दृढ़व्रत अर्थात् निश्चित-विज्ञान होते हैं। अतः दूसरे देवता का भजन त्यागकर मां—मुझको अर्थात् प्रत्यगात्मा से अभिन्न अखण्डाद्वय सच्चिदानन्द परमात्मा को भजन्ते—अनन्यशरण होकर भजन (उपासना) करते हैं अर्थात् वेदान्तादि शास्त्र से 'वासुदेव ही सब कुछ हैं' इस प्रकार जानकर मुझको अपनी आत्मा-रूपसे भजते हैं।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[तब (अर्थात् सभी यदि द्वन्द्वमोह द्वारा सम्मोह प्राप्त होते हैं तब) कोई कोई तुम्हारा भजन करते हैं, वह किस प्रकारसे सम्भव होता है ? इस विषय में अब कह रहे हैं]।

येषां तु पुण्यकर्मणां जनानां—किन्तु जिन सब पुण्याचरणशील लोगों का पापम् अन्तगतं—पाप नष्ट हो गये हैं ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः दृढव्रताः सन्तः मां भजन्ते—वे द्वन्द्वनिमित्तक मोह से निःशेषरूप से मुक्त होकर दृढ़व्रत होकर अर्थात् मेरे अनन्यभक्त होकर मेरा भजन करते हैं।

(२) शंकरानन्द—तब द्वन्द्वमोह की निवृत्ति किसके द्वारा होती है ? एवं कौन द्वन्द्वमोह से मुक्त होकर आत्मस्वरूप तुमको सम्यक्रूप से ज्ञात होकर भजन करते हैं ? इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं—

येषां पुण्यकर्मणां—अत्यन्त श्रद्धा एवं भक्तिके साथ ईश्वरप्रीति के लिए नियमपूर्वक अनेक जन्मों में जो सम्पूर्ण कामनारहित होकर उक्त लक्षण-सम्पन्न यज्ञ, दान एवं तपःरूप वैदिक पुण्यकर्मों का अनुष्ठान किये हैं, वे पुण्यकर्मणां—पुण्यकारी है अर्थात् एकमात्र सत्कर्म में ही निष्ठा रखते हैं इस प्रकार जो जनानां—जिन लोगों के पापं—प्राक्तन पाप अन्तगतं—अन्तगत (नष्ट) हो गया है। 'धर्मेण पापमपनुदति' (धर्म के द्वारा पाप को नष्ट करते हैं) इस श्रुति वाक्य के अनुसार यज्ञादि पुण्यकर्मों के द्वारा जिन लोगों का

पापकर्म निःशेष रूपसे नष्ट हो गया है, ते—वे लोग ही अर्थात् उन सब पुण्य कर्म के द्वारा एवं ईश्वर उपासना के द्वारा प्रतिवन्ध की निवृत्ति कर जो लोग चित्तप्रसाद (चित्तशुद्धि) लाभ किये हैं वे लोग ही चित्तप्रसाद की महिमा से द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ताः—द्वन्द्व-मोह से निर्मुक्त होकर (अर्थात् सदसद्-ज्ञान के उदय में प्रतिवन्ध रूप से विद्यमान जो द्वन्द्वमोह उससे निःशेषरूप से मुक्त अर्थात् निष्क्रान्त होकर) सम्पूर्ण कर्म एवं उनके साधन को त्यागकर एकमात्र संन्यास रूप साधन का अवलम्बनकर श्रुति का एवं आचार्य के प्रसाद से प्राप्त प्रत्यक्-तत्त्व का विज्ञान द्वारा दृढव्रताः—दृढ़व्रत होकर ['सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव' (यह सब एवं मैं ब्रह्म हूँ) इस प्रकार दृढ़ अर्थात् अप्रतिहत व्रत (बुद्धि का निश्चयविशेषरूपव्रत) जिन लोगों का है वे दृढ़व्रत हैं] अथवा श्रुति, स्मृति, एवं करोड़ों युक्तियों के द्वारा जो विषय (तत्त्व) निर्णीत हुए हैं उसमें निश्चित बुद्धि रखकर मां—मुझको अर्थात् निश्चल, निष्क्रिय, निराकार, निरंजन, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, आनन्दैकरस, प्रत्यगभिन्न अद्वितीय परब्रह्म को भजते हैं अर्थात् नित्य-निरन्तर एकनिष्ठा से अनुसन्धान करते हैं। विषयसुख के भ्रम से भ्रान्त अन्य पुरुष मुझको नहीं भजते, यही अर्थ है।

टिप्पणी—(२) नारायणीटीका—पूर्वश्लोक में जो कहा गया है वह साधारण नियम है, किन्तु जो सब व्यक्ति अनेक जन्मों से पुण्यानुष्ठान करते आ रहे हैं, उनलोगों के पुण्यकर्मों के प्रभाव से ज्ञान का प्रतिबन्धक स्वरूप पाप दूर हो जाता है। विषयासक्ति ही पाप है, उसी से राग-द्वेष रूप द्वन्द्व उत्पन्न होता है और द्वन्द्व से मोह या अविवेक उत्पन्न होता है। अतः जिन लोगों का पाप क्षय हो जाता है वे लोग क्रोध, द्वेष एवं क्रोध-द्वेष जनित मोह से स्वतः निःशेष रूप से मुक्त हो जाते हैं। मोह अर्थात् (अविवेक या भ्रान्तिज्ञान) से निर्मुक्त होना और सत्त्वशुद्धि (अन्तःकरणशुद्धि) लाभ करना एक ही बात है। मलिन वस्त्र में जैसे रंग नहीं लगता है उसी प्रकार अन्तःकरणशुद्धि न होने तक वेदान्त श्रवणादि द्वारा परमात्मविषयक ज्ञान की स्थिरता लाभ नहीं कर पाते हैं। अतः शुद्धचित्त होने पर ही गुरुमुख से वेदान्त वाक्य श्रवणादि करके परमात्मस्वरूप के विषय में जो ज्ञान लाभ होता है वह दृढ होता है अर्थात् समस्त दृश्यप्रपञ्च सर्वात्मा वासुदेव का स्वरूप है एवं वही सर्वप्रकार से एकमात्र उपास्य है, इस प्रकार विज्ञान (परमात्मविषयक विशेषज्ञान) सर्व-संशयरहित होकर निश्चल या दृढ होता है। अतः निश्चित विज्ञान अथवा निश्चित संकल्प जिनलोगों को होता है उनलोगों को 'दृढव्रत' कहा जाता है।

इस प्रकार दृढव्रत होकर जो ज्ञानी निष्पाप और द्वन्द्वमोह से शून्य हुए हैं वे अनन्यभाव से केवल परमात्मा को ही अपने एवं सबके आत्मरूप से भजते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में अन्य किसी जागतिक वस्तु का अस्तित्व नहीं है। आर्त, जिज्ञासु एवं अर्थार्थी अर्थात् इन तीनों प्रकार के भगवान् के भक्त पहले सकाम रहने पर भी अन्त में निष्कामभाव से भगवान् का भजन करके मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं, यह पहले ही कहा गया है इसी कारण से उनको "सुकृतिनः" (सुकृतिशाली) कहा गया है (गीता ७।१६)। [अतः सभी प्राणी को ही मोह प्राप्ति होती है (गीता ७।२७)। इस प्रकार पूर्वश्लोक में जो कहा गया है वह उत्सर्ग है अर्थात् साधारण नियम है। फिर जो लोग पुण्यकर्म कर सम्मोहविहीन हुए हैं, वे सब दृढव्रता होकर मेरी सेवा करते है (गीता ७।२८), यह अपवाद है अर्थात् विशेष नियम है। अतः इस प्रकार कहने पर कोई विरोध नहीं होता है। "त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः" (७।१३) इत्यादि श्लोकों में वही साधारण नियम प्रतिपादित हुआ है। किन्तु कर्मों के द्वारा जिस मनुष्य ने चित्तशुद्धि लाभ किया है वही दृढव्रत होकर भगवान का भजन करने में समर्थ होता है यह विशेष नियम है। अतः चित्तशोधक पुण्यकर्म का अनुष्ठान करने के लिए सर्वदा साधक को यत्न करना कर्तव्य है, यही श्रीभगवान् के कहने का यहाँ अभिप्राय है (मधुसूदन)] कारण, कल्याणकामी पुरुष के लिये एकमात्र भगवान् ही श्रोतव्य, मन्तव्य, निदिध्यासितव्य एवं अर्चनीय है।

[वे लोग तुमको क्यों भजेंगे ? अर्थात् तुम्हारी आराधना करने से तुम्हारे भक्तों का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? यह अब कहा जा रहा है—]

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

अन्वयः—जरामरणमोक्षाय ये माम् आश्रित्य यतन्ति (यतन्ते) ते तद् ब्रह्म विदुः कृत्स्नम् अध्यात्मं (विदुः) अखिलं कर्म च (विदुः)।

अनुवाद—जरा एवं मरण से मुक्ति लाभ करने के लिये मेरा आश्रय कर जो लोग प्रयत्न करते हैं वे लोग उस परब्रह्म को जानते हैं एवं समस्त अध्यात्म को जानते हैं (अर्थात् प्रत्यगात्मा के विषय में ज्ञान लाभ करते हैं) और सभी प्रकार के कर्मों को भी जानते हैं यानी उन सभी के यथार्थ तत्त्व को जानते हैं।

भाष्यदीपिका—जरामरणमोक्षाय—जायतेऽसौ इति जः (जीवः); जं (जीवं) राति नश्यतीति जरा—अर्थात् जो लोग जन्म ग्रहण करते हैं उनको

'ज' या 'जीव' कहा जाता है। जीव (प्राणी) जिसके द्वारा जीर्ण या नष्ट होता है उसको जरा कहा जाता है। इस जरा और मृत्यु का ग्रास (हाथ) से मुक्तिलाभ करने के निमित्त अर्थात् जन्म-जरा-मृत्यु के प्रवाहरूप संसार की आत्यन्तिक (पूर्णतया) निवृत्ति के लिये ये—संसार में दुःख से अतिशय तप्त होकर संसार से मुक्तिलाभ करने की इच्छा कर जो लोग माम् आश्रित्य—मुझको अर्थात् सर्वात्मक परमेश्वर को आश्रय कर अर्थात् मुझमें ही चित्त समाहित कर [कल्पित मिथ्या नामरूपात्मक प्रपञ्च को ग्रहण न कर निरन्तर मेरे स्वरूप-चिन्तन में रत रहकर (आनन्दगिरि)] यतन्ति—(यतन्ते)—प्रयत्न करते हैं [अर्थात् फलाभिलाषशून्य होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से विहित कर्म का अनुष्ठान करते हैं एवं क्रमशः अन्तःकरण की शुद्धिलाभ करते हैं (मधुसूदन)] ते—वे लोग तत् ब्रह्म विदुः—[जो जगत् के कारण स्वरूप हैं तथा माया के अधिष्ठान हैं एवं जो 'तत्' पद के लक्ष्यवस्तु हैं वही सर्वोपाधिरहित शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप निर्गुण (मधुसूदन)] परब्रह्म को अर्थात् मुझको जान सकते हैं।

(तथा) कृत्स्नम् अध्यात्मं विदुः—एवं सभी अध्यात्म [प्रत्यगात्म (अन्तरात्म)] विषयक वस्तु को अर्थात् प्रत्यगात्मा के यथार्थ तत्त्व या स्वरूप को समग्रभाव से जानते हैं। "आत्मानं शरीरमधिकृत्य अधिष्ठानं कृत्वा तिष्ठतीति तदध्यात्मम्" अर्थात् प्रत्येक शरीर को अधिष्ठान कर (अवलम्बन कर) जो अवस्थान करता है (प्रकाशमान रहता है) उनको अध्यात्म कहा जाता है अर्थात् किसी प्रकार उपाधि द्वारा परिच्छिन्न न रहकर 'त्वं' पद का लक्ष्य अखण्ड साक्षी चैतन्य प्रत्यगात्मा रूप से जो सर्व शरीर में अवस्थान करते हैं उन्हीं को यहाँ 'अध्यात्म' शब्द द्वारा निर्देश किया जा रहा है। 'कृत्स्न' शब्द का अर्थ है सब (समग्र) 'कृत्स्नम् अध्यात्मम्' पद द्वारा यही समझाया जा रहा है कि निर्विशेष परमात्मा को जानने के पश्चात् सर्वत्र ब्रह्मदर्शन के फल से सभी (कृत्स्न) शरीर में अवस्थित वही प्रत्यगात्मा जो परब्रह्मस्वरूप ही है, उनको वे (भगवद्भक्त) जानते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जो 'परब्रह्मस्वरूप वासुदेव ही सब कुछ हैं' इस प्रकार की बुद्धि से भगवान् का सगुण—सर्वात्मभाव को आश्रय कर भजन (अभ्यास) करने से केवल उस के निर्गुण स्वरूप का ही ज्ञान होता है ऐसा नहीं, वरन प्रत्येक शरीर में जीवात्मा भी ब्रह्मस्वरूप ही हैं यह जानकर जीव और ब्रह्म का ऐक्य भी प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। फिर, अखिलं कर्म च—(विदुः)—सभी कर्मों के तत्त्व को भी जान जाते हैं।

कोई-कोई टीकाकार 'अखिलं कर्म च विदुः' का अर्थ इस प्रकार करते हैं–

कर्म—ब्रह्म और जीवात्मा के ऐक्यसाधन करने के लिये जो-जो कर्म आवश्यक है (अर्थात् बहिरंग साधन—यज्ञ, दान, तपः प्रभृति एवं अन्तरंग साधन—गुरु उपसदन (गुरु के पास गमन), वेदान्तवाक्य का श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि) वे अखिलं—सभी निरवशेष रूप से (पूर्णतया) अर्थात् वे सभी कर्म का फल जिससे अवश्य ही प्राप्त हो सके उस प्रकार से विदुः—जानते हैं। किन्तु भाष्यकार ने "समस्त कर्म ही जानते हैं" इस प्रकार व्याख्या की यहाँ 'समस्त कर्म' से सभी जागतिक कर्म या विश्वप्रपञ्च को सूचित किया है क्योंकि विश्वप्रपञ्च हो जीवमात्र के सुख-दुःख का हेतु होकर बन्धन का कारण बन जाते हैं, तथा इससे ही मुक्ति पाने के लिये मुमुक्षु भक्त भगवान् का आश्रय लेते हैं। अभिप्राय यह है कि संसार ही कर्ममय है। कर्म से भोक्ता की (जीव की), भोग्य को (दृश्यप्रपञ्च की) तथा भोगरूप क्रिया की सृष्टि होती है। कर्म से ही सुख, दुःख, इत्यादि की उत्पत्ति होती है। अतः कर्म ही बन्धन का मूल कारण है। इसलिये कर्म से ही मुमुक्षु मुक्ति चाहता है। विवेकदृष्टि से सभी कर्मों का फल एकमात्र दुःख ही होता है। इसीलिये पातञ्जल योगशास्त्र में कहा गया है—"सर्वम् एव दुःखं विवेकिनः"। फिर गीता में भी कहा गया है—"अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्" (गीता ९।३३)। अतः पूर्वोक्त श्लोक में 'जरामरणमोक्षाय' शब्द का प्रकृत अर्थ है—'सभी कर्मों से मुक्ति के लिये' जरा, मरण एवं उनसे उत्पन्न हुआ बन्धन सभी कर्मों के फलरूप से प्राप्त होते हैं। अतः उस जरामरण से मुक्ति-लाभ करने के साधन का क्रम इस श्लोक में इस प्रकार कहा गया है—

(क) सगुण ब्रह्म को आश्रय करके सर्वकर्म तथा निष्काम बुद्धि से तथा उनमें अर्पण बुद्धि से करने पर चित्तशुद्धिलाभ होता है। तत्पश्चात् निर्गुण परमात्मस्वरूप का ज्ञानलाभ होता है अर्थात् परब्रह्म को जाना जाता है।

(ख) उस ज्ञानलाभ करने के बाद सभी अध्यात्मवस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता है अर्थात् जीवात्मा का (सभी के शरीर में चैतन्यरूप से स्थित प्रत्यगात्मा वस्तुतः परमात्मा के स्वरूप ही है इसका) अनुभव होता है अर्थात् साध्य और साधक दोनों ही ब्रह्मस्वरूप है, इसका ज्ञान होता है। केवल साधन या कर्म अवशिष्ट रह जाता है जिसका तत्त्व भी जानना होगा।

(ग) इसलिये श्रीभगवान्ने कहा—"अखिलं कर्म च (विदुः)" अर्थात् सभी कर्म शुद्धचैतन्य स्वरूप ब्रह्म ही है, ऐसा जानते हैं। इसप्रकार

ईश्वर, जीव और जगत्–साध्य, साधक और साधन सभी ब्रह्म ही हैं, ऐसा ज्ञान होता है। इस प्रकार अद्वैतज्ञान ही (जिसे ७।२ श्लोक में विज्ञान कहा गया है) जरामरणरूपी संसार से मुक्ति लाभ कराने का एकमात्र उपाय है, क्योंकि उक्त ज्ञान होने से फिर द्वैतभाव नहीं रहता ("ज्ञाते द्वैतं न विद्यते"–माण्डूक्य-कारिका)। द्वैतबुद्धि रहने से ही भय रहता है। इसलिए श्रुति में कहा गया है—"द्वितीयाद् वै भयम्" (तै० उ०)। फिर 'यदाह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' (तै० उ०) अर्थात् जबतक अविद्याग्रस्त व्यक्ति ब्रह्म से अपने को अल्पमात्र भी भेद दर्शन करते हैं, तबतक उनके भेददर्शन-निमित्त भय रहता है। कोई-कोई टीकाकार के मत में भगवान् का यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म, सम्पूर्ण अध्यात्म विषय, एवं सम्पूर्ण कर्म–इन तीन विषयों का पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है। किन्तु इस प्रकार की व्याख्या ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा होने से द्वैतज्ञान अवश्य ही रहेगा, किन्तु जबतक अद्वैत-तत्त्व का ज्ञान नहीं होता तब तक जरा-मरण से कभी भी मुक्ति लाभ करना संभव नहीं है। द्वितीयतः परब्रह्म अनन्त है, अतः उनकी प्राप्ति के लिये साधन भी अनन्त हैं, किन्तु किसी के लिये "अखिलं कर्म" अर्थात् सम्पूर्ण साधनरूप कर्म पृथक्रूप से जानना असम्भव है। इसी दृष्टि से भी इस प्रकार की व्याख्या समीचीन प्रतीत नहीं होती है।

प्रश्न होगा—एक ही अविकारी ब्रह्म अपने शुद्धस्वरूप में स्थित रहकर भी समस्त अध्यात्म एवं कर्मरूप में किस प्रकार से परिणत हो सकता है?

उत्तर—जैसे जल से पृथक् रूप से प्रतीत तरंग, बुद्बुद प्रभृति में द्रवत्व, शुक्लत्व, शीतत्वादि जलधर्म भीतर और बाहर (सर्वत्र) व्याप्त रहने पर भी उनकी जल से कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती है अर्थात् वह जल रूप ही रहता है एवं जैसे तरंग आदि में वर्तमान क्रिया तरंग आदि से अभिन्न होने से भी वे तरंग आदि के स्वरूपभूत जल से पृथक् नहीं हैं (अर्थात् जैसे तरंग बुद्बुद प्रभृति एवं उन सभी की क्रिया सभी अवस्थाओं में जलमात्र ही हैं), उसी प्रकार ब्रह्म से भिन्नरूप से प्रतीत होनेवाली सभी अध्यात्म वस्तु (अर्थात् देह को अधिकार कर प्रत्यगात्मा रूप से अथवा भोक्ता के रूप से अवस्थित सभी जीव एवं उनकी क्रिया) शुद्धचैतन्य स्वरूप ब्रह्म की सत्ता से सत्तावती एवं उन्हीं के प्रकाश से प्रकाशयुक्त होती हैं अतः वे ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अथवा जीव और जगत् सभी (कृत्स्नमध्यात्मम् एवम् अखिलं कर्म) ब्रह्माधिष्ठान में कल्पित हैं, अतः रज्जु-सर्प के समान अथवा मरीचिका में जलभ्रान्ति के समान अथवा स्वप्नदृश्य के समान अथवा ऐन्द्रजालिक पदार्थ के

समान, वे सभी मिथ्या है। मिथ्यावस्तु की सत्ता अधिष्ठान सत्ता से अन्य कोई पृथक् वस्तु नहीं है। अतः सभी अध्यात्म वस्तु को एवं अखिल कर्म को ब्रह्ममात्र रूप से दर्शन करना युक्तियुक्त ही होता है। 'जिसको जानने से अन्य कोई ज्ञातव्य विषय अवशिष्ट नहीं रहता है' (७।२) अर्थात् एक के विज्ञान से सभी का विज्ञान होगा, इस प्रकार प्रतिज्ञा कर इस अध्याय का जो उपक्रम किया गया था अब उसका ही उपसंहार वर्तमान श्लोक में किया गया है।

['कर्म चाखिलं विदुः' वाक्य की विभिन्न अद्वैत टोकाकारों ने भिन्न-भिन्न व्याख्या की है यथा—

(१) मधुसूदन—वे लोग 'तत्' पद का लक्ष्य ब्रह्म एवं 'त्वं' पद का लक्ष्य जीव (प्रत्यगात्मा) इन दोनों का यथार्थ तत्त्व जानने के लिये जिन-जिन साधनों की अपेक्षा है (यथा—गुरूपसदन, श्रवण, मनन प्रभृति कर्म), उनको भी निरवशेष भाव से अर्थात् फल का जिससे कोई व्यभिचार (अप्राप्ति) न हो, इस प्रकार जानते हैं।

(२) नीलकंठ—जीव एवं ब्रह्म का अभेद साक्षात्कार जिससे अवश्य ही उत्पन्न होता है इस प्रकार साधनरूप सभी कर्म जानते हैं।

(३) श्रीधर—परम ब्रह्म और अध्यात्म तत्त्व जानने के अनुकूल साधनरूप अखिल (सम्पूर्ण) कर्मतत्त्व (रहस्यसहित) जाने जाते हैं।

(४) आनन्दगिरि—मुमुक्षु प्रथमतः भगवान् में निष्ठालाभ करने के लिये बहिरंग साधन (यज्ञादि) का एवं अंतरंग साधन (श्रवणादि) का अनुष्ठानरूप प्रयत्न करते हैं। इसके फलस्वरूप जगत् के उपादान कारण परब्रह्म को जानते हैं। किस प्रकार से जानते हैं ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है—सभी अध्यात्म वस्तुरूप से (प्रत्यगात्मरूप से) एवं सम्पूर्ण कर्मरूप से उस ब्रह्म को जानते हैं

(५) शंकरानन्द—उन लोगों के सुख दुःख आदि के कारणभूत सभी कर्मों को ब्रह्मस्वरूप से ही जानते हैं।

(६) धनपति सूरी—'भाष्योत्कर्षदीपिका' में मधुसूदन सरस्वती के मत का खंडन कर कहते हैं 'कर्म' शब्द का अर्थ यदि श्रवणादि साधन माना जाय तो ८ वें अध्याय के ३ श्लोक में भाष्यकार 'कर्म' शब्द का अर्थरूप से जो यज्ञ, दान, होमादि वैदिक कर्म ग्रहण किये हैं—उसके साथ विरोध होगा। अतः यहाँ 'अखिल कर्म को जानते हैं' इस वाक्य का अर्थ होगा 'अखिल (सम्पूर्ण) प्रपंच के तत्व को जानते हैं'। उनके मतानुसार यही

भाष्य की अनुकूल व्याख्या है, क्योंकि सम्पूर्ण प्रपञ्च को ब्रह्म से अभिन्न जानने से ही जरा-मरण आदि लक्षणरूपसंसार से मुक्ति पायी जाती है]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पूर्वोक्त प्रकार से जो लोग मेरा भजन करते हैं, वे लोग जो कुछ जानने के योग्य हो उसे जान कर कृतार्थ होते हैं—यही कहा जा रहा है—]

जरामरणमोक्षाय—जरा (वृद्धावस्था) और मृत्यु से मुक्ति प्राप्ति के लिये माम् आश्रित्य ये यतन्ति—मुझको आश्रय कर, जो लोग प्रयत्न करते हैं ते तद्ब्रह्म विदुः—वे उस परब्रह्म को जानते हैं और कृत्स्नम् अध्यात्मं च विदुः—और सभी अध्यात्म तत्त्व को भी जानते हैं अर्थात् जिसके द्वारा उस परब्रह्म को प्राप्त करना होगा, उसको भी अर्थात् देहादि से भिन्न शुद्ध आत्मा को भी जानते हैं।

कर्म च अखिलम्—और उसके साधनीभूत अखिल (सम्पूर्ण) कर्मों को (समस्त कर्मतत्त्व को) भी रहस्य के साथ जान सकते हैं।

(२) शंकरानन्द—तुमने कहा है 'मद्भक्ता यान्ति माम्' (मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं), किन्तु सभी लोग तुमको क्यों नहीं प्राप्त होते हैं ? इसप्रकार के प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि माया एवं इसके कार्य के दोष द्वारा जिन लोगों की बुद्धि आच्छादित (ढ़की) रहती है वे मूढ़ मुझको तत्त्व से जान नहीं सकते हैं और न तो मेरा भजन कर सकते हैं। अतः मुझको प्राप्त भी नहीं होते हैं। परन्तु जिनके पूर्व जन्म के पुण्य के आधिक्य से सब पापों की निवृत्ति हुई है उन लोगों का चित्तप्रसाद (प्रसन्नता अर्थात् चित्त-शुद्धि) सम्यक् प्रकार से उदित होता है। अतः वे लोग द्वन्द्वमोह से निष्क्रान्त (मुक्त) होकर निरन्तर समाधिनिष्ठा से मुझको भजते हैं, अतः वे भक्त लोग मुझको प्राप्त होते हैं। इससे समझना चाहिए कि उन लोगों की समाधि-निष्ठा से जो सम्यक्ज्ञान उत्पन्न होता है उससे उक्त विदेहमुक्ति प्राप्त होती है। अतः उनलोगों को केवल जरामरण से मुक्ति ही नहीं होती है क्योंकि यहां कह रहे हैं—"जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ते ब्रह्म तद्विदुः" अर्थात् जरामरण से मुक्ति के लिये मुझको आश्रय कर जो लोग यत्न करते हैं वे उस ब्रह्म को जानते हैं। जरामरण से मुक्ति प्राप्त करने के लिये ही जो लोग प्रयत्न करते हैं उनका उस मोक्ष का साधन है—सर्वत्र ब्रह्ममात्रत्व दर्शन, इस प्रकार कहा गया है। अतः 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः'—(उनलोगों में ज्ञानी नित्ययुक्त हैं) उससे लेकर यहाँ तक जो कहा गया है वह केवल निर्विशेष ब्रह्म में निष्ठा-सम्पन्न व्यक्ति के लिये कहा गया है, 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति'

(उनका प्राण नहीं निकलता है) 'ब्रह्मैव सत् ब्रह्माप्येति' (ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त होता है)। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मविद् ब्रह्म ही हो जाते हैं) इत्यादि। केवल श्रुति को ही जो प्रमाण मानते हैं उस प्रकार के ब्रह्मविदों को यहाँ ही, (इसी जन्म में ही), विदेहमुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा प्रतिपादन कर अब मन्दप्रज्ञा वालों को 'सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि करनारूप सगुणब्रह्म की उपासना संक्षेप से उपदेश दे रहे हैं। जरामरणमोक्षाय—जरा एवं मरण से मुक्त होने के लिये अर्थात् जरामृत्यु के प्रवाह की निःशेष निवृत्ति के लिए—मां—सभी के कारण, सभी की आत्मा मुझको अर्थात् परमेश्वर को आश्रित्य-आश्रय लेकर अर्थात् भ्रम-कल्पित नाम-रूप आदि का ग्रहण न कर सर्वदा एकमात्र मेरे स्वरूप के ही अनुसन्धान में तत्पर होकर ये—जो सब मुमुक्षु यतन्ति—यत्न करते हैं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब दृश्य पदार्थ निश्चय ही ब्रह्म हैं) इत्यादि श्रुतियों के अर्थ का अवलम्बन कर सर्वत्र ब्रह्म प्रत्यय की (ब्रह्माकारा वृत्ति की) जो आवृत्ति (अभ्यास) करते हैं, ते—वे निरन्तर ब्रह्म प्रत्यय की आवृत्ति की महिमा से कृत्स्नम् अध्यात्मम्—सम्पूर्ण अध्यात्म को—ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सब उपाधियों में आत्मरूप से स्थित प्रत्यक्-रूप वस्तु को कर्म च अखिलम्—एवं समस्त कर्म को अर्थात् प्रत्यगात्मा के सुख दुःख आदि के अनुभव के कारणीभूत सभी कर्म को ब्रह्म—ब्रह्म ही विदुः—जानते हैं। ब्रह्म का दर्शन कर सभी अध्यात्म एवं कर्म को ब्रह्ममात्ररूप से जानते हैं, यही अर्थ है। जिस प्रकार जल से पृथक् प्रतीत होने वाले तरंग, बुद्-बुद आदि के द्रवत्व, शीतत्व, शुक्लत्व आदि जल का धर्म के द्वारा अंदर और बाहर व्याप्त रहने के कारण उसके स्वरूप आदि द्वारा कोई पृथक् सत्ता संभवित (उत्पन्न) नहीं होती है। अतः वे सब जल से भिन्न नहीं रहते हैं, परन्तु जलरूप में ही विद्यमान रहते हैं फिर तरंग आदि में आश्रित क्रिया भी तरंग आदि से अभिन्न होने के कारण, तरंग आदि के स्वरूपभूत जलरूप ही है। जिस प्रकार तरंग आदि में रहने वाली क्रिया भी जल मात्र ही है उसी प्रकार ब्रह्म से भिन्न जैसा प्रतीयमान अध्यात्म आदि पदार्थ भी सत्त्व, चित् सत्ता व प्रकाश आदि ब्रह्म के धर्मों से व्याप्त होने के कारण उनकी स्वतः कोई सत्ता रह नहीं सकती है। अतः वे ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं, परन्तु ब्रह्मस्वरूप ही हैं। उनमें व्याप्त रहने वाली क्रिया के भी अध्यात्म से अभिन्न होने के कारण तदात्मक ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण अध्यात्मों का एवं सम्पूर्ण कर्मों का ब्रह्ममात्रत्व-दर्शन युक्त ही है, यही सिद्ध हुआ।

टिप्पणी (३) नारायणी टीका—सभी लोग क्षुद्र-क्षुद्र कामना-सिद्धि के लिये भिन्न-भिन्न देवता का भजन करते हैं, परन्तु जो लोग तुम्हारा भजन करते हैं उन लोगों को क्या विशेष लाभ होता है ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं मेरा भजन करने का अन्तिम फल होता है—जरा मरण से मुक्ति आत्मा से भिन्न कोई देवताविशेष की उपासना करके कोई मोक्षलाभ नहीं कर पाता है। अतः मेरे भक्त जरा मरण से निष्कृति लाभ करने के लिये मुझको आश्रय करके अर्थात् सर्व जागतिक विषयों से विमुख होकर मुझमें ही चित्त समाहित करके मेरे साथ मिलने के लिये (एकत्वानुभव करने के लिये) प्रयत्न करते हैं (अर्थात् पुनः पुनः अभ्यास करते हैं) इस प्रकार के अभ्यास के फल से वे लोग परब्रह्म को जानते हैं अर्थात् मैं ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ०) अर्थात् सबसे श्रेष्ठ सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्त स्वरूप आत्मा हूँ इसे वे लोग साक्षात् अनुभव करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म के साथ ऐक्यज्ञान लाभ करके वे लोग यह भी साक्षात् भाव से जान पाते हैं कि मैं ही कृत्स्न (समस्त) अध्यात्म वस्तु का यथार्थ तत्त्व हूँ [अर्थात् आत्मा को (शुद्ध-चैतन्यस्वरूप आत्मा को) अधिकार करके (आश्रय करके) जो सब शरीरधारी प्राणी हैं उनको (अर्थात् देहादि विशिष्ट सब जीवों का यथार्थ स्वरूप मैं ही हूँ) अर्थात् सभी जीव उस परब्रह्म से अभिन्न हैं, इस तत्त्व को साक्षात्कार करते हैं]। इस प्रकार परब्रह्म को जानकर जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्यानुभव करने से जीव जो कर्मों द्वारा अनादि काल से संसारचक्र में भ्रमण कर रहे हैं, उन सब कर्मों के तत्त्व का भी जानते हैं—अर्थात् कर्म और कर्म-सृष्ट विश्व-प्रपंच ब्रह्मातिरिक्त कोई सत्ता नहीं है यह जानते हैं इस प्रकार से ब्रह्म, जीव ओर कर्मजात जगत् इन तीनों का एकत्व-साक्षात्कार ही पूर्ण विज्ञान है, क्योंकि ऐसे विज्ञान द्वारा ही जरामरण से (संसार चक्र से) मुक्ति लाभ होता है यही कहने का अभिप्राय है।

जो लोग सर्वत्र ब्रह्मदर्शन किया करते हैं, वे लोग केवल सभी अध्यात्म वस्तुओं को एवं कर्म को ही ब्रह्म स्वरूप जानते हैं यही नहीं है, परन्तु अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञ सभी विषयों को भी ब्रह्मरूप से जानते हैं। तथापि प्रश्न हो सकता है कि मरणकाल में जब उनलोगों की इन्द्रियाँ विवश हो जायेंगी और वे तुमको भूल जायेंगे अर्थात् तुमको वे लोग स्मरण करने में असमर्थ होंगे, तब संसार से मोक्ष किस प्रकार होगा ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—नहीं, इस प्रकार संशय करना उचित नहीं होगा, क्योंकि मुझमें जो लोग जीवितावस्था में सदैव चित्त समाहित रखते हैं वे लोग मरणकाल में भी मेरा ही स्मरण किया करते हैं—

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

अन्वयः—ये च साधिभूताधिदैवं साधियज्ञं च मां विदुः, ते युक्तचेतसः प्रयाणकाले अपि च मां विदुः ।

अनुवाद—जो लोग अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञ के साथ मुझको जानते हैं वे लोग मुझमें ही युक्तचित्त रहने के कारण मरणकाल में भी मुझको जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं ।

भाष्यदीपिका—ये च—अधिकंतु जो लोग [अनेक जन्मों की सुकृति के फल रूप से (अर्थात् पुण्यकर्मानुष्ठान द्वारा) शुद्धचित्त एवं रागद्वेषादिरूप द्वन्द्वजनित मोह से मुक्त हुए हैं इस प्रकार के जो लोग है] ।

साधिभूताधिदैवं—अधिभूत और अधिदैव के साथ भूतों को (प्राणिमात्र को) जो आश्रय कर रहते हैं एवं बाद में विनाश प्राप्त होते हैं उनको अर्थात् उत्पत्ति एवं विनाशशील वस्तुमात्र को अधिभूत कहा जाता है । जो शरीररूप पुर में रहते हैं, उनको पुरुष कहा जाता है । ये पुरुष ही अधिदैव हैं । समष्टि लिंगशरीररूप हिरण्यगर्भ अधिदैव शब्द के द्वारा अभिहित होते हैं, क्योंकि वे ही आदित्यादि देवतागण को आश्रय कर व्यष्टिभूत प्रत्येक जीव की इन्द्रियों के अनुग्राहक (प्रेरक) होते हैं । इस प्रकार अधिभूत और अधिदैव तथा साधियज्ञं च—अधियज्ञ के साथ [सभी यज्ञों के अधिष्ठाता एवं फलदाता विष्णु नाम से प्रसिद्ध जो देवता हैं वही अधियज्ञ है । उनके साथ] मां विदुः—मुझको अर्थात् सर्वात्मक परब्रह्म परमात्मा को जानते हैं [अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ कहने से एवं पूर्वश्लोकोक्त अध्यात्म और कर्म कहने से जो कुछ भी समझा जाय वह सब ब्रह्म ही है एवं ब्रह्म ही इन सभी रूपों में अवस्थित है, इस प्रकार जो जानते हैं] ते—वे लोग युक्तचेतसः—सर्वत्र ब्रह्म दर्शन के फल रूप से मुझमें ही समाहित चित्त रहने के कारण प्रयाणकाले अपि च मां विदुः—प्राण के उत्क्रमण के समय में अर्थात् मरणकाल में भी सर्वस्वरूप मुझको अर्थात् परब्रह्म परमेश्वर को भलीभाँति जान लेते हैं । जीवितकाल में निरन्तर ईश्वर चिंताजनितसंस्कार अति प्रबल होने के कारण मरणकाल में भी उनलोगों की चित्तवृत्ति ईश्वराकारा होती है । श्लोक में 'अपि' और 'च' शब्दों का अभिप्राय यह है कि मृत्यु के समय में इन्द्रियाँ अत्यन्त व्यग्र (व्याकुल) रहने से यद्यपि साधारण लोगों का ज्ञान लुप्त हो जाता है, तथापि जो लोग अध्यात्मविषयक सभी कर्मों को तथा अधिभूत,

अधिदैव और अधियज्ञ को ब्रह्म से अभिन्न जान चुके हैं उनके चित्त अविच्छिन्न रूप से ब्रह्माकारावृत्ति द्वारा मुझमें ही समाहित रहता है एवं निरन्तर अभ्यास के फल रूप से मरणकाल में मेरे अनुग्रह से मेरे स्वरूप के ज्ञान को वे लोग किसी प्रकार से विस्मृत नहीं होते हैं अर्थात् मरणकाल में भी मेरे (परमेश्वर के) स्वरूप का यथार्थ ज्ञान बिना प्रयत्न से इनलोगों के हृदय में जाग्रत रहता है। अतः शुद्धचैतन्यस्वरूप परमात्मा से भिन्न अन्य कुछ भी वे लोग नहीं देखते या स्मरण करते हैं।

[इस प्रकार से मुझमें (परमेश्वर में) भक्तियोग द्वारा वे लोग कृतार्थ अर्थात् कृतकृत्य होते हैं। ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ कहने से क्या समझा जाता है ? उसकी परवर्ती अध्याय में श्रीभगवान् व्याख्या करेंगे। परवर्ती अध्याय (अष्टम अध्याय) इस अध्याय के २९–३० इन दो श्लोकों की वृत्तिस्वरूप हैं अर्थात् परवर्ती अध्याय में जो कुछ कहा जायगा वह सब इन दो श्लोकों की व्याख्या है। इस प्रकार उत्तम अधिकारी के लिए जो ज्ञेय है एवं मध्यम अधिकारी के लिए जो ध्येय है एवं मुख्य वृत्ति से और लक्षणाशक्ति से जो 'तत्' पद का प्रतिपाद्य है वही ब्रह्म इस स्थान में निरूपित हुआ है। (मधुसूदन)] परा-प्रकृति (जीव) और अपरा-प्रकृति (विश्व प्रपञ्च) दोनों ही मैं हूँ, क्योंकि मैं सर्वात्मक और सर्वकारण हूँ। अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञ ये सभी मैं हूँ (अर्थात् सभी ब्रह्मस्वरूप है), इस प्रकार जानकर मुमुक्षु जरामरणरूप संसार से मुक्त हो जाते हैं। यही इस श्लोक और पूर्ववर्ती श्लोक का तात्पर्य है।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—[हमारे इस प्रकार के भक्तों को योगभ्रष्ट होने की भी आशंका नहीं है, यही अब कहा जा रहा है–] **साधिभूताधिदैवं साधियज्ञं च मां ये विदुः**—'अधिभूत' आदि शब्द का अर्थ स्वयं भगवान् परवर्ती अध्याय में व्याख्या करेंगे। अधिभूत के साथ, अधिदैव के साथ एवं अधियज्ञ के साथ जो लोग मुझको जानते हैं **ते युक्तचेतसः प्रयाणकालेऽपि च मां विदुः**—उनलोगों के मन मुझमें ही आसक्त (समाहित) रहने के कारण मेरे वे सब भक्त प्रयाणकाल में भी (मरणसमय में भी) मुझको ही जानते हैं अर्थात् उस समय में भी व्याकुल होकर मुझको भूल नहीं जाते हैं। इस कारण से मेरे इस प्रकार के भक्तों को योग से भ्रष्ट होने की कोई आशंका नहीं है—यही कहने का अभिप्राय है।

['कृष्णभक्तैरयत्नेन ब्रह्मज्ञानमवाप्यते। इति विज्ञानयोगाख्ये सप्तमे संप्रकाशितम्' श्रीकृष्ण के भक्तों को बिना प्रयत्न से ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो

जाता है, यह बात विज्ञानयोग नामक सप्तम अध्याय में सम्यक् प्रकार से प्रकाश (स्पष्ट) किया गया है ।]

(२) शंकरानन्द—सर्वत्र ब्रह्ममात्रत्व दर्शन परायण वे सब उपासक-गण केवल अध्यात्म एवं कर्म का ही ब्रह्ममात्रत्व नहीं जानते हैं, परन्तु अधिभूत आदि का भी ब्रह्ममात्रत्व जानते हैं, यह अब 'साधिभूताधिदैवं' इत्यादि से कह रहे हैं । साधिभूताधिदैवं—सम्पूर्ण कार्य पदार्थ ही अधिभूत एवं अधिदैव है हिरण्यगर्भादि अधिदेव एवं अग्नि आदि अधिभूत, इन दोनों के साथ ही जो रहते हैं वे 'साधिभूताधिदैव, हैं अर्थात् वे अधिभूत एवं अधिदैव रूप में' स्थित हैं । साधियज्ञं—यज्ञादि के देवता को 'अधियज्ञ' कहा जाता है। सब देवता के रूप में जो स्थित हैं, वे 'साधियज्ञ' हैं । इस प्रकार माम्–मुझको अर्थात् सर्वात्मक परब्रह्म को ये—जो विदुः—जानते हैं अर्थात् अध्यात्म, अधिभूत, तथा अधिदैव आदि रूप में, (सर्व स्वरूप में) विद्यमान परब्रह्म मुझको जो निरन्तर नित्य समाधि-निष्ठा से 'ब्रह्म ही सब हैं, इस प्रकार की अप्रतिबद्धवृत्ति से विदुः—जानते हैं ते—वे लोग युक्तचेतसः—समाहित चित्त होकर प्रयाणकालेऽपि—प्रयाणकाल में अर्थात् उत्क्रान्ति के (मृत्यु के) समय में भी च—एवं देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि की व्याकुल अवस्था में भी विपरीत भावशून्य होकर मां विदुः—सभी की आत्मा मुझको ही जानते हैं (देखते हैं) अर्थात् मुझसे देह, इन्द्रियादि को, अपने को, वेदन क्रिया को, प्राणिसमूह को अथवा अन्य देवता को भिन्न नहीं देखते हैं, भिन्न नहीं सुनते हैं अथवा भिन्न रूप से स्मरण नहीं करते हैं, यही कहने का उद्देश्य है।

(३) नारायणी टीका—केवल मेरे निर्गुण, शुद्ध चैतन्य स्वरूप का ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान नहीं है—मेरे निर्गुण तथा सगुण स्वरूप के ज्ञान को जो पूर्ण रूप से प्राप्त हुए हैं वे ही यथार्थ ज्ञानी हैं । परमात्मा के सगुण स्वरूप को जानने के लिए—

(क) शुद्ध-चैतन्यस्वरूप अक्षर (अविनाशी) परब्रह्म ही समस्त अध्यात्म है अर्थात् भिन्न-भिन्न देह को आश्रय कर भोक्ता जीवरूप में वही विद्यमान है ।

(ख) वही भूतसमूह की उत्पत्ति एवं वृद्धि का हेतु है अतः सभी कर्मरूप में भी वही विद्यमान है ।

(ग) फिर वही अधिभूत है अर्थात् मानो विनाशशील है (प्रत्येक क्षण में परिणामी) देहादि पदार्थ रूप में विराजमान है ।

(घ) सभी देवताओं के उपर उसका अधिकार है अतः वह अधिदैव है। सभी व्यष्टि प्राणी के अनुग्रह करने वाले समष्टि लिंगात्मा हिरण्यगर्भ रूप में वही अधिदैव (आदि पुरुष) हैं।

(ङ) फिर वही सभी देह में अधियज्ञ (यज्ञाधिष्ठात्री–देवता अर्थात् अन्तर्यामी रूप से यज्ञादि कर्मों के फलदाता है)। इस प्रकार से एक ओर वह विश्वातीत हैं और फिर अन्य ओर वह विश्वानुग है (विश्वव्याप्त अर्थात् Transcedental as well as universal है)। परमात्मा के इन दोनों भावोंको जिन्होंने जान लिया है उनका चित्त समाधिअवस्था में अथवा व्यावहारिक अवस्था में अर्थात् सर्वकाल में ही परमात्मा के साथ युक्त रहता है क्योंकि सर्वत्र परमात्मा का ही वे दर्शन करते हैं। इस प्रकार दर्शन करते हुए 'सदा तद्भावभावित' होने के कारण मृत्युकाल में उनलोगों के देह या इन्द्रियादि व्याकुल रहने पर भी उनलोगों का चित्त स्वतः ही मुझमें युक्त रहता है, अर्थात् मृत्युकाल में ही मेरी स्मृति उनलोगों के मनमें जागृत रहती है। इसके कारण देहत्याग करने के पश्चात् सर्वभूतात्मा ब्रह्मस्वरूप मुझको ही पूर्णरूप से वे लोग जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं। यहाँ 'ते विदुः' पद का अर्थ है कि वे लोग ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होते हैं क्योंकि श्रुति में कहा गया है—'स यो वै परंब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मूण्डकोपनिषद् ३।२।९) अर्थात जो उस परब्रह्म को जानते हैं वे ब्रह्म ही हो जाते हैं। अतः परब्रह्म को जानना एवं परब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होना एक ही बात है।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

[इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये
ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥]

परिशिष्ट

नारायणी टीका

(७-१२ अध्यायों का तात्पर्य)

नारायणी टीका

सप्तम अध्याय का तात्पर्य

पहले ही कहा जा चुका है कि प्रथम षट्क का (छ अध्यायोंका का) उद्देश्य है 'त्वम्' पदार्थ का शोधन अर्थात् जीव अपनी अज्ञानजनित उपाधि से मुक्त होकर किस प्रकार से स्वस्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म में स्थित हो सकता है उसका उपाय एवं क्रम प्रथम छ अध्यायों में निर्दिष्ट हुआ है। ईश्वर की (सगुण ब्रह्म अथवा मायोपहित ब्रह्म की) उपासना द्वारा ही एवं ईश्वर के उद्देश्य में निष्काम कर्मानुष्ठान कर ही जीव चित्तशुद्धि लाभकर निजस्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होकर ब्राह्मीस्थिति लाभकर सकता है। उपास्य ईश्वर का स्वरूप न जानने पर उनकी उपासना सम्भव नहीं होती है। अतः ईश्वर का यथार्थ स्वरूप क्या है ? यह जानना भी आवश्यक है। अविद्याउपाधियुक्त जीव अविद्याशून्य होने पर जिस प्रकार शुद्धचैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है उसी प्रकार ईश्वर भी मायाउपाधिरहित होने पर शुद्धचैतन्य स्वरूप में ही स्थित रहता है। इसे ही 'तत्' पदार्थ का शोधन कहा जाता है। इस प्रकार से 'त्वम्' पदार्थ जीव का एवं 'तत्' पदार्थ ईश्वर का शोधन होने पर जीवसत्ता एवं ईश्वरसत्ता दोनों ही शुद्धचैतन्यमात्र ब्रह्मसत्ता के साथ एक हो जाती है। यह एकत्वानुभव ही सम्यग्ज्ञान है एवं यही मोक्ष का साक्षात् कारण है। किन्तु ईश्वर के स्वरूप का केवल परोक्षज्ञान होने से ही एकत्वानुभव नहीं होता है अर्थात् ज्ञान के साथ (परोक्षज्ञान के साथ) विज्ञान (अपरोक्षज्ञान) रहना चाहिये। अपरोक्षज्ञान लाभ करने का साधन अष्टांग योग है—यह पूर्ववर्ती अध्याय में (षष्ठ अध्याय में) विस्तृतरूप से कहा गया है। 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' (गीता ६।२५), यही उस योग की चरमावस्था है, क्योंकि चित्तवृत्ति का सम्पूर्ण रूप से निरोध होने से ही स्वतःसिद्ध शुद्धचैतन्यस्वरूप परमात्मा स्वयं प्रकाशित होता है। किन्तु इस प्रकार के योग अनेक प्रयत्न बिना सिद्ध नहीं होता है, अतः सभी लोग इसके अधिकारी नहीं होते हैं। इसलिये भगवान् कृपा कर द्वितीय षट्क में (सप्तम अध्याय से द्वादश अध्याय पर्य्यन्त) जिससे ब्रह्मज्ञान को (सर्वात्मा ब्रह्म के अपरोक्षज्ञान को) अनायास लाभ किया जा सकता है, उस भक्तियोग को विस्तार कर कह रहे हैं। पातञ्जल योगशास्त्र में भी एक ओर

जिस प्रकार स्वरूप स्थिति के लिये (मोक्ष के लिये) अष्टांग योग का अभ्यास करने के लिये कहा गया है, वहीं दूसरी ओर कहा गया है 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' अर्थात् ईश्वर में सर्वकर्म समर्पण कर उनके साथ निरन्तर युक्त रहने पर भी विज्ञान (अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान) लाभ किया जा सकता है। इस कारण से पूर्ववर्ती अध्याय के अन्तिम श्लोक में कहा गया है "योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः" अर्थात् आत्मस्वरूप ईश्वर में सर्वकर्म समर्पण कर तद्‌गत चित्त होकर (उनमें ही चित्त समाहित रखकर) श्रद्धापूर्वक जो उनको ही भजते हैं (निरन्तर स्मरण करते हैं) वे केवल योगी ही नहीं वरन् वह युक्ततम (अर्थात् योगियों में सर्वश्रेष्ठ) हैं। षष्ठाध्यांय के अन्तिम श्लोक में जो कहा गया है उसका ही तात्पर्य श्रीभगवान् मध्यम षट्‌क में (७–१२ अध्यायों में) स्पष्ट कर रहे हैं।

ज्ञान व विज्ञान (७।१-२)

भगवान् के सगुण स्वरूप का (सभी विभूति, बल, शक्ति एवं ऐश्वर्यादिगुण सम्पन्न स्वरूप का) एवं निर्गुण स्वरूप का (शुद्धचैतन्यमात्र निष्क्रिय, निर्विकार, निरवद्य, नित्यानन्द स्वरूप का) ज्ञान होने से ही समग्र ज्ञानलाभ होता है। सगुण भगवान् का ('अहं' पद का लक्ष्य सगुण ब्रह्म का) आश्रय लेकर (शरणापन्न होकर) उनमें ही आसक्तमना अर्थात् चित्त समाहित होने पर जब चित्तवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध होता है तब निःसंशय निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्रकाशित होता है। सगुण ब्रह्म की उपासना द्वारा निर्गुण ब्रह्म के (शुद्ध-आत्मा के) साक्षात्कार से समग्रज्ञान लाभ हो सकता है यही अब अर्जुन को सावधान होकर सुनने के लिये कह रहे हैं (७।१) अर्थात भगवान् के स्वरूप के सम्बन्ध में शास्त्रीय ज्ञान (परोक्षज्ञान) एवं उस ज्ञान से युक्त होकर किस प्रकार की साधना द्वारा विज्ञान ('सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' का स्वानुभवयुक्त ज्ञान या अपरोक्षज्ञान) लाभ किया जा सकता है वह अशेषतः (निःशेष) कह रहे हैं, क्योंकि यह ज्ञान और विज्ञान लाभ करने के पश्चात् और किसी का जानना अवशिष्ट नहीं रहता है (७।२) अर्थात् इस प्रकार ज्ञान एवं विज्ञान से ही जीव परमपुरुषार्थ (मोक्ष) लाभकर कृतार्थ हो जाते हैं।

भगवत्तत्त्वज्ञान दुर्लभ (७।३)

भगवान् की असीम कृपा के बिना वह विज्ञान सहित ज्ञान लाभ नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सहस्र-सहस्र मनुष्यों में कोई एक पुण्यवान् व्यक्ति ही संसाररूप अनल में दग्ध होकर, मुमुक्षु होकर सिद्धिलाभ करने के लिये अर्थात्

निष्कामकर्म द्वारा चित्तशुद्धि लाभकर ज्ञानलाभ करने के लिये प्रयत्न (साधन) करते हैं। फिर जो लोग सिद्ध हैं अर्थात् तत्त्वज्ञान लाभ करने के लिये प्रयत्नशील हैं (चेष्टा कर रहे हैं) इस प्रकार सहस्र-सहस्र साधकों में कोई एक विरल पुरुष ही श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के परिपाक द्वारा मुझको (परमात्मा को) तत्त्वतः जानते हैं अर्थात् मैं (परमेश्वर) ही उनकी आत्मा हूँ इस प्रकार अभिन्न रूप से जानने में समर्थ होते हैं। अतः आत्मतत्त्व अतिदुर्लभ है। यह सुदुर्लभ आत्मतत्त्व ही शरणागत शिष्य अर्जुन के प्रति कृपाकर भगवान् अब कह रहे हैं (७।३)।

सगुणभगवान के स्वरूप को जानने का उपाय (७।४-५)

भगवान् की प्रकृति पूर्व ही वर्णित हुई है। लोकदृष्टि में भगवान् का सगुणभाव ही प्रत्यक्ष है—निर्गुणभाव मन और वाणी का अगोचर (अविषय) है। सगुणभाव को अवलम्बन कर उपासना करने पर जब मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों की क्रियाएँ निरुद्ध होती हैं, तब वह स्वयंप्रकाश परमात्मा सर्वावरण एवं विक्षेपरहित होकर स्वतः ही प्रकाशित होते हैं। तात्त्विकदृष्टि में गुणातीत स्वरूप ही भगवान् का (आत्मा का) यथार्थ स्वरूप है, किन्तु जब तक मन का नाश न हो तब तक कोई न कोई नामरूप अथवा क्रियायुक्त वस्तु का आश्रय न लेकर मन स्थिर नहीं रह सकता है। वह नाम, रूप और क्रिया द्वारा ही जगत् प्रकाशित हो रहा है एवं जगत्चक्र चल रहा है। वे सभी प्रकृति या माया के कार्य हैं। माया कोई वस्तु नहीं है। जिसकी केवल प्रतीति होती है (अर्थात् मध्यावस्था में देखे जाते हैं) किन्तु जो आदि में या अन्त में रहते नहीं है वही माया है। अतः माया के सभी कार्य कल्पित एवं मिथ्या है। जिस प्रकार एक कण्टक द्वारा दूसरे एक कण्टक को उठाकर (निकालकर) दोनों को ही फेंक देना पड़ता है, उसी प्रकार भगवान का कल्पित (मायिक) सगुणभाव को आश्रय कर मायिकजगत् को अतिक्रमण कर जगत् का अधिष्ठान एवं सर्वभूतों की आत्मा का (निर्गुण शुद्धचैतन्य स्वरूप का) साक्षात्कार किया जाता है। प्रकृतियुक्त (मायायुक्त) भगवान् ही ईश्वर हैं। वही सृष्टि, स्थिति, संहार करते हैं। तत्त्वज्ञान होने पर जगत् या जीव की कोई पृथक् सत्ता अनुभूत नहीं होती है। अतः उनलोगों की ईशिता जो ईश्वर हैं उनका भी अस्तित्व लुप्त हो जाता है। अवशिष्ट रहती है एक सर्वव्यापी परिपूर्ण शुद्धचैतन्यसत्ता—वही ब्रह्म, वही भगवान्, वही सर्वभूत का यथार्थ 'मैं' (आत्मा) है। फिर सगुण ईश्वर के परिचय विना उनकी उपासना नहीं हो सकती है। इस कारण ईश्वर की प्रकृति का (माया का) स्वरूप जानना

आवश्यक होता है। प्रकृति दो भागों में विभक्त है-(१) अपरा एवं (२) परा। ये दो प्रकार की प्रकृतियाँ किस प्रकार की हैं ? उसका भगवान् वर्णन कर रहे हैं—(१) अष्ट अपरा प्रकृति—यद्यपि सांख्यमत में जागतिक सभी सृष्ट पदार्थ के चौबीस तत्त्व हैं तथापि मूलप्रकृति आठ है यथा अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार, शब्दादि पञ्चतन्मात्रा। इन में पूर्ववर्ती परवर्ती का कारण है। यथा (क) अव्यक्त--यही मूलकारण है। अहंकार ही सभी वासना के साथ इस जगत् के सर्वकार्य के प्रवर्तक होने के कारण भगवान् यहाँ अहंकार शब्द द्वारा अव्यक्त को निर्देश कर रहे हैं।

(ख) महान् (महत्तत्त्व अर्थात् समष्टिबुद्धि)—अहंकार का कारण समष्टिबुद्धि को श्लोक में बुद्धि शब्द द्वारा सूचित किया गया है। (ग) अहंकार—मन का कारण अहंकार है। इसलिये 'मनः' शब्द द्वारा यहाँ अहंकार को समझाया जा रहा है। (घ) भूमिः—गन्धतन्मात्र। (ङ) आपः-रसतन्मात्र (च) अनलः—रूपतन्मात्र (छ) वायुः—स्पर्शतन्मात्र (ज) खं—शब्दतन्मात्र। यहां भूमि इत्यादि पञ्चमहाभूत द्वारा पञ्चतन्मात्र को समझाया जा रहा है, क्योंकि पञ्चमहाभूत विकृति के (कार्य के) अन्तर्गत हैं [ये प्रकृति नहीं हैं, क्योंकि ये सभी किसी के भी कारण नहीं होते अतः सांख्यमत में प्रकृति (अव्यक्त) १, प्रकृतिविकृति [महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्र (५)] ७, विकृति [मन, १० इन्द्रियां एवं ५ महाभूत] १६, इस प्रकार २४ तत्त्व निर्णीत हुए हैं। सांख्यमत में सत्त्व, रज एवं तम गुणों की साम्यावस्था को अव्यक्त कहा जाता है। अतः यही प्रकृति है। इस प्रकृति से महत्तत्त्व की (समष्टिबुद्धि की) उत्पत्ति होती है, महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से मन, इन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्र की उत्पत्ति होती है एवं पञ्चतन्मात्र से पञ्चमहाभूत (आकाश, वायु, तेज, जल व पृथ्वी) सृष्ट होते हैं। जो किसीका कार्य होकर भी दूसरे का कारण होता है उन को प्रकृति-विकृति कहा जाता है। और जो अन्तिम कार्य है [अर्थात् जो केवल कार्यमात्र ही हैं परन्तु किसी का कारण नहीं होते हैं] उनको विकृति कहा जाता है]। गीता में भगवान् ने उक्त अव्यक्त (प्रकृति को) एवं ७ प्रकृति विकृति को अष्ट अपरा प्रकृति अर्थात् निकृष्टा प्रकृति कहा कारण ये सभी अशुद्धा, अनर्थकारी संसाररूपा, बन्धनात्मिका एवं जड़धर्मा है (७।४)।

(२) पराप्रकृति—पराप्रकृति अपरा (निकृष्टा जड़) प्रकृति से (जिसे १३ वें अध्याय में क्षेत्र कहा गया है उससे) विलक्षण है। भगवान् की पराप्रकृति से [जीवरूपा अर्थात् प्राण-धारण की निमित्तभूता चेतनात्मिका प्रकृष्ट

(अर्थात् जड़त्व न रहने के कारण उत्कृष्ट) प्रकृति (जिसे १३ वें अध्याय में क्षेत्रज्ञ कहा गया है उस प्रकृति से] स्थावर-जंगमात्मक सम्पूर्ण जगत् विधृत हो रहा है (७।५)। [पहले ही कहा जा चुका है कि शुद्धचैतन्य को आश्रयकर जो एक अनिर्वचनीया कल्पनाशक्ति है उसे ही माया या प्रकृति कही जाती है। जिस प्रकार स्वप्नजगत् (स्वप्नदृश्यसमूह) स्वप्नद्रष्टा की कल्पना के द्वारा विधृत होकर रहता है अर्थात् स्वप्नदृश्य की (भोक्ता, भोग्य और भोग की) सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय स्वप्नद्रष्टा के कल्पनानुसार ही होते हैं, उसी प्रकार स्थूल-जगत् एवं जीवभाव शुद्ध चैतन्याश्रितकल्पना द्वारा ही प्रकाशित होते हैं। कल्पनारहित होने से जीव, जगत् एवं ईश्वर इन तीनों का ही लोप हो जाता है। इसलिये कहा गया है कि जीव चैतन्य द्वारा ही यह जगत् धृत है (७।५)। मायाशवलित ब्रह्म या ईश्वर को समष्टिजीव एवं मनोमय (मानसिक कल्पनायुक्त) चैतन्य को व्यष्टि जीव कहा जाता है। मनः कल्पित जीवत्व, ईश्वरत्व एवं जगतभाव से मुक्त होने पर ही क्षेत्रज्ञ जीव ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होते हैं।]

भगवान् कैसे जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयकर्ता होते हैं (७।६)

उक्त परा एवं अपरा (क्षेत्रज्ञ एवं क्षेत्रलक्षणा) प्रकृति से ही समुदाय-भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं। अतः ये दो प्रकृतियाँ सभी सृष्टपदार्थ की योनि अर्थात् उपादान कारण है। इन में अपरा (जड़ा) प्रकृति देहरूप से परिणाम प्राप्त होती है और चेतना (जीवरूपा) प्रकृति चैतन्यस्वरूप भगवान् का अंशभूत होने के कारण भोक्तारूप से देह में प्रवेश कर अपने कर्म द्वारा देहादि को धारण करती है। ये दोनों प्रकृतियाँ परमात्मा से ही सम्भूत (उत्पन्न) होती हैं। इसलिये भगवान् कह रहे हैं कि चूँकि वे सभी भूतों की योनि है अर्थात् कारण हैं, अतः उन प्रकृतिद्वय से युक्त होकर सम्पूर्ण जगत् का मैं ही (अर्थात् सर्वभूतात्मा परमेश्वर ही)प्रभव का (उत्पत्ति का) एवं प्रलय का (लय का) कारण होता हूँ अर्थात् मुझको अधिष्ठान कर मेरी ही परा एवं अपरा प्रकृति सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय कार्य सम्पादन करती है (७।६)। [आगे भी कहा जायगा 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् इत्यादि' (गीता ९।१०)। इसलिये यद्यपि सारा जगत् मेरी माया या प्रकृति द्वारा सृष्ट होता है, तथापि जगत् का प्रातिभासिकसत्यत्व स्वीकार कर वेद-पुराण मुझको सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वशक्ति सम्पन्न, सत्यकाम, सत्यसंकल्प, इत्यादि अनन्तगुणों से युक्त कर वर्णन करते हैं]।

समस्त जगत् भगवान् में ही ग्रथित है (७।७-११)

मुझसे (परमेश्वर से) परतर श्रेष्ठ परमार्थ सत्य अन्य कुछ भी नहीं है। चूँकि मैं ही जगत् का कारण हूँ, इसलिये सूत्र द्वारा जिस प्रकार मणिमाला ग्रथित रहती है, उसी प्रकार चित् (जीव) एवं अचित् (जड़ जगत्) सभी मुझमें ग्रथित (अनुगत या अनुविद्ध) हैं अर्थात् ये सब मायामय (स्वप्न दृश्य सदृश) जीव, जगत् एवं ईश्वर मेरी सत्ता से ही सत्तावान् एवं मेरे स्फुरण से ही (प्रकाश से ही) प्रकाशित होकर मायिक व्यवहार में प्रयुक्त हो रहे हैं। सूत्र के द्वारा ग्रथित (अनुविद्ध) होकर जिस प्रकार मणिसकल सूत्र द्वारा ही धृत रहते हैं एवं सूत्र के साथ संयोग का अभाव होने पर जिस प्रकार इतस्ततः विकीर्ण हो जाते हैं, उसी प्रकार सभी के आत्मभूत मुझसे सभी वस्तु व्याप्त हैं एवं मुझसे विच्युत होने पर वे सभी विनष्ट हो जाती हैं, यही कहने का अभिप्राय है (७।७)।

प्रश्न होगा—साधारणतः देखा जाता है कि कार्य कारण में प्रोत (अनुस्यूत) रहता है अर्थात् कारण कार्य में व्याप्त रहता है। तब किस प्रकार धर्मविशिष्ट तुममें यह समस्त जगत् प्रोत रहता है ? अर्थात् कौन-कौन से विशिष्टरूप से तुम समस्त जगत् को व्याप्त कर रहते हो ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—जल का सार है रस (मधुररस)। उस मधुर रस से जल में मैं व्याप्त होकर रहा हूँ। उसी प्रकार चन्द्र और सूर्य का सार है प्रभा (प्रकाश)। उस प्रकाशरूप से मैं चन्द्रसूर्य में व्याप्त हूँ। सर्व वेद का सार है प्रणव; उस प्रणवरूप से सर्ववेद में मैं व्याप्त हूँ। आकाश का सारभूत शब्द रूपसे (शब्द तन्मात्रारूप से) मैं आकाश में व्याप्त हूँ। इस प्रकार से सर्व पुरुष का सार जो पौरुष है (शौर्य, धैर्य्य आदि है), उस पौरुष रूप से मैं सभी पुरुष में व्याप्त हूँ अर्थात् उद्यमस्वरूप मुझमें सब पुरुष प्रोत (ग्रथित) हैं (७।८)। पृथ्वी का सार है गन्धतन्मात्र [अर्थात् पुण्य अविकृत सुरभि-गन्ध विकार प्राप्त न होने से गन्ध सर्वत्र ही पवित्र है।] वह पुण्यगन्ध-रूप से मैं पृथ्वी को व्याप्त कर रहता हूँ। [इस प्रकार से पुण्य (अर्थात् अविकृत) शब्द, पुण्यस्पर्श, पुण्यरूप एवं पुण्यरसरूप से भी मैं ही विराजमान हूँ, किन्तु स्थूलावस्था में इस पुण्यगन्धादि पञ्चतन्मात्र इतना विकृत रूप से प्रकाश पाता है कि मैं उस पुण्यगन्धादिरूप में रहने पर भी विकार द्वारा आवृत रहने के कारण तत्-तत् रूप से मेरा प्रकाश नहीं होता है।] इस प्रकार अग्नि में मैं पुण्यतेज (दीप्ति) रूपसे, सर्वप्राणी में जीवनरूप से (आयुरूपसे), तपस्विगण में (तपोयुक्त वानप्रस्थादि में) में तपोरूप से (अर्थात् द्वन्द्वसहन-

रूप से अथवा चित्त की एकाग्रता एवं जिह्वा उपस्थादि इन्द्रियों के निग्रह-रूप से) विद्यमान हूँ (गीता ७।९)। मैं स्थावरजंगम सभी भूतों का सनातन (नित्य) बीज हूँ अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा बीज अङ्कुर में परिणत होकर वृद्धि प्रभृति कार्य की सामर्थ्य लाभ करता है वह बीज मैं ही हूँ। सर्वबीज-स्वरूप मेरी कल्पना से ही विशेष-विशेष बीज उत्पन्न होते हैं एवं उससे विशेष-विशेष पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अतः स्थूल बीजसमूह अनित्य विकारी एवं सीमित शक्तियुक्त हैं, किन्तु वे सब नित्य सत्य मेरी ही (परमात्मा का ही) कल्पनाशक्ति (माया) द्वारा स्फुरित होने के कारण वे मुझमें ही प्रोत (ग्रथित) रहते हैं। शक्ति एवं शक्तिमान सर्वदा ही अभिन्न हैं। अतः मैं ही समस्त भूतों का सनातन (नित्य) बीज हूँ।] फिर बुद्धिमानों में (विवेकज्ञानयुक्तों में) मैं ही बुद्धि हूँ अर्थात् जिस बुद्धि बल के द्वारा विवेकी पुरुष के हृदय में चैतन्यस्वरूप आत्मा का प्रकाश होता है वह बुद्धि मैं ही हूँ अर्थात् सर्वबुद्धिस्वरूप मुझमें भिन्न-भिन्न विवेकी पुरुष की बुद्धि ग्रथित है। फिर तेजस्विगण का तेजः भी मैं ही हूँ अर्थात् जिस तेज द्वारा तेजस्वीपुरुषगण शत्रु को अविभव (पराजय) करने में समर्थ होते हैं एवं अन्य से दुर्धर्ष (अपराजेय) रहते हैं वह तेज मैं ही हूँ (७।१०)। ऐसा ही सांसारिक विषय में वैराग्यशील सात्विकबलयुक्त व्यक्तिगणों में जो काम (विषय तृष्णा) एवं राग (प्राप्त विषय में आसक्ति) से वर्जित सात्त्विक बल (स्वधर्मानुष्ठान करने की सामर्थ्य) देखा जाता है वह मैं ही हूँ। फिर भूतवर्गों में जो सब धर्माविरुद्ध (शास्त्र द्वारा अनुमत) काम (अतिथि सेवा, ऋतुकाल में स्त्री गमन, पुत्र को साधु एवं धार्मिक बनाना इत्यादि के लिये वासना) देखी जाती है वह मैं ही हूँ (७।११)। [यद्यपि परवर्ती श्लोक में कहा जायगा कि सात्त्विक, राजसिक, तामसिक सभी भाव ही भगवान् से उत्पन्न होते हैं, तथापि जो सब भाव भगवत्प्राप्ति के साक्षात् सहायक हैं वे भगवत्स्वरूप के निकटतम होने के कारण उनको भगवान् से अभिन्न कहा गया है]।

भगवान् से सब कुछ उत्पन्न होने पर भी एवं भगवान् ही सर्वरूप से प्रतीत होने पर भी भगवान् किसी में भी नहीं है (७।१२)।

सत्त्वप्रधान जो सब भाव (धर्म, ज्ञान ऐश्वर्य, वैराग्य, शमदमादि) हैं, रजोगुणप्रधान जो सब भाव (लोभ, प्रवृत्ति, हर्ष, दर्पादि) हैं एवं तमोगुण प्रधान जो सबभाव (निद्रा, आलस्य, शोक, मोहादि) हैं—ये सभी मुझसे

उत्पन्न हुए हैं ऐसा जानना। [सर्वजगत् की आत्मा क्या तब विकारी है ? यदि विकारी है तो आत्मा को कूटस्थ किस प्रकार से कहा जाता है ? इस प्रकार यदि आशंका हो तो उसके उत्तर में कहते हैं—] यद्यपि सत्वरजस्तमो-भावादि मुझसे ही उत्पन्न होते हैं एवं मुझमें ही वे सभी स्थित जैसा प्रतीत होते हैं किन्तु मैं उन सबों में नहीं हूँ। मेरी प्रकृति कल्पनाशक्ति से ही सात्त्विक, राजसिक, तामसिक भावसमूह प्राणियों के कर्मवश उत्पन्न होते हैं। उन सबकी पारमार्थिक कोई सत्ता नहीं है, क्योंकि वे (काल्पनिक होने के कारण सभी मिथ्या हैं। अतः मुझसे उनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। वे मुझको ही अधिष्ठान कर मुझमें ही प्रतीत होते हैं, किन्तु मैं (नित्य सत्य अखण्डाद्वय परमात्मा) उनके द्वारा कभी भी लिप्त अथवा विकारी नहीं होता हूँ। जिस प्रकार श्वेतवस्त्र के उपर (White Screen के उपर) चलचित्रका (Cinema का) खेल (प्रदर्शन) होते रहने पर वह श्वेतवस्त्र कभी चलचित्र के कोई भी दृश्य में नहीं रहता है अर्थात् वह सदा ही उन सब दृश्यों से विलक्षण (पृथक्) रहता है किन्तु चलचित्र के सभी दृश्य ही श्वेतवस्त्र के बिना प्रतीत हो नहीं सकता है अर्थात् चलचित्र दृश्यसमूह श्वेतवस्त्र में रहते हैं किन्तु श्वेतवस्त्र उन सब दृश्यों में नहीं है उस प्रकार कल्पित वस्तु की सत्ता अधिष्ठानसत्ता से पृथक् नहीं होती है किन्तु अधिष्ठान कभी भी कल्पित वस्तु के वश में नहीं रहता है (अधीन नहीं रहता है)। अतः सभी भावों का (नानाविध सृष्टि-विकार का) अधिष्ठान होकर भी मेरे अविकारी स्वरूप से कभी भी मैं विच्युत नहीं होता हूँ जिस प्रकार रज्जु में सर्प का अध्यास होने पर भी रज्जु कभी भी सर्पत्वविकार दोष से दूषित नहीं होती है अथवा रज्जु के स्वरूप की कोई हानि नहीं होती है। यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है। (७।१२)

सभी जगत् माया द्वारा मोहित रहने के कारण भगवान् को जान नहीं सकता (७।१३)।

मेरी त्रिगुणात्मिका प्रकृति द्वारा ही (माया द्वारा ही) जगत् का सब कुछ सृष्ट हुआ है, अतः इस त्रिगुणविशिष्ट भाव (पदार्थ) समूह द्वारा इस चराचर जगत् (प्राणीसमूह) मोहित (विवेकहीनता प्राप्त) रहता है। इस कारण से इन सब सात्विक, राजसिक और तामसिक भावों से विलक्षण (पृथक्) किन्तु इनके नियन्ता अव्यय (सदा एकरूप विनाशरहित) मुझको (अखण्डाद्वय सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप मुझको) वे लोग जान नहीं सकते हैं

(जिस प्रकार रज्जु में सर्पभ्रम जब होता है तब वह भ्रान्त व्यक्ति व्याकुलता के कारण सर्प से विलक्षण एवं सर्पभ्रम के अधिष्ठान रज्जु को नहीं जान सकते हैं) उस प्रकार मेरा स्वरूपज्ञान प्राप्त न होने के कारण अविवेकी लोग संसारचक्र में भ्रमण करते रहते हैं (गीता ७।१३)।

गुणमयी माया को पार करने का मुख्य उपाय है भगवान् की शरणागति (७।१४)

त्रिगुणात्मिका माया ही सबके विमोहन का कारण है, किन्तु यह मेरी ही दैवी माया है (७।१४)। ["दिव्यते क्रियते यस्माद्गुच्यते शोभते दिवि। तस्माद्देव इति प्रोक्तं स्तूयते सर्वदेवतैः" (योगी याज्ञवल्क्य)। श्रीभगवान् ने क्रीडा के लिये माया प्रस्तुत किया इसलिये माया को दैवी कहा जाता है]। सर्वव्यापी देव की (स्वयंप्रकाश परमेश्वर की) स्वभावभूता यह माया अथवा देवकी (लीला द्वारा क्रीडाशील अर्थात् नटराज मेरी) अलौकिक अत्यद्भुत माया को जीव के लिये अपनी शक्ति द्वारा अतिक्रमण करना अत्यन्त कठिन है। जो लोग मेरे प्रपन्न होते हैं अर्थात् मैं ही मायावी (माया का अधिष्ठान) हूँ, ऐसा जानकर जो लोग सभी के ही आत्मस्वरूप मेरे सर्व प्रकार से शरणापन्न होते हैं वे लोग ही मेरी कृपा से चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त होकर इस सर्वभूतविमोहिनी दूरतिक्रमणीय (दुस्तर) तथा सब प्रकार के अनर्थ को करनेवाली इस माया को अनायास ही अतिक्रम करते हैं अर्थात् माया के (अधिष्ठान) आनन्दैकरस मुझको प्राप्त होकर संसार बन्धन से मुक्त होने में समर्थ होते हैं (७।१४)।

तब सभी तुम्हारी शरण क्यों नहीं लेते हैं ? (७।१५)

जो लोग दुष्कृतिशील हैं अतः चित्तशुद्धि के कारण आत्मानात्मविवेकहीन होकर मूढ़ रहते हैं एवं उसके कारण जो लोग मनुष्यों में अधम (निकृष्ट) माने जाते हैं उनलोगों का ज्ञान माया द्वारा अपहृत होने के कारण [माया द्वारा अर्थात् शरीर एवं इन्द्रियादि में तादात्म्याभिमान द्वारा अर्थात् शरीर इन्द्रियादि ही 'मैं' हूँ इस प्रकार अभिमान द्वारा) उन लागों का ज्ञान अर्थात् आत्मानात्मविवेकज्ञान अपहृत (नष्ट) होने के कारण] दम्भ, दर्प, अभिमान इत्यादि आसुरभावों के वशीभूत होकर सर्वेश्वर मुझको आश्रय नहीं करते हैं अर्थात् मेरा भजन नहीं करते हैं (७।१५)।

भगवद्भक्त चार प्रकार के हैं—उनमें ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है (७।१६-१८)

जिन लोगों ने पूर्व-पूर्व जन्मों में अनेक सुकृति (पुण्यकर्म) किया है, वेही भगवान का शरणापन्न होकर भगवान् को भजते हैं। यह सब सुकृतिशाली पुरुषगण चार प्रकार के होते हैं।

(१) आर्त—आर्ती अर्थात् शत्रु, व्याधि, तस्कर व्याघ्र प्रभृति द्वारा आपद्ग्रस्त होकर उन की निवृत्ति के लिए जो लोग भगवान् का आश्रय लेते हैं; (२) जिज्ञासु—भगवान् का तत्त्व जानने के लिये जो लोग इच्छा करते हैं अर्थात् जो लाग मुमुक्षु होकर भगवान् को भजते हैं; (३) अर्थार्थी–इहलोक में अथवा परलोक में भोगसुख की प्राप्ति के लिए जो लोग भगवान् को भजते हैं; (४) ज्ञानी—सर्वव्यापी परमात्मा का स्वरूप जान कर अर्थात् आत्मतत्त्व साक्षात्कारकर जो लोग भगवान् के साथ नित्ययुक्त रहते हैं उनको ज्ञानी भक्त कहते हैं। आर्त, अर्थार्थी भक्त प्रारम्भ में सकाम होने पर भी भगवत्कृपा से चित्तशुद्धिलाभकर, पश्चात् जिज्ञासु होकर श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा तत्त्वज्ञान लाभकरके ज्ञानी भक्त होते हैं (७।१६)।

इन चार प्रकार के भक्त सफलजन्मा होने पर भी इन में ज्ञानी अर्थात् जिसने सर्वकामना से निवृत्त होकर तत्त्वज्ञान लाभ किया है, वे अन्य तीन प्रकार के भक्तों की अपेक्षा अधिक (श्रेष्ठ) हैं, क्योंकि उनके कोई कामनाजनित विक्षेप न रहने के कारण वे नित्ययुक्त रहते हैं अर्थात् उनका चित्त मुझमें (प्रत्यगभिन्न भगवान् में) सर्वदा ही समाहित रहता है। चूँकि वे नित्ययुक्त हैं, इस कारण वे एकभक्ति रहते हैं अर्थात् एकमात्र मुझमें उनकी भक्ति (अनुरक्ति) रहती है, अन्य विषयों में अनुरक्ति नहीं रहती है। जिस प्रकार आर्ती रोगमुक्ति के लिये मेरा ही जो विशेष प्रकाश सूर्य उसको भजते हैं अथवा जिज्ञासु होकर ब्रह्म विद्यालाभ करने के लिये सरस्वती को भजते हैं अथवा अर्थार्थी होकर कुबेर इत्यादि को भजते हैं किन्तु ज्ञानी उस प्रकार नहीं करते—ज्ञानी मेरे पूर्ण अखण्डाद्वितीय आनन्दैकरस स्वरूप को अपनी ही आत्मा जानकर भजते हैं (निरन्तर चिन्तन करते हैं)। आत्मा सबको प्रिय है। इस कारण से ज्ञानी का मैं ही (अर्थात् सर्वोपाधिवर्जित शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा ही) अतीव प्रिय हूँ फिर ज्ञानी भी मेरी आत्मा होने के कारण (मुझसे अभिन्न होने के कारण) मेरे अत्यन्त प्रिय हैं (७।१७)। आर्त, जिज्ञासु एवं अर्थार्थी सकाम होने पर भी मेरा ही भजन करते हैं अतः वे सब मुझसे विमुख (अभक्त)

दुष्कृतिशाली लोगों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। अतः वे तीन प्रकार के भक्त भी मेरे प्रिय हैं किन्तु वे लोग मुझको आत्मबुद्धि से नहीं भजते हैं—भेदबुद्धि से ही उपासना करते हैं। किन्तु ज्ञानी मुझको आत्मबुद्धि से भजन करने के कारण मेरी आत्मा ही हैं, यही भगवान् का सिद्धान्त है। इस प्रकार ज्ञानी युक्तात्मा होकर (चित्त को मुझमें अर्थात् भगवान् में समाहित रखकर) जीवन का अनुत्तम (सर्वोत्कृष्ट) गति (परमफल) जो अनन्त आनन्दघन आत्मा है उसमें आरूढ़ रहने के लिये (मेरे साथ अभिन्न रहने के लिये) आस्थित (प्रवृत्त) होते हैं अर्थात् मुझको ही सर्वोत्कृष्ट आश्रय निश्चय कर अनन्य भाव से मेरे ही शरणापन्न होते हैं (७।१८)।

ज्ञानीभक्त अतिदुर्लभ हैं (७।१९)।

अनेक जन्मों के अन्त में अर्थात् पूर्व-पूर्व जन्मों में किञ्चित्-किञ्चित् पुण्यसंचय एवं ज्ञान की संस्कारवृद्धि होने पर अन्त में 'वासुदेव ही सब कुछ हैं' इस प्रकार निश्चित ज्ञानलाभकर (अर्थात् सर्वत्र वासुदेव का दर्शन करते हुए) प्रत्यगात्मा वासुदेवपरूप मुझको ही सर्वदा समस्त प्रेम के विषय रूप से भजन करते हैं (निरन्तर स्मरण करते हैं)। जो ज्ञानीभक्त 'सभी दृश्य प्रपञ्च वासुदेव ही हैं' इस प्रकार दर्शन करते हैं उनको ही महात्मा (सर्वभूतों में आत्मदर्शी जीवनमुक्त पुरुष) कहा जाता है। इस प्रकार के महात्मा सुदुर्लभ हैं अर्थात् सहस्र-सहस्र मनुष्यों में ढूँढ़ कर भी नहीं मिलते। अतः इस प्रकार ज्ञानीभक्त मेरे अत्यन्त प्रिय होंगे इसमें और आश्चर्यान्वित होने की क्या बात है ? (७।१६) ['वासनाद् द्योतनाच्चैव वासुदेवं ततः विदुः' (मोक्षधर्म) अर्थात् सर्वभूत में वास करते हैं एवं सब कुछ प्रकाश करते हैं इसलिये भगवान् को वासुदेव कहा जाता है अथवा 'भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत्। धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः' (विष्णुपुराण) अर्थात् सर्वभूतों के अन्तर में वास करते हैं एवं वे जगत् का धाता विधाता भी हैं, इस कारण भगवान को वासुदेव कहा जाता है।]

भगवद्भक्त एवं अन्य देवता के भक्तों में विशेष फलभेद है (७।२०-२३)।

पुत्र, पशु स्वर्गादि रूप क्षुद्र-क्षुद्र काम (अभिलाष) द्वारा जिन लोगों का विवेक अपहृत हुआ है वे लोग अपनी-अपनी प्रकृति द्वारा (पूर्वाभ्यास से जिस प्रकार वासना का संस्कार उत्पन्न हुआ है उसके द्वारा) नियन्त्रित (वशीभूत) होकर अन्यान्य क्षुद्र देवता की आराधना के लिये जिस प्रकार पूजा, जप, उपवास, होम, प्रदक्षिणा, नमस्कारादिनियम प्रसिद्ध है उस

नियमों को आश्रय कर (स्वीकार कर) अन्यान्य देवता को [अर्थात् आदित्य को रोग विनाश के लिये, गणेश देवता का सिद्धिलाभ करने के लिये, लक्ष्मी को ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये—इस प्रकार विभिन्न कामना की सिद्धि के लिये भिन्न-भिन्न देवता का] भजन करते हैं किन्तु वे लोग अखण्डाद्वय सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप मेरा (वासुदेव का) भजन नहीं करते हैं (७।२०) ।

[मैं ही सर्वमूर्ति में विराजमान हूँ एवं मैं ही सबकी श्रद्धा और कर्मफल विधान करता हूँ । देवता अपने उपासकों की जो जो कामना पूर्ण करते हैं वे भी मेरे ही विधान के अनुसार किया करते हैं ।] अतः अन्य देवता का (सकाम) उपासक मेरे द्वारा विहित दृढ़ श्रद्धा द्वारा युक्त होकर अपनी-अपनी उपास्यमूर्ति की आराधना (पूजा) करने की चेष्टा करते हैं एवं आराधित देवता से मेरे ही द्वारा (अर्थात् सर्वज्ञ एवं सर्वकर्म के फलदाता परमेश्वर द्वारा) विहित (निर्मित) ईप्सित वस्तु समूह लाभ करते हैं । [उस-उस देवता की आराधना रूप कर्म परिपक्व होने पर मैं ही उस-उस देवतामूर्ति द्वारा कर्मफल (अर्थात् उपासक जिस प्रकार फल का अभिलाष करता है वह) प्रदान करता हूँ ।] [देवताएँ मेरी ही (आत्मा की ही) विभूतियाँ हैं । अतः वे मेरी ही शक्ति से शक्तिमान होकर भक्तों की मनोवासना पूर्ण करने में समर्थ होते हैं—यही कहने का अभिप्राय है ।] किन्तु इस प्रकार अल्पबुद्धि (परिच्छिन्न दृष्टि सम्पन्न) व्यक्तिगण मुझसे भिन्न देवता की आराधना द्वारा जो फल लाभ करते हैं वह विनाशी (नश्वर) होते हैं अर्थात् उस फल का भोग मात्र कुछ काल के लिये ही स्थायी रहता है । [और जो लोग मेरे (अर्थात् सत्य, ज्ञान अनन्तस्वरूप वासुदेव के) भक्त होते हैं वे लोग अनन्त फल प्राप्त होते हैं—यही वैशिष्ट्य है क्योंकि ।] जो लोग मुझ से अतिरिक्त अन्य देवता का भजन करते हैं वे लोग तत्-तत् देवता का सायुज्य अथवा देवलोक शिवलोक, विष्णुलोक इत्यादि को प्राप्त होते हैं, किन्तु उन सब लोक का महाप्रलय में विनाश होने के कारण वे सभी अन्तवान् (विनाशी) हैं । और जो लोग मेरे भक्त हैं वे लोग मुझको ही (नित्य, अविकारी, अनन्त, आनन्दघन परमेश्वर को ही) प्राप्त होते हैं । इसलिये आराधना कार्य में परिश्रम समान होने पर भी मेरे भक्त एवं अन्य देवता के भक्तों में महदन्तर (अनेक पार्थक्य हैं) (७।२१-२३)

अन्य देवताओं को छोडकर केवल सर्वेश्वर भगवान् तुम्हारा ही क्यों नहीं भजन करते हैं ? (७।२४)

जो बुद्धिहीन लोग (अर्थात् नित्यानित्य वस्तु का विवेक करने में असमर्थ

हैं, अतः मेरे यथार्थस्वरूप का ज्ञान जिन लोगों को नहीं है वे सब प्राकृत लोग) सर्वेश्वर मेरे अव्यय (सदैकरूप अविनाशी) अनुत्तम (सर्वोत्कृष्ट, अनतिशय, अद्वितीय, परमानन्दघन, अनन्त) परम भाव को अर्थात् परमात्म-स्वरूप को न जानकर अव्यक्त में (स्थूल मूर्ति ग्रहण करने के पहले अप्रकाशित अर्थात् प्रपञ्चातीत सर्वोपाधिशून्य नित्य प्रसिद्ध परमेश्वर में) व्यक्तित्वप्राप्त हुआ हूँ, अर्थात् साधारण मनुष्य के समान लीलाविग्रह धारण करने के समय में राम, कृष्ण इत्यादि शरीरों का अभिमानी हुआ हूँ, इस प्रकार समझते हैं। [माया द्वारा पृथक्-पृथक् मूर्त्ति ग्रहण करने पर भी उन में भी मैं सदा ही अखण्डाद्वितीय पूर्ण ब्रह्मसत्ता में ही विद्यमान हूँ इस प्रकार जो लोग जानते हैं वे ही मेरे अव्यक्त परम भाव को सदा एवं सर्वत्र देख सकते हैं। अतः वे लोग बुद्धिमान (ज्ञानी) हैं और जो लोग मैं विशेष-विशेष शरीर में अभिमान कर अवतारमूर्ति में अथवा साधारण स्थूलमूर्ति में व्यक्त (प्रकाशित) हुआ हूँ' इस प्रकार जानते हैं वे लोग अल्पबुद्धि अर्थात् बुद्धिहीन (अज्ञानी) हैं, यही कहने का अभिप्राय है।]—(७।२४)

भगवान् के नित्य एवं सर्वज्ञ स्वरूप को मूढ व्यक्ति नहीं जानते हैं (७।२५-२७)

मैं (भगवान्) योगमाया से अर्थात् त्रिगुण के योग रूप (सम्मिलित कार्यरूप) जो माया है उसके द्वारा सम्यक् प्रकार से आच्छन्न (आवृत) रहने के कारण (मेरे विशिष्ट ज्ञानी भक्त से भिन्न) अन्य सभी के निकट में अप्रकाशित रहता हूँ। अतः ये सब मूढ़ लोग अज (उत्पत्तिरहित) अव्यय (नाशरहित) मुझको नहीं जान सकते हैं किन्तु विपरीत बुद्धि द्वारा मुझको मनुष्य ही मानते हैं। [लौकिक माया में भी (जादूगर के खेल में भी) देखा जाता है कि जो विद्यमान है उसका स्वरूप आवरण कर जो नहीं है उसे जादूगर दिखाते रहते हैं। उसी प्रकार भगवान् भी योगमाया द्वारा अपने अज और अव्यय स्वरूप को आवृत कर जो सकल वस्तु की यथार्थ सत्ता नहीं है उन सब स्थूल मूर्ति को दिखाते हैं। साधनबल से जिन लोगों की ज्ञानदृष्टि उन्मीलित हुई है वे लोग ही सर्वत्र एकमात्र नित्य सत्य जन्ममरणरहित अखण्ड आत्मस्वरूप भगवान् को देख सकते हैं—मूढ़ (अविवेकी विषयकामनासक्त) व्यक्ति के लिये इस प्रकार का दर्शन कभी भी सम्भव नहीं होता है कारण माया और माया के कार्य द्वारा वे लोग मोहित रहते हैं (७।२५)। जब तक इस प्रकार मूढ़ रहते हैं तब तक जीव स्वरूपतः सर्वज्ञ होते हुए भी अल्पज्ञ रहते हैं।

भगवान् अर्थात् सर्वोपाधिरहित आत्मा सर्वज्ञ हैं, क्योंकि वे भूत, भविष्यत् और वर्तमान सभी पदार्थों को जानते हैं। किन्तु ज्ञानी भक्त विना उनको अन्य कोई भी नहीं जान सकते है (अर्थात् 'मैं ही सर्वज्ञ भगवान् हूँ' इस प्रकार अभिन्न भाव से भगवत् साक्षात्कार लाभ नहीं कर सकते हैं)। अतः मेरी माया द्वारा मोहित रहने के कारण अज्ञानी लोग मेरे तत्त्व को जान नहीं सकते हैं एवं इस कारण वे प्रायः मुझको भजते नहीं है (७।२६)। मेरे तत्त्व न जानने का प्रधान कारण यह है कि सभी प्राणियों को ही इन्द्रियादि के अनुकूल विषय के प्रति इच्छा एवं प्रतिकूल विषय के प्रति द्वेष रहते हैं इस कारण से जन्म काल से ही उस राग द्वेष निमित्त सुख दुःखरूप द्वन्द्व द्वारा संमूढ़ रहते हैं [पूर्व-पूर्व जन्मों में जिस-जिस विषय में इच्छा (राग) एवं अनिच्छा (द्वेष) अभ्यस्त हुए हैं इस जन्म में भी तत् तत् वासनानुसार इच्छाद्वेषरूप द्वन्द्व के द्वारा वशीभूत होकर मोह प्राप्त होते हैं अर्थात् विवेक-ज्ञान से शून्य होते हैं। इस कारण से ही जीवसमूह अशुभ स्त्री आदि में शोभनाध्यास (शोभनबुद्धि), असत्य प्रपञ्च में सत्यत्वाध्यास, नित्यसत्य असंग आत्मा में असत्याध्यास, अनित्य स्वर्गादि में नित्यत्वाध्यास, अनात्म देहादि में आत्माध्यास करते हैं। जगत् में इच्छाद्वेष रहित होकर कोई भी जन्म ग्रहण नहीं करते हैं एवं जो लोग इच्छा (राग) द्वेष द्वारा आविष्ट रहते हैं उन लोगों की बुद्धि स्वच्छ नहीं रहने के कारण भौतिक विषय का स्वरूप भी यथार्थ रूप से जान नहीं सकते हैं—आत्मस्वरूप का ज्ञान तो दूर की बात है। अतः रागद्वेष द्वारा चित्त व्याकुल रहने के कारण सभी प्राणी आत्मभूत परमेश्वर को जान नहीं सकते हैं एवं उस कारण से परमेश्वर ही (सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा या भगवान् ही) एकमात्र भजनीय होने पर भी लोग उनका भजन नहीं करते हैं (७।२७)।

कौन लोग भगवान् का दृढ रूप से भजन कर सकते हैं ? एवं कौन सर्वात्मा भगवान् के पूर्ण स्वरूप को जान सकते हैं ? (७।२८-२९)

[निर्मल दर्पण में जिस प्रकार मुख का प्रतिविम्ब देखा जाता है उस प्रकार निर्मल बुद्धि में ही भगवत् स्वरूप प्रतिफलित होता है। अशुद्ध (मलिन) बुद्धि में नहीं]। अनेक जन्म पर्यन्त जो लोग पुण्यकर्म करते आ रहे हैं एवं उसके फलस्वरूप जिन लोगों के अनादिकाल से प्रवृत्त पाप सकल अन्तगत (विनष्ट) हुए हैं अर्थात् रजः और तमः गुण क्षीण होकर जिन लोगों के चित्त सत्त्वगुणप्रधान हुए हैं वे लोग द्वन्द्वरूप (रागद्वेषरूप) मोह से सम्पूर्ण रूप से

मुक्त होकर भगवान् ही सब प्रकार से एकमात्र भजनीय है इस प्रकार दृढ़व्रत (निश्चित बुद्धि) होकर मेरा (परमात्मा का) भजन करते हैं (अनन्यशरण होकर सेवा करते हैं) (७।२८)। [पुण्यकर्म द्वारा पापों के विनाश होने से चित्तशुद्धि होती है एवं तब संसार के सभी विषय ही दुःखमय ऐसा बोध होने पर विषय-वैराग्य उपस्थित होता है]। इसी अवस्था में जरामरणादि सर्व दुःख की निवृत्ति के लिये मुझको (सगुण ईश्वर को) आश्रय कर मुझ में ही चित्त समाहित कर मेरे यथार्थ स्वरूप क्या है ? यह जानने के लिये प्रयत्न करते हैं। उसके बाद निदिध्यासन की परिपक्व अवस्था में निर्विकल्प समाधि द्वारा मेरी सर्वोपाधिरहित सत्ता को अर्थात् 'तत्' पदलक्षित निर्गुण परमब्रह्म को जान सकते हैं (साक्षात्कार करते हैं) और साथ-साथ इस तत्त्व को भी जान सकते हैं कि मैं ही अध्यात्म (अर्थात् त्वं पदलक्षित शरीरधारी आत्मा) हूँ एवं इस तत्त्वज्ञान प्राप्ति करने का साधन जो निष्काम कर्म एवं श्रवण, मनन आदि हैं वे भी मैं ही हूँ (७।२९)। [सभी अध्यात्म वस्तुरूप से एवं सकल कर्मरूप से मैं ही विद्यमान हूँ ऐसा जानकर वे लोग मेरे सगुण भाव को जानते हैं। फिर निर्विकल्प समाधि द्वारा मेरे गुणातीत परमब्रह्म रूप को जानते हैं। अतः वे लोग मुझको पूर्णरूप से जानते हैं, यही 'कृत्स्न' शब्द का तात्पर्य है। इस प्रकार पूर्ण ज्ञान से ही जरामृत्यु से मोक्षलाभ होता है]।

मृत्युकाल में भगवत्प्राप्ति का उपाय (७।३०)

जो लोग मुझको अधिभूत, अधिदैव एवं अधियज्ञ के साथ जानते हैं अर्थात् मैं ही समस्त प्राणीरूप से, समस्त देवता रूप से एवं समस्त यज्ञ रूप से विद्यमान हूँ इस प्रकार जानते हैं उन लोगों के चित्त निरन्तर मुझमें ही युक्त (आसक्त) रहने के कारण सदा मुझको ही जानते हैं अर्थात् मरण काल में भी मुझे भूल नहीं जाते हैं (७।३०)।

अष्टमाध्याय का तात्पर्य

७ वें अध्याय में उक्त परम ब्रह्म अध्यात्म कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ इत्यादि पूर्वाध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में जो कहा गया है उसको स्पष्ट कर कहने के लिए अर्जुन ने भगवान से अनुरोध किया (८।१–२) एवं भगवान् ने भी तीन श्लोकों में उनका उत्तर दिया (८।३–५)। (१) परम ब्रह्म क्या है ?—अक्षर को अर्थात् जो स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप, निरुपाधिक अविनाशी, अविकारी सत्ता जगत् का मूल कारण हैं एवं जिनके अधिष्ठान में

समस्त जगत् माया द्वारा सृष्ट होकर प्रतीत हो रहा है उस अक्षर अर्थात् अविनाशी सत्ता को परम ब्रह्म कहा जाता है।

(२) अध्यात्म क्या है?—स्वभाव को [जिनको अक्षर ब्रह्म कहा गया है उनका ही जो स्वभाव (अर्थात् प्रत्यक्‌चैतन्यस्वरूप सत्ता) देह को अधिकार कर भोक्ता रूप से विद्यमान हैं उनको] अध्यात्म शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। इन्द्रियादि को अध्यात्म नहीं कहा गया है क्योंकि परम ब्रह्म ही देहादि में प्रवेश कर प्रत्यगात्मभाव अनुभव करते हैं। अतः देहादि में जो सम्यक् चैतन्य विद्यमान रहता है उसको अध्यात्म कहा जाता है।

(३) कर्म क्या है ?—समस्त भूतों के (प्राणी के) भाव का (सत्ता का) उद्भव (उत्पत्ति) जिसके द्वारा होता है उस विसर्ग को (अर्थात् देवताओं के उद्देश्य में द्रव्यत्याग रूप यज्ञ को) यहाँ कर्म शब्द द्वारा समझाया जा रहा है। [यज्ञादि कर्म में जो आहुति अग्नि में प्रदत्त होती है वह आदित्य में गमन करती है। आदित्य (सूर्य) से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न, अन्न से जीव की उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है। इसी कारण यज्ञ, दान होमरूप वैदिक कर्म को यहाँ कर्म कहा गया है]।

(४) अधिभूत क्या है?—जो भाव (पदार्थ) क्षर (विनाशी अर्थात् प्रत्येक क्षण में परिणामी) है उसको अधिभूत कहा जाता है। भूत अर्थात् भूत को (प्राणीसमूह को) अधिकृत करके रहते हैं देहेन्द्रियादि उन देहादि की उत्पत्ति प्रत्येक क्षण में परिणाम को प्राप्त होती है एवं अन्त में विनाश प्राप्त होता है इसलिये देहादि को ही अधिभूत कहा जाता है।

(५) अधिदैव क्या है ?—जिसके द्वारा सब कुछ पूर्ण हैं अथवा जो प्रत्येक पुर में (अर्थात् देह में) सोये है ('पुरि शयनाद्वा पुरुषः') अथवा जो सर्व पुर में वास करते हैं उनको पुरुष कहा जाता है! यह पुरुष ही अधिदैव है अर्थात् जो समष्टि लिंगात्मा है एवं सकल व्यष्टि प्राणी की इन्द्रियादि का अनुग्रह करने वाले हैं उन पुरुष को (हिरण्यगर्भ को) अधिदैव कहा जाता है। [हिरण्यगर्भ ही सभी देवताओं के अधिपति अर्थात् समस्त देवताओं को अधिकार कर विद्यमान हैं, इसलिएहिरण्यगर्भ को अधिदैव कहा जाता है। हिरण्यगर्भ को प्रजापति आदि पुरुष एवं सर्वभूत का सृष्टिकर्ता ब्रह्मा भी कहा जाता है।

(६) अधियज्ञ क्या है ?–इस कर्ममय शरीर में मैं वासुदेव (सर्व्वव्यापी परामात्मा ही) अधियज्ञ हूँ। जो यज्ञ को अधिकार कर विद्यमान रहते हैं

अर्थात् जो यज्ञ की अधिष्ठात्री देवता हैं वही अधियज्ञ है। मनुष्य देह से ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक जो कुछ भी करते हैं उससे सर्वभूत की आत्मा वासुदेव को उद्देश्य (लक्ष्य) करके ही आहुति देते हैं अतः उस यज्ञ की अधिष्ठात्री देवतारूप से, अन्तर्यामी रूप से, यज्ञ के प्रवर्तक रूप से एवं यज्ञादि कर्म के फलदाता रूप से परमात्मस्वरूप वासुदेव ही अधियज्ञ है।

मृत्युकाल में सभी मूर्च्छित (अज्ञानाच्छन्न) होते हैं, उस समय तुमको किस प्रकार से जाना जाता है ? (८।५)

वे दीर्घदिनतक निरन्तर (सदा) श्रद्धापूर्वक सर्वात्मभूत, सर्वव्यापी मुझ परमेश्वर का चिन्तन करते रहते हैं, उस प्रकार के चिन्तन की पटुतावश मरण काल में सभी इन्द्रियाँ व्याकुल रहने पर भी वे मेरा ही स्मरण करते हैं एवं लोकदृष्टि में शरीर परित्याग कर भी शरीर में अहं अभिमान परित्याग कर भी) मेरे भाव को ही (मेरी स्वरूपता को अर्थात् निर्गुण ब्रह्मभाव को ही) प्राप्त होते हैं, इस विषय में कोई संशय नहीं है।

(जो लोग सगुण ईश्वर का स्मरण कर देह त्याग करते हैं वे 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल' इत्यादि (गीता ८।२४) द्वारा वर्णित देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में गमन करते हैं एवं ब्रह्मलोक में भोगशेष होने के पश्चात् निर्गुण ब्रह्मभाव प्राप्त होते हैं। और जीवितावस्था में ही जो लोग निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं उनके प्राण का उत्क्रमण नहीं होता है अर्थात् वे लोग कोई मार्ग में दक्षिणायन या उत्तरायण मार्ग में गमन न कर देहत्याग के साथ-साथ ही ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होते हैं। इस कारण से श्रुति में कहा गया है—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते', 'ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति' इत्यादि।

जिस भाव का स्मरण करते हुए मृत्यु होती है जीव मृत्यु के पश्चात् उस भाव को ही प्राप्त होते हैं (८।६)।

जीव प्राणवियोग के काल में जो-जो भाव अर्थात् देवताविशेष का अथवा अन्य कोई भाव का चिन्तन कर देहत्याग करते हैं, उस-उस भाव (स्वरूप) प्राप्त होते हैं क्योंकि जीवितावस्था में उस-उस भाव का अनुचिन्तन द्वारा उनका चित्त उस प्रकार से ही भावित रहने से (वासित अर्थात् परिणाम प्राप्त रहने से) मृत्युकाल में अवश होकर वे सब भाव ही स्मरण में आते हैं एवं पर जन्म में उस भाव के अनुसार नये देह का ग्रहण होता है

जिस प्रकार भरत राजा मृग को चिन्तन करते हुए परजन्म में मृगदेह को प्राप्त हुए थे (८।६)।

निरन्तर स्मरण करना ही भगवत्प्राप्ति का एकमात्र उपाय है (८।७)।

मृत्युकाल के भावानुसार परजन्म में देह प्राप्त होता है ऐसा कहा गया है। अतः आदर एवं श्रद्धा के साथ सर्वदा (निरन्तर) अर्थात् मृत्युकाल प्रर्य्यन्त प्रतिक्षण मुझ का ही (सगुण ईश्वर का ही) अनुस्मरण (अनुचिन्तन) करना होगा। किन्तु चित्तशुद्धि बिना मेरा निरन्तर अनुचिन्तन होना सम्भव नहीं है। इसलिये युद्ध करना होगा अर्थात् चित्तशुद्धि के लिए स्वधर्म का अनुष्ठान (पालन) करना होगा अर्थात् नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठानों के द्वारा चित्त की अशुद्धि क्षय होने पर उस साधक के मन एवं बुद्धि मुझमें ही (वासुदेव में ही) अर्पित रहने के कारण मेरे ही चिन्तन में ही रत होकर एवं अंतकाल में मेरा ही स्मरण कर मुझको ही निश्चय रूप से प्राप्त होते हैं। इस विषय में कोई संशय रह ही नहीं सकता है। [यहाँ सगुण ब्रह्म की उपासना एवं चिन्तन (ध्यान) के सम्बन्ध में ही कहा गया है क्योंकि मरण काल में सगुण ब्रह्म की ही भावना संभव होती है, किन्तु शुद्ध चैतन्य-स्वरूप निर्गुण ब्रह्म को (आत्मा को) जो लोग निरन्तर ध्यान द्वारा साक्षात्कार किये हैं उन लोगों को आत्मज्ञान होने के साथ-साथ ही अज्ञान की निवृत्ति होता है एवं मरण समय में भी ब्राह्मीस्थिति रहती है। अतः निर्गुण ब्रह्म को स्वरूपता प्राप्ति के लिए उनलोगों को किसी भावना की अपेक्षा नहीं रहती है (८।७)।

भगवान् को वेदादि शास्त्र में दिव्य पुरुष कहा गया है। उनको निरन्तर स्मरण करने का एवं प्राप्त होने का साधन क्या है ? (८।८-१०)

साधन का क्रम इस प्रकार है—

(क) अभ्यासरूप योग द्वारा युक्त होना होगा। अनात्मविषय सम्बन्ध में चित्तवृत्ति का उदय न होकर जब आत्मस्वरूप भगवान् की ही स्मृति का प्रवाह चलता रहता है तब उसको अर्थात् भगवत्स्मृति की पुनः पुनः आवृत्ति को अभ्यास कहा जाता है। वह अभ्यास ही योग है (क्योंकि वही भगवान् के साथ युक्त होने का प्रधान उपाय है)। इस प्रकार अभ्यास—योग द्वारा युक्त (एकाग्र) चित्त जब और दूसरे विषय के प्रति धावित नहीं होता है तब चित्त आत्मनिष्ठ होने पर साधक केवल दिव्य (स्वयंप्रकाश)

परम (श्रेष्ठतम) पुरुष को (पूर्ण ब्रह्मस्वरूप आत्मा को) अनुचिन्तन करते करते (अर्थात् शास्त्र एवं आचार्य के उपदेशानुसार ध्यान करते हुए) नदी जिस प्रकार समुद्र को प्राप्त होकर समुद्र ही हो जाती है उस प्रकार जीव उन परम पुरुष को प्राप्त होते हैं अर्थात् तद्रूपता प्राप्त होते हैं (८।८)।

(ख) [चित्त को एकाग्र करने का विशेष साधन कहा जा रहा है।] ध्येय ब्रह्म कवि हैं (क्रान्तदर्शी अर्थात् भूत एवं भविष्यत् की सर्ववस्तु उनके ज्ञान में प्रतिभाषित रहने के कारण वे सर्वज्ञ हैं), पुराण हैं (चिरन्तन अर्थात् सभी कारण का भी कारण है), अनुशासिता हैं (सर्वजगत् का प्रकाशक अर्थात् नियन्ता या अन्तर्यामी हैं), वे अणु से भी अणु हैं (आकाश, काल, दिक् इत्यादि से भी सूक्ष्मतर हैं), सब के दाता हैं (सब के कर्म फल का प्रदाता हैं), अचिन्त्यरूप हैं (जिनकी महिमा अपार होने के कारण इनके रूप क्या है ? वह चिन्ता करने में भी मन समर्थ नहीं होता है), आदित्यवर्ण हैं [सब जगत् के प्रकाशक सूर्य के समान वर्ण (प्रकाश) उनका है अर्थात् वे सर्वप्रकाशक हैं], अतः तम से अतीत हैं (अर्थात् माया या प्रकृति से उत्पन्न अज्ञानरूप मोहान्धकार से परे हैं अर्थात् मायातीत हैं)—ऐसा चिन्तन करना होगा। इस प्रकार चिन्तन परिपक्व होने से योगी मरण काल में अचल (अविचलित अर्थात् एकाग्र) मन द्वारा एवं भक्ति द्वारा युक्त होकर एवं योगबल द्वारा अर्थात् प्राण एवं इन्द्रियादि की क्रिया निरोध कर उस निरोध के बल द्वारा प्राण को सम्यक् प्रकार से (अत्यन्त सावधानता के साथ) भ्रूः के मध्य में आविष्ट कर (स्थापन कर) सर्वात्मा मुझको अनुस्मरण (अनुचिन्तन) करता है वह बुद्धिमान योगी उनको अर्थात् पूर्वोक्त कवि, पुराण इत्यादि लक्षणविशिष्ट दिव्य स्वयंप्रकाश पुरुष को (आत्मभूत ब्रह्म को) प्राप्त होता है (८।१०)।

उस दिव्य पुरुष का वाचक प्रणव (ॐ) है। ॐ का माहात्म्य (८।११-१३)।

जो लोग वेद का अर्थ (तात्पर्य) जानते हैं वे ॐकाराख्य ब्रह्म को अक्षर-(अविनाशी) कहते हैं। वीतराग (स्पृहाशून्य) यतिगण (संन्यासिगण) जिस ॐ-कार के वाच्यभूत विज्ञानैकरस ब्रह्म में प्रवेश करते हैं अर्थात् नदी जिस प्रकार समुद्र में प्रवेश करती है उस प्रकार सम्यग् दर्शन प्राप्ति होने पर संन्यासिगण जिस ॐकाररूप ब्रह्म के साथ एक हो जाते हैं, जिस ॐकाराख्य ब्रह्म को जानने की इच्छा कर नैष्ठिक ब्रह्मचारिगण ब्रह्मचर्य अनुष्ठान करते हैं (उर्द्धरेता होते हैं) उस ॐकार रूप ब्रह्म का पद अर्थात् उस ब्रह्म को किस

उपाय द्वारा प्राप्त होकर मोक्ष लाभ किया जाता है वह संक्षेप से श्री भगवान कह रहे हैं (८।११)—

(क) सर्वद्वार को बंध कर [बाहर के विषयों की उपलब्धि करने के द्वार जो पंचज्ञानेन्द्रियां हैं उनको संयत कर अर्थात् विषयों के दोष दर्शन करके कर्णादि इन्द्रियों को अपने-अपने विषय से प्रत्याहार कर (शब्दादि विषय ग्रहण न कर)] (ख) अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा मन को हृदय में (हृदयपुण्डरीक में) निरोध कर (वृत्तिहीन कर); (ग) एवं सभी इन्द्रियों की क्रिया के द्वार जो प्राण वायु है उसको भी सभी दिशा से निग्रह कर हृदय में ला कर (घ) उसके पश्चात् हृदय से कण्ठ, भ्रू-मध्य, तथा ब्रह्मरन्ध्र तक जो सुषुम्ना नाड़ी चली गयी उस सुषुम्ना नाड़ी द्वारा अनाहत चक्र एवं विशुद्ध चक्र पार कर भ्रू-मध्य में (आज्ञा चक्र में) एवं उसके उपर ब्रह्मरन्ध्र में (सहस्रार में) प्राण वायु को प्राणायाम (कुम्भक) द्वारा स्थापन कर (स्थिर कर), (ङ) आत्मविषयक योगरूप (समाधिरूप) धारणा को आश्रय कर (च) [मृत्युकाल में] ब्रह्म के एकाक्षर वाचक प्रणव को (ॐ को) विशेष रूप से आहरण (अन्तर में उच्चारण कर), (छ) उस ॐकार के अर्थभूत मुझको (परमेश्वर को) अनुस्मरण कर (अनुचिन्तन कर) जो देहत्याग करता है वह [देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में गमन कर उस लोक का सुख उपभोग कर बाद में] परम गति अर्थात् मेरी (अखंडाद्वय ब्रह्म की) स्वरूपता प्राप्त होकर मुक्तिलाभ करता है (८।१२-१३)।

योगधारणा करने में असमर्थ योगी की गति किस प्रकार की है ? (८।१४-१६)

[जो सब भक्त प्राण वायु का निरोध करने में अर्थात् भ्रूमध्य में या ब्रह्मरन्ध्र में] प्राण वायु को स्थिर करने में असमर्थ हो तो उनकी देह त्याग करने के पश्चात् किस प्रकार की गति होती है ? उसे भगवान स्पष्ट कर रहे हैं— जो अनन्यचेताः हैं अर्थात् जिनका चित्त मुझसे भिन्न दूसरे किसी में आसक्त नहीं होता इस प्रकार विषय-विरागी एवं मेरे ही अनुरागी पुरुष यदि यावज्जीवन अथवा दीर्घ काल तक सर्वदा मेरा ही स्मरण करते हुए मुझमें ही नित्ययुक्त रहते हैं अर्थात् आहार, विहार, शयनादि में सदैव मुझमें उनके चित्त समाहित रहे तो उनको ही प्रकृतयोगी कहा जाता है। मैं इस प्रकार नित्ययुक्त योगी के सुलभ हूँ अर्थात् वे सुखपूर्वक (अनायास से) मुझको (परमात्मा को) प्राप्त होते हैं (८।१४)। इस प्रकार नित्य योगी की आत्मा (चित्त) महान् (प्रकृष्ट रूप से सत्त्वगुण विशिष्ट) होती है। अतः वे

परमा (उत्कृष्टा) संसिद्धि (मोक्ष) प्राप्त होते हैं अर्थात् परमात्मा को (मुझको) प्राप्त होकर (मेरी स्वरूपता प्राप्त होकर) फिर इस दुःख का आलय-अर्थात् आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःख को आश्रय [अथवा गर्भावास एवं योनिद्वार से निर्गमन प्रभृति अनेक दुःख का आलय (स्थान)] जो अस्थिर, दृष्टनष्टप्राय, नश्वर, तुच्छ जन्ममरणरूप संसारचक्र है वह प्राप्त नहीं होता है अर्थात संसार में पुनः आवर्तन नहीं होता है (८।१५) [पातञ्जल योगशास्त्र में कहा गया है—जैसा अष्टांग योग द्वारा (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि रूप योगद्वारा] परमात्मा का साक्षात्कार होता है, केवल ईश्वर प्रणिधान द्वारा भी वैसा ही होता है। भगवान् का (आत्मा का) साक्षात्कार (सम्यग् दर्शन) विना मुक्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है। पुण्य कर्म क्षय होने पर ब्रह्मलोक से भी पुनः संसार में लौटना पड़ता है (अर्थात् संसार में प्रत्यावर्तन होता है) अन्य लोक की तो बात ही क्या है। [ब्रह्मलोक एवं अन्यान्य लोक समूह विनाशशील हैं। जो लोग ईश्वर की उपासना न कर यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान द्वारा अथवा पंचाग्नि विद्या द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होते हैं उनलोगों के पुण्य कर्म का क्षय होने पर पुनः मरणशील लोक में लौटना पड़ता है (गीता ९।२१)। किन्तु जो लोग सगुणब्रह्म की उपासना कर ब्रह्मलोक प्राप्त होते हैं वे लोग क्रममुक्ति प्राप्त होते हैं। ब्रह्मलोक में उनलोगों का तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है एवं ब्रह्मा की परमायु समाप्त होने पर ब्रह्मा के साथ वे भी मोक्षलाभ करते हैं।] इसलिये भगवान् कह रहे हैं कि जो लोग मुझको स्मरण करते है वे लोग मुझको ही (नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्मा को) ही प्राप्त होते हैं अर्थात् उनलोगों का पुनर्जन्म नहीं होता (८।१६)।

ब्रह्मलोक में गमन कर भी अपक्व योगी का पतन होता है, यह कहा गया है। उस ब्रह्मलोक का विशेषत्व क्या है ? (८।१७)।

ब्रह्मलोक बहुकाल पर्य्यन्त स्थायी रहता है। इस कारण ही ब्रह्मलोक का विशेष भाव से उल्लेख किया गया है। मनुष्य के परिमाण के अनुसार ब्रह्मा का एक दिन सहस्र युग (चतुर्युग) पर्य्यन्त रहता है। देवताओं का १२,००० वर्ष=१ चतुर्युग । मनुष्य का १ वर्ष (३६० दिन)=देवताओं १ दिन व रात्रि । ब्रह्मा का १ दिन=१००० चतुर्युग=१२०००×१००० देवताओं का वर्ष=१२०००,००० देव-वर्ष=१२०००,०००×३६० मनुष्य वर्ष=४३२ करोड़ मनुष्य वर्ष ब्रह्मा की रात्रि=४३२ करोड़ मनुष्य वर्ष अतः ब्रह्मा का अहो-रात्र=

८६४ करोड़ मनुष्य वर्ष। इस प्रकार जो लोग योगबल से ब्रह्मा का दिन व रात्रि का परिमाण जानते हैं वे लोग ही यथार्थ अहो-रात्रवेत्ता हैं (केवल सूर्य और चन्द्र की गति के ज्ञान द्वारा जो लोग अहोरात्र जानते हैं वे अल्प-दर्शी होने के कारण अहो-रात्र के वेत्ता नहीं हैं) (८।१७)।

ब्रह्मा से जगत् की सृष्टि एवं प्रलय किस प्रकार से होते हैं ? (८।१८–१९)।

ब्रह्मा का दिन आरम्भ होने से अर्थात् ब्रह्मा की शयनावस्था से जागरण का समय उपस्थित होने पर ब्रह्मा की निद्रावस्थारूप अव्यक्त से सभी व्यक्ति का (स्थावर, जंगम भूतवर्ग का) प्रादुर्भाव होता है एवं ब्रह्मा की रात्रि (शयनकाल) उपस्थित होने पर जो अव्यक्त से सर्वभूत की उत्पत्ति होती है उस अव्यक्त नामक कारण में वे प्रलीन होते हैं (८।१८)। जो भूतसमूह (चराचर प्राणीसमूह पूर्वकल्प में थे वे ही (अर्थात् नूतन कोई जीव नहीं) पुनः पुनः जन्म ग्रहण कर (ब्रह्मा की) रात्रि उपस्थित होने से प्रलीन होते हैं (प्रकृष्ट भाव से) लय प्राप्त होते हैं); फिर ब्रह्मा के दिन आने पर अवश होकर (अविद्या, काम और कर्म के वशीभूत होकर) प्रादुर्भूत (उत्पन्न) होते हैं अर्थात् प्राणीगण कर्म के वशीभूत होकर पुनः पुनः जन्ममरण के प्रवाह में भ्रमण करते रहते हैं (८।१९)।

परमेश्वर ही एकमात्र नित्य वस्तु है-उनकी प्राप्ति का उपाय (८।२०-२२)।

परमेश्वर के भाव या सत्ता (क) उक्त अव्यक्त से अर्थात् प्राणिसमूह के बीजभूत अविद्यारूप हिरण्यगर्भ से श्रेष्ठ है (क्योंकि उस हिरण्यगर्भ का भी वे ही कारण हैं),

(ख) अन्य सबसे अत्यन्त विलक्षण हैं,

(ग) अव्यक्त हैं (अरूप एवं निर्गुण होने के कारण चक्षुरादि का अविषय हैं)

(घ) सनातन हैं (अर्थात् सब कार्य में सद्रूप से व्याप्त रहने के कारण नित्य है)। अतः आकाशादि सभी भूत नाश होने पर भी उनकी सत्ता कभी भी विनष्ट नहीं होती है (अथवा सभी भूत की उत्पत्ति होने पर भी परमेश्वर उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वे सदैव एक चेतन्य रूप से विद्यमान हैं)।

[समष्टि सूक्ष्म देह में जो अभिमान करता है उसको हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) कहते हैं। सूक्ष्म देहरूप कार्य पदार्थ में उसका अभिमान रहने के कारण समष्टि कार्य पदार्थ की उत्पत्ति व विनाश के साथ साथ उनकी भी उत्पत्ति तथा विनाश होते हैं। किन्तु जो हिरण्यगर्भ के भी कारण हैं, जो इन्द्रिय एवं मन का अविषय हैं, रूपादिविहीन हैं, केवल सत्तामात्र हैं, वे ही परमेश्वर है, वे सभी सृष्ट पदार्थों से विलक्षण तथा एकमात्र नित्य सत्य वस्तु हैं अतः वे उत्पत्ति एवं विनाशरहित हैं (८।२०)]। इस परमेश्वर का जो भाव या सत्ता अव्यक्त है (प्रत्यक्षादि प्रमाण के अगोचर है) एवं अक्षर है (अविनाशी है अर्थात् प्रकृति एवं उसके कार्य के साथ इनका कोई संसर्ग न रहने के कारण सदैव जो निजस्वरूप में स्थित रहते है) उनको ही वेदविद् गण, परमा (उत्पत्ति विनाश-शून्य, स्वप्रकाश परमानन्दरूप उत्कृष्ट) गति [समस्त पुरुषार्थ की विश्रान्ति रूप अर्थात् परम शान्ति रूप चरम स्थान] कहते हैं। इनको (इस भावको प्राप्त होने पर पुनः संसार में लौटना नहीं पड़ता है इसलिये वही विष्णु का (सर्वव्यापी परमात्मा का) परम (सर्वोपाधिवर्जित, सर्वोत्कृष्ट) धाम है अर्थात् वही परमात्मा का यथार्थ स्वरूप है) (८।२१)।

बीज में जिस प्रकार वृक्ष अन्तर्गत (निहित) रहता है उस प्रकार समस्त स्थावरजंगम पदार्थ जिनके अन्तःस्थित हैं एवं जिन पुरुष के द्वारा (आकाश द्वारा घटादि जिस प्रकार व्याप्त रहता है उस प्रकार) कार्यजात यह समस्त जगत् व्याप्त है वे परम (सर्वश्रेष्ठ) पुरुष (परमात्मा) अनन्य भक्ति द्वारा लभ्य हैं। [जब भक्ति का विषय आत्मा से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं रहता है तब उस प्रेमलक्षणा या ज्ञानलक्षणा भक्ति के द्वारा ही परमात्माको लाभ किया जा सकता है। आत्मा ही प्रियतम है। अतः आत्मा से अभिन्न उन परम पुरुष के प्रति भक्ति (निरन्तर प्रेमपूर्वक अनुस्मरण) अचल व दृढ़ होने से ही उनका साक्षात्कार होता है, अन्य कोई उपाय नहीं है (८।२२)]

ध्याननिष्ठ उपासकों की क्रममुक्ति होती है किन्तु केवल कर्मनिष्ठ व्यक्तियों का संसार में पुनरागमन होता है (८।२३-२७)

जिस काल में (कालाभिमानी देवताओं के द्वारा उपलक्षित मार्ग में अर्थात् देवयान मार्ग में) प्रयाण करने से (मृत्यु के पश्चात् गमन करने से) योगिगण अर्थात् कर्मी या उपासक गण अनावृत्ति प्राप्त होते हैं (अर्थात् पुनः संसार में लौटते नहीं हैं) एवं जिस काल में (जिस मार्ग में अर्थात् पितृयान मार्ग में) गमन कर आवृत्ति (पुनर्जन्म) प्राप्त होते हैं उन देवयान एवं पितृयान मार्ग अब भगवान् अर्जुन के निकट वर्णन कर रहे हैं (८।२३)। देवयान मार्ग

अग्नि एवं ज्योतिः (अर्चिराभिमानी देवता), अहः (दिन के अभिमानी देवता) शुक्ल (शुक्ल पक्ष के अभिमानी देवता) षण्मासा उत्तरायण (उत्तरायण के अभिमानी देवता) तथा सम्वत्सर, आदित्य, चन्द्रमा एवं विद्युत इत्यादि के अभिमानी पुरुष द्वारा लक्षित पथ में जो सब भक्त लोग मृत्यु के पश्चात् गमन करते हैं उन लोगों को ब्रह्मा के मानस पुरुष ब्रह्मलोक से आकर ब्रह्मलोक में ले जाते हैं। यही देवयान है। इस प्रकार से भगवान् के भक्त उपासक अथवा भगवान् में अर्पण बुद्धि से जो निष्काम कर्म करते हैं वे ब्रह्मलोक प्राप्त होकर वहाँ ज्ञान प्राप्त होकर ब्रह्मा के साथ मुक्ति प्राप्त होते हैं–इसे क्रममुक्ति कही जाती है। और जो लोग गृहस्थाश्रम में रहकर ज्ञानलाभ की चेष्टा नहीं करते हैं, केवल यज्ञ, दान, तपस्या, व्रत, पुष्करिणी प्रतिष्ठा, वृक्षप्रतिष्ठा इत्यादि पुण्यकर्म करते रहते हैं वे देहान्त के पश्चात् पितृयान पथ में गमन करते हैं। इन लोगों को संसार में लौटकर आना पड़ता है। पितृयान पथ की गति यथाक्रम इस प्रकार हैं—धूम (धूमाभिमानी देवता) रात्रि (रात्रि के अभिमानिनी देवता) कृष्ण (कृष्णपक्ष के देवता), षण्मासा दक्षिणायन (दक्षिणायनाभिमानी देवता) द्वारा उपलक्षित जो मार्ग है उसमें मरने के पश्चात् योगी (कर्मी अर्थात् इष्टापूर्त-दत्तकारी अर्थात् जो लोग यज्ञादि कर्म, पुष्करणी के खननादि कर्म तथा दानादि कर्म करते हैं वे) चान्द्रमस ज्योतिः प्राप्तकर (अर्थात् चन्द्रलोक द्वारा उपलक्षित स्वर्गलोक का सुख भोग कर) उन पुण्य समूह के भोग का क्षय होने परः पुनः संसार में प्रत्यावर्तन करते हैं (८।२५)।

शुक्ल (अर्चिरादि मार्ग में गति) एवं कृष्ण (धूमादिमार्ग में गति) ये दो प्रकार की गतियाँ जगत् के सभी शास्त्रज्ञ पुरुषों के मत में नित्य प्रसिद्ध हैं [जगत् अनादि है एवं प्रवाहरूप से नित्य होने के कारण इस मत को भी शाश्वत अर्थात् नित्य कहा जाता है]। इन दोनों गतियों में एकगति अर्थात् अर्चिरादि मार्ग रूप शुक्ल गति ज्ञान का प्रकाशक होने के कारण उसके द्वारा ज्ञानियों को अनावृत्ति (मोक्ष) प्राप्त होती है किन्तु दूसरी अर्थात् धूमादिमार्ग रूप कृष्णगति ज्ञान प्रकाश का सहायक न होने के कारण उस मार्ग में गमनकारी कर्मियों का पुनः मनुष्य लोक में आवर्तन (पुनरागमन) होता है (८।२६)।

इन दोनों मार्गों में एक शुक्लगति मोक्ष को प्राप्त कराती है एवं दूसरी कृष्णगति संसारको प्राप्त कराती है, इसे जानकर अर्थात् निश्चय कर कोई भी योगी (ध्याननिष्ठ कोई भी मेरे भक्त उपासक) मोहग्रस्त नहीं होते हैं [अर्थात् वे लोग ध्यान तथा उपासना से रहित होकर केवल कर्म के अनुष्ठान को ही उनका कर्तव्य नहीं समझते हैं अथवा सुखादिबुद्धि से स्वर्गादि फल की कामना

नहीं करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि वह पुनः संसाररूप गति का ही कारण होता है। अतः वे लोग एकमात्र परमेश्वरनिष्ठ ही होते हैं]। इसलिये भगवान अर्जुन को कह रहे हैं—हे अर्जुन! सभी समय में मुझमें योगयुक्त (समाहितचित्त) हो। [यदि निर्विकल्प समाधि द्वारा मेरी (अर्थात् आत्मा की) अखण्डाद्वय सत्ता का साक्षात्कार कर सको तब तो देहत्याग के साथ-साथ ही मेरी स्वरूपता (मोक्ष) प्राप्त होओगे अर्थात् सद्योमुक्ति प्राप्त होओगे और यदि अपरोक्ष ज्ञान लाभ करने के पहले ही देहत्याग हो तब अर्चिरादि मार्ग में (शुक्ल गति) प्राप्त होकर ब्रह्मलोक में गमन कर ज्ञान लाभ कर क्रममुक्ति प्राप्त करोगे, यही कहने का अभिप्राय है (८।२७)]।

ध्याननिष्ठ योगी का माहात्म्य (८-२८)

(क) सम्यक् प्रकार से वेद अधीत होने पर अथवा दृढ़ वेदाभ्यास रहने पर, (ख) अग्निष्टोमादि शास्त्रविहित यज्ञसमूह अंग उपांग सहित श्रद्धापूर्वक सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित होने पर (ग) तपस्याओं से (अर्थात् मनोबुद्धि की एकाग्रतापूर्वक चान्द्रायणादि कठोर तपस्या अति उत्तम रूप से अनुष्ठित होने पर) अथवा (घ) दान समूह से अर्थात् देश, काल, पात्र का विचार कर श्रद्धा पूर्वक सम्यक् प्रकार से तुला पुरुषादि का दान करने पर जो पुण्य फल (स्वर्गादि फल इत्यादि) प्रदिष्ट (शास्त्र द्वारा उपदिष्ट हुए) हैं उन्हें जानकर [अर्थात् पूर्वोक्त सात प्रश्नों का (गीता ८।१-२) निर्णय द्वारा भगवान् के माहात्म्यपूर्ण रूप को अवधारण कर] जो योगी भगवान् में ही ध्याननिष्ठ रहते हैं वे उन वेदाभ्यास, तपस्या, दान प्रभृति के सभी पुण्यफल अतिक्रमण करते हैं अर्थात् अनित्य होने के कारण उन फलोंको तृणवत् समझते हैं। केवल यही नहीं वह ध्याननिष्ठ योगी सभी के आदि स्थान (अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप विष्णु का परम पद) प्राप्त होते हैं (८।२८)। इस अध्याय में सगुण ईश्वर का ध्यान करने से क्रममुक्ति प्राप्त होती है यह कहा गया है और परवर्ती नव अध्याय में ज्ञेय ईश्वर का यथार्थ तात्पर्य कहा जायगा अर्थात् ईश्वर का (तत् पदार्थ का) शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होने पर (साचात् अनुभव होने पर) सद्योमुक्ति प्राप्त होती है, यह कहा जायगा।

नवमाध्याय का तात्पर्य

ब्रह्मविज्ञान का (आत्मा के स्वरूप के साक्षात् अनुभव का) उपाय है राजयोग। राजयोग का माहात्म्य (९।१-२)

[सप्तम अध्याय के प्रथम दो श्लोकों में कहा गया है 'ज्ञानं सविज्ञानमिदं'

इत्यादि अर्थात् विज्ञान के साथ ज्ञान तुमको कह रहा हूँ जिसे जानने से और कुछ ज्ञातव्य (जानने योग्य वस्तु) अवशिष्ट नहीं रहता है किन्तु विज्ञान के अधिकारी होने के लिए सगुण ईश्वर की उपासना (ध्यान) द्वारा शुद्धचित्त होना पड़ता है। किस प्रणाली से सगुण उपासना करना पड़ता है, यह अष्टमाध्याय में 'सर्वद्वाराणि संयम्य मनोहृदि निरुध्य च' इत्यादि श्लोक द्वारा निर्देश किया गया है। उस प्रकार की उपासना परिपक्व होने पर साधक अर्चिरादि मार्ग में गमन कर क्रममुक्ति लाभ करते हैं, यह भी कहा गया है। सगुणब्रह्म की (ईश्वर की) उपासना द्वारा चित्त शुद्धि होने पर ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप निरूपण करके जो लोग ज्ञाननिष्ठ होते हैं वे लोग क्रममुक्ति नहीं अपितु सद्योमुक्ति प्राप्त होते हैं। यही नवम अध्याय में कहा जा रहा है।] श्रीभगवान कह रहे हैं—यह ज्ञान पूर्व में भी अनेक प्रकार से कहा गया है एवं अब कहा जा रहा है एवं बाद में भी कहा जायगा। वह अतिरहस्य पूर्ण होने के कारण अत्यन्त गोपनीय है। ब्रह्म के तत्त्वविषयक ज्ञान विज्ञानसहित (केवल शास्त्र एवं गुरुवाक्य से परोक्ष रूप से जो ज्ञान होता है केवल इतना ही नहीं परन्तु आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार कर जो विशेष ज्ञान होता है उस विज्ञान या अनुभव से युक्त ज्ञान) तुमको कहूँगा, क्योंकि तुम असूयाशून्य हो अर्थात् अन्य का दोष प्रकट करने की प्रवृत्ति तुममें नहीं है।

[जब तक मनुष्य के देहादि में आत्मबुद्धि रहती है तब तक ही राग-द्वेष द्वारा मूढ़ता प्राप्त होकर दूसरों के गुणों में दोष निकालने की प्रवृत्ति रहती है। तुम्हारा स्वभाव इस प्रकार का नहीं है। अतः तुम अधिकारी होने के कारण इस अनुभवयुक्त ज्ञान तुमको मैं कहूँगा।] यह ज्ञान लाभ कर अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात् अनुभव कर अशुभ संसार बन्धन से मुक्त होओगे (९।१)। यह ब्रह्म-विज्ञान सभी अध्यात्म विद्याओं का राजा है, सभी गोपनीय रहस्य का राजा है (अर्थात् यह अतिरहस्यपूर्ण एवं सर्वश्रेष्ठ है), प्रायश्चित्तादि पवित्रकर (शुद्धिकर) जितनी भी वस्तु हैं उनकी अपेक्षा यह उत्कृष्टतम है (क्योंकि विशेष-विशेष प्रायश्चित्त द्वारा विशेष-विशेष पाप की निवृत्ति होती है किन्तु उन सर्व कर्मों के मूलीभूत कारण अविद्या, काम इत्यादि रहने के कारण वे सब पापकार्य पुनः अनुष्ठित हो सकते हैं। परन्तु यह ब्रह्म-ज्ञान सहस्र-सहस्र जन्मों से सञ्चित सभी पापों का, स्थूलसूक्ष्म अवस्था का एवं उनके कारण अज्ञान का सद्य (तत्क्षणात्) उच्छेद (विनाश) करता है। अधिकन्तु यह ज्ञान प्रत्यक्ष फलप्रद है (अर्थात् अन्यान्य कर्मफल के लिए जैसे कालान्तर की अपेक्षा करनी पड़ती है यह ज्ञान वैसा नहीं है क्योंकि

इस ज्ञान के लाभ के साथ-साथ ही जो अपार आनन्द प्राप्त होता है वह प्रत्येक ज्ञाननिष्ठ पुरुष को ही प्रत्यक्षसिद्ध है)। यह विज्ञान धर्मसंगत है। श्येनयागादि की प्रक्रिया जिस प्रकार वेदादि शास्त्र द्वारा विहित होने पर भी वह धर्मविरुद्ध है, यह आत्मज्ञान उस प्रकार का नहीं है। यहाँ तक कि अन्य सभी धर्म का परित्याग कर इस ब्रह्मज्ञान (आत्मज्ञान) रूप धर्म का पालन करने से ही सभी धर्मों की सिद्धि होती है, जिस प्रकार वृक्ष के मूल में जल देने से वृक्ष की शाखा, उपशाखा, स्कन्ध इत्यादि सभी तृप्त होते हैं। और यह ज्ञान दुःसम्पाद्य भी नहीं है अपितु 'सुसुखं कर्तुम्' अर्थात् सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट होकर वेदान्तवाक्यों के विचार द्वारा यह ज्ञान सुखपूर्वक (अनायास ही) लाभ किया जाता है, क्योंकि यह ज्ञान स्वतःसिद्ध होने के कारण श्रवण मननादि द्वारा आत्मा के अज्ञानरूप आवरण अपसारित (दूरीभूत) होने से ही यह विज्ञान (आत्मज्ञान) स्वयं मेघमुक्त सूर्य के समान प्रकाशित होता है। अनायास साध्य होने से भी यह महाफलप्रद है कारण यह अव्यय है अर्थात् इसके द्वारा जो फल लाभ होता है उसका कभी भी विनाश नहीं होता है। अतः इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए सभी कल्याणकामी पुरुषों को ही प्रयत्न करना कर्तव्य है (९।२)।

सभी लोग राजयोग का अवलम्बन क्यों नहीं करते हैं? (९।३)

उपर्युक्त आत्मज्ञान रूप (अथवा भक्ति सहित ज्ञान रूप) धर्म के स्वरूप तथा फल के विषय में श्रद्धारहित होने के कारण मनुष्य सुख की प्राप्ति करने के लिए अपने-अपने मन द्वारा कल्पित उपायों से कुछ प्रयत्न करते रहने पर भी परम सुख (परमानन्द) प्राप्ति के जो सब उपाय शास्त्रों में विहित हैं उन सभी का अनादर करते हैं। अतः मुझको (परमेश्वर को) प्राप्त होना तो दूर की बात ही है (यहाँ तक कि मुझको प्राप्त करने के साधन भी प्राप्त न होने के कारण) वे मृत्युयुक्त संसारमार्ग में (नरक, तिर्यगादि योनि में) आवर्तन करते हैं अर्थात् पुनः पुनः नाना योनियों में परिभ्रमण करते हैं (९।३)।

तुम्हारे जिस स्वरूप को जानने से पुनः संसार में लौटकर नहीं आना पड़ता, वह स्वरूप क्या है? (९।४-६)

[भगवान् की कोई भी साकारमूर्ति उनका यथार्थ स्वरूप हो नहीं सकती। अतः साकार ईश्वर भक्तों की ध्यानमूर्ति हैं किन्तु ज्ञेय ईश्वर से

वह पृथक् है क्योंकि जो ईश्वर (ब्रह्म) ज्ञेय है अर्थात् जिनको जानने से संसार बन्धन से चिरकाल के लिए मुक्तिलाभ होता है वह सर्वदा ही निराकार है। साकार (अतः परिच्छिन्न) कोई मूर्ति सर्वव्यापी हो नहीं सकती है। सर्वात्मा ब्रह्म उनकी अव्यक्त मूर्ति द्वारा ही जगत् को व्याप्त किये हुए हैं। यही अब भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं—] अव्यक्त मूर्ति द्वारा [मेरी जो स्वरूप व्यक्त (इन्द्रिय एवं मन का विषय) नहीं है उस मूर्ति द्वारा अर्थात् मेरे निराकार स्वरूप द्वारा] यह सब जगत् (यह भौतिक सभी दृश्य पदार्थ जो मुझमें कल्पित होकर प्रतीत हो रहे हैं वे) व्याप्त हैं अर्थात् मेरी सत्रूप परमार्थ सत्ता द्वारा सत्तावान् एवं चित् सत्ता से प्रकाशित होकर भास रहे हैं।

रज्जु में अज्ञान से कल्पित सर्प, धारादि सब भाव जिस प्रकार रज्जु द्वारा व्याप्त रहता है, उस प्रकार मेरी अव्यक्त मूर्ति द्वारा (कल्पित सभी दृश्य वस्तु का एकमात्र अधिष्ठान मेरी निराकार सत्ता द्वारा) यह समस्त जगत् व्याप्त हैं—तुम तुम्हारे सम्मुख जो परिच्छिन्न श्रीकृष्णदेह देख रहे हो उसके द्वारा व्याप्त नहीं हैं। स्थावर जंगम भूतसमूह मुझमें ही स्थित हैं अर्थात् मेरी उक्त अव्यक्त मूर्ति में ही स्थित है। अधिष्ठान बिना किसी कल्पित वस्तु की प्रतीति नहीं हो सकती है। अतः अधिष्ठान की सत्ता ही उन कल्पित वस्तु की सत्ता होने के कारण वे मुझमें ही अवस्थित है। किन्तु मैं उन सब कल्पित वस्तुओं में अवस्थित नहीं हूँ क्योंकि मैं स्वयं अकल्पित परमार्थ सत्य वस्तु हूँ। अतः कल्पित वस्तु के साथ मेरा सम्बन्ध रहना सम्भव नहीं हैं अर्थात् मुझमें जो सब वस्तु अध्यस्त हैं उनके द्वारा कृत कोई कार्य से अथवा उनके कोई गुण या दोष द्वारा मेरा अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। मूढ़ व्यक्तिगण समझते हैं कि मैं जब सर्वभूत की आत्मा हूँ तब मैं सभी के अंदर स्थित हूँ—किन्तु ज्ञानीगण इस प्रकार नहीं समझते हैं [क्योंकि वे लोग जानते हैं कि रज्जुभिन्न कल्पित सर्प, धारा, दंड इत्यादि की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। अतः सर्प, धारादि भ्रान्तभाव रज्जु में है किन्तु सर्प धारादि कोई वस्तु न होने के कारण रज्जु उन में स्थित नहीं है।] (९।४)।

फिर (मायावी द्वारा) गगननिर्मित गन्धर्व नगर के समान मेरा (ईश्वर का) अघटनघटनाचातुर्य अर्थात् जो अन्यत्र सम्बन्ध नहीं है इस प्रकार मेरे असाधारण आश्चर्यपूर्ण योग (प्रभाव) देखो अर्थात् मैं साधारण मनुष्य हूँ इस प्रकार की बुद्धि त्याग कर पर्यालोचना करो। ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त ये सब भूत मुझमें स्थित नहीं है, क्योंकि मैं (आत्मा) असंग हूँ। अतः मुझमें आधेय भाव से कुछ भी स्थित रह नहीं सकता है। कहने का अभिप्राय

यह है कि—मुझमें यह भूतवर्ग कल्पित होने पर भी परमार्थतः (वस्तुतः) मुझमें नहीं है। इस द्वैतरूप इन्द्रजाल का जो उपादान कारण अज्ञान है उसको ही आश्रय कर कहा जाता है कि ब्रह्म जगत् का कारण है तथा सर्वभूत ब्रह्म में स्थित हैं। अज्ञान कोई वस्तु नहीं है (अर्थात् वह मिथ्या है) और मैं असंग हूँ। अतः तुच्छ या मिथ्या अज्ञान का कार्यभूत मिथ्या जागतिक विषयों के साथ सदा असंग, अनावृत, साक्षीस्वरूप मेरा सम्बन्ध नहीं रह सकता है। तथापि मेरी आत्मा (मेरा शुद्धचैतन्यरूप परमस्वरूप) कल्पित सर्वभूत को मानो अधिष्ठानरूप से धारण (पोषण) कर रही है एवं उनकी वृद्धि भी संपादन कर रही है। इसी कारण से वे मुझमें स्थित जैसी प्रतीत होती हैं किन्तु परमार्थतः मैं भूतसमूह में स्थित नहीं हूँ—जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा स्वप्न दृश्यों में स्थित नहीं रहता है। [राहु और सिर एक ही वस्तु है तथापि जैसा 'राहु का सिर' इस प्रकार का प्रयोग होता है वैसे ही मैं एवं सच्चिदानन्दघन असंगाद्वितीय आत्मा एक होने पर भी कहा गया है 'ममात्मा' अथवा 'ममात्मा' शब्द का इस प्रकार भी अर्थ होता है—मेरी आत्मा (मेरा मनोमय संकल्प ही अर्थात् मायाशक्ति हो) भूतवर्ग का धारयिता, भावयिता (वृद्धिकारी कर्ता) एवं नियन्ता है, किन्तु मैं निर्लेप अर्थात् सर्व सम्बन्ध से रहित हूँ (९।५)।]

जिस प्रकार सर्वत्रगामी महान् वायु सर्वदा चलन-स्वभाववाला होने पर भी नित्य (सर्वदा अर्थात् वायु की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय अवस्था में) आकाश में ही स्थित रहता है, किन्तु आकाश के साथ कभी भी संसृष्ट (लिप्त) नहीं होता है, उसी प्रकार सभी भूत (अर्थात् आकाशादि सर्वदृश्यप्रपञ्च) मुझको किसी प्रकार से संसृष्ट न कर मुझमें (प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप पूर्ण असंग परमात्मा में) स्थित रहता है, यह जानना (९।६)।

आत्मा की कल्पना द्वारा (माया द्वारा) जगत् की सृष्टि हुई है अतः कल्पना में ही उस जगत् का लय होता है (९।७-१०)।

हे अर्जुन ! कल्प का क्षय होने से (प्रलयकाल में) सर्वभूत मेरी (मेरी कल्पना-शक्तिरूप) प्रकृति में (त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति में अर्थात् उन सभी की कारणभूत माया में) सूक्ष्मरूप से विलीन होता है। फिर कल्प के आदि में (सृष्टिकाल में) सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, ईश्वर मैं नाना प्रकार के भूतसमूहों को सृजन करता हूँ अर्थात् 'अहं बहु स्याम्, ('मैं अनेक होऊँगा')

इस प्रकार संकल्पमात्र द्वारा विविध प्रकार से मुझको ही जगत्‌रूप से प्रतीत कराता हूँ (९।७)।

मेरी अपनी प्रकृति को (मेरी कल्पनाशक्तिरूपा, विचित्र परिणामिनी, मायानामिका, अनिर्वचनीया, अविद्यारूपा प्रकृति को) वशीभूत कर [अपनी सत्ता एवं स्फूर्ति (प्रकाश) द्वारा दृढ़ कर] उस प्रकृति या स्वभाव से अर्थात् प्राचीन कर्मवासना के प्रभाव से अवश [अविद्या, अस्मिता, रागद्वेषाभिनिवेष इन पंच क्लेशों से वशीभूत] यह समग्र चतुर्विध (जरायुज, अंडज, स्वेदज एवं उद्भिज्ज) भूतसमूह को (देव, तिर्यक्, मनुष्य, स्थावरात्मक समस्त जगत् को) पुनः-पुनः विसृष्टि (विचित्र भाव से अथवा विविध प्रकार से सृष्टि) करता हूँ, जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा स्वप्न के प्रपंच की सृष्टि करते हैं। [यद्यपि वस्तुतः असंगस्वभाव मेरे अचिन्त्य शक्तिरूप संकल्प द्वारा ही (माया द्वारा ही) यह सब सृष्टि-स्थिति-लय कार्य संपादित होता है किन्तु दृश्य प्रपंच के साथ कर्तृत्व, भोक्तृत्व रूप से मेरे संसर्ग का गन्ध भी नहीं है (९।९)]

मायावी (जादूगर) जिस प्रकार किसी की भी सृष्टि न कर नाना प्रकार की वस्तुएं दिखाता है अथवा स्वप्नद्रष्टा जिस प्रकार वास्तविक कोई वस्तु सृष्ट न कर भी कल्पना द्वारा अनन्त वस्तु के सृष्टि-स्थिति-प्रलय का सम्पादन करता है उस प्रकार मैं भी (भगवान भी) विश्व का सृष्टि स्थिति प्रलयकार्य संपादन करता हूँ किन्तु वे सब कर्म मुझको आबद्ध नहीं कर सकते हैं अर्थात् मैं किसी को अनुग्रह कर रहा हूँ और किसी को निग्रह कर रहा हूँ, किसी को सुकृति का भागी कर रहा हूँ फिर किसी को दुष्कृति का भागी कर रहा हूँ, इस प्रकार भी आरोप मुझमें नहीं हो सकता है कारण जगत्प्रपंच परमार्थतः सृष्ट नहीं होता है—वह सभी काल्पनिक अर्थात् मिथ्या है। अतः मैं तो इस सृष्टि कार्य में उदासीन के समान स्थित रहता हूँ [जिस प्रकार बादल (मेघ) कोई बीज विशेष के प्रति राग या द्वेष न कर वर्षण करता है उस प्रकार ईश्वर भी पुण्यवान् के प्रति राग अथवा पापी के प्रति द्वेष न कर माया से जगत्‌व्यापार निर्वाह करते हैं।] अतः मैं (भगवान) निर्विकारस्वभाव होने के कारण उस सृष्ट्यादि कार्य में आसक्त नहीं रहता हूँ अर्थात् इस कर्म द्वारा यह फलभोग करूंगा इस प्रकार की फलाकांक्षा अथवा 'मैं करूंगा' इस प्रकार का कर्तृत्व-अभिमान मुझको नहीं रहता है। अतः वे सब कर्म मुझको किसी प्रकार से आबद्ध (लिप्त) नहीं कर सकते हैं (९।९)।

अयस्कान्त (चुम्बक लोहा) जिस प्रकार उदासीन के समान केवल सन्निधिमात्र से लौह कणों के चलन का प्रवर्तक होता है, उस प्रकार अविक्रिय,

कूटस्थ द्रष्टा स्वरूप मेरी अध्यक्षता में अघटनघटनपटीयसी त्रिगुणात्मिका माया (प्रकृति) स्थावर जंगमात्मक इस जगत् की सृष्टि करती है अर्थात् ऐन्द्रजालिक दृश्य के समान कुछ भी सृष्टि किये बिना ही दृश्य प्रपंच दिखाती है। मेरी अध्यक्षता से ही जगत् विविध भाव से परिवर्तित होता है अर्थात् जगत् के प्राणी-समूह जन्म, स्थिति एवं लय इन अवस्थाओं में भ्रमण कर रहे हैं। आदित्य (सूर्य) जिस प्रकार उदासीन के समान स्थित रहने पर भी शस्यादि उनकी सन्निधिमात्र से सृष्ट होकर स्वतः ही अनेक अवस्था में परिवर्तित होकर नाश को प्राप्त होता है उस प्रकार मेरी उपस्थिति में ही (मेरे सान्निध्य में ही) मेरी प्रकृति (माया) शक्तिमती होकर इस विश्व ब्रह्माण्ड की सृष्टि और लय कर रही है—किन्तु मैं निर्लिप्त, अधिष्ठाता (द्रष्टा) रूप से सदैव एकप्रकार रहता हूँ (९।१०)।

तुम जब सर्वभूत के आधार एवं ईश्वर हो तब तुम्हारा लोग आदर क्यों नहीं करते हैं ? (९।११)

मैं मनुष्यदेह धारण कर जीव रूप से प्रतीत होने पर भी मैं ही सर्वभूत का महेश्वर अर्थात् सभी जगत् का स्वामी हूँ एवं वह ही जो मेरा परम भाव है इस यथार्थ तत्त्व को अर्थात् मैं आकाश के समान सर्वव्यापी हूँ अपितु आकाश से भी अन्तरतम हूँ, इस पारमार्थिक तत्त्व को वे मूढ़ (अविवेकी) पुरुषगण नहीं जानते हैं। अतः नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव वाले एवं सर्वप्राणियों के आत्मस्वरूप मेरी अवज्ञा करते हैं अर्थात् मैं एक साधारण मनुष्य हूँ यह समझ कर अनादर करते हैं (९।११)।

इस प्रकार की अवज्ञा का फल क्या है ? (९।१२)

क्योंकि वे मूढ़ व्यक्तिगण सब के अन्तर में स्थित मेरी भगवत्स्वरूप की अवज्ञा करते हैं इस कारण उनलोगों का चित्त विवेकहीन रहता है। अतः उनलोगों की आशा (अर्थात् मुझसे भिन्न अन्य देवता का भजन कर शीघ्र ही इच्छित फल लाभ करने की आशा) वृथा होती है। ईश्वर से विमुख होकर वे लोग जो सब अग्निहोत्र इत्यादि कर्म करते हैं वे भी वृथा ही (निष्फल ही) होते हैं उन लोगों का ज्ञान भी कुतर्क को आश्रय करने के कारण वृथा (निष्फल) होता है अधिकन्तु वे लोग मेरे परम भगवत्तत्त्व का अनादर करने के कारण राक्षसी अर्थात् तामसी (हिंसादिप्रचुर) एवं आसुरी अर्थात् शास्त्रविरुद्ध

विषयों के भोग के लिये कामदर्पादि नाना प्रकार की मोहिनी प्रकृति को (बुद्धि भ्रंशकारी स्वभाव को) आश्रय करते हैं मारो काटो खाओ अन्य का धन अपहरण करो इस प्रकार कहते हुए निष्ठुर कर्म करते रहते हैं (९।१२)।

महात्मागण ही मेरे यथार्थ भक्त हैं। वे ही मेरे स्वरूप को जानकर मुझको भजते हैं (९।१३)।

महात्मागण [अर्थात् अनेक जन्मकृत सुकृति के फल के रूप से जिन-लोगों की आत्मा (अन्तःकरण) कामादि शून्य होकर महान् हुई हैं अर्थात् विस्तार लाभ की हैं वे लोग किन्तु दैवी प्रकृति को (सात्त्विक स्वभाव को) अर्थात् देवताओं में जो शम, दम, दया, श्रद्धादि रूप प्रवृत्ति देखी जाती है उस प्रवृत्ति को आश्रय कर अनन्यचित्त से (एकाग्र मन से) सर्वभूत का आदि (कारण) एवं अव्यय (अविनाशी) परमेश्वर को जानकर (निश्चय कर) भजते हैं (सेवा करते हैं) (९।१३)।

किस प्रकार से वे लोग भजते हैं? अर्थात् उनलोगों की साधन प्रणाली किस प्रकार की है?—

(१) वे सर्वदा मेरा कीर्तन करते हैं अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर वेदान्तवाक्य श्रवण एवं विचार कर (देश या काल की शुद्धि या अशुद्धि का विचार न कर) प्रणव जप अथवा उपनिषद की आवृत्ति द्वारा सदैव मेरे ब्रह्मस्वरूप का कीर्तन (अनुस्मरण) करते हैं।

(२) मेरे स्वरूप के साक्षात्कार के लिए दृढ़व्रत होकर अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इत्यादि व्रत, दृढ़ रूप से धारण कर (अर्थात् उनकी विरुद्ध भावना द्वारा चालित न होकर) शम-दमादि साधन-सम्पन्न होकर मुझको प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते रहते हैं।

(३) एवं मुझको [अर्थात् गुरुरूप से, ईष्ट देव रूप से एवं सर्वत्र सर्वरूप से स्थित मुझको (वासुदेव परमात्मा को)] देह, वाणी और मन द्वारा नमस्कार करते रहते हैं।

(४) एवं इस प्रकार से मुझको (हृदयस्थित आत्मा को) भक्तिपूर्वक (परम प्रेमपूर्वक) नित्य (सदा) संयुक्त रहकर उपासना (सेवा) करते हैं [अर्थात् निदिध्यासन का (निर्विकल्प समाधि का) अभ्यास करते हैं।] इन

सब साधनों की पुष्टि द्वारा सर्व वेदान्तवाक्यों के प्रतिपाद्य अखंडाद्वय ब्रह्म का साक्षात्कार कर सर्वसंशय रहित होकर सर्व अज्ञाननाशक तत्त्वज्ञान [अर्थात् 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान] लाभ कर कृतकृत्य हो जाते हैं। मृत्यु के बाद इस प्रकार के योगी सद्योमुक्ति ही प्राप्त होते हैं—अष्टमाध्याय में वर्णित क्रममुक्ति नहीं (९।१४)।

जो लोग उस प्रकार निदिध्यासन द्वारा तुम्हारी उपासना करने में असमर्थ हैं वे लोग किस प्रकार से तुम्हारी उपासना करते हैं? [९।१५]।

पूर्वोक्त साधन जिनके लिए संभव नहीं है, उन लोगों में कोई-कोई ज्ञान-यज्ञ द्वारा मेरे यजन और उपासना करते हैं अर्थात् 'तुम ही मेरे मैं हो एवं मैं ही तुम हूँ' [अर्थात् तुम और मैं एक हूँ] इस प्रकार श्रुति में उक्त अहंग्रहो-पासनारूप ज्ञानयज्ञ द्वारा ईश्वर का भजन करते हैं [ज्ञान द्वारा यजन होने के कारण इसे ज्ञान—यज्ञ कहा जाता है। इस प्रकार उपासकों को उत्तमाधिकारी कहते हैं] और मध्यमाधिकारी भक्त पृथक् रूप से अर्थात् उपास्य—उपासक-रूप भेदबुद्धि अवलम्बन कर 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' [आदित्य को (सूर्य को) ब्रह्म की प्रतीक (मूर्ति) जानना] इस प्रकार श्रुति में जो प्रतीक उपासना रूप ज्ञान–यज्ञ विहित है उस ज्ञानयज्ञ के द्वारा मेरी उपासना करते हैं। और जो सब मंदबुद्धि व्यक्ति 'अहंग्रहोपासना' एवं 'प्रतीकोपासना' इन दोनों में ही असमर्थ हैं वे मेरी सब ओर मुखवाले सर्वरूप परमेश्वर की बहुत प्रकार से उपासना करते हैं अर्थात् ब्रह्मा, रुद्र आदि रूपों में मेरी आराधना करते हैं। अथवा चक्षु द्वारा जो कुछ भी देखा जाता है वह सर्वात्मा विश्वरूप भगवान् ही हैं, कर्ण द्वारा जो कुछ भी सुना जाता है वह उनके ही नाम हैं, इस प्रकार निश्चय कर मेरे भक्त जो कुछ कर्म करते हैं उसे मुझको ही (भगवान को ही) अर्पण कर मेरी उपासना करते हैं (९।१५)] [इन तीन प्रकार की उपासना को ज्ञानयज्ञ कहा जाता है। ज्ञानस्वरूप भगवान के साथ अभिन्न बोध न होने से पूर्ण ज्ञान नहीं होता है। पूर्णज्ञान न होने पर मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। इस कारण से भगवान की एकत्व बुद्धि के साथ जो उपासना होती है वह श्रेष्ठ यज्ञ है, उपास्य–उपासकरूप (अथवा दास-प्रभुरूप) भेदबुद्धि से जो उपासना होती है वह मध्यम ज्ञानयज्ञ एवं विविध प्रकार से विश्वतोमुख भगवान को जो उपासना होती है वह साधारण ज्ञानयज्ञ है। प्रथम प्रकार की उपासना द्वारा आत्मसाक्षात्कार होता है एवं द्वितीय एवं तृतीय प्रकार की उपासना के द्वारा चित्तशुद्धि लाभ होता है।] (९।१५)।

चित्तशुद्धि के लिए विश्वतोमुख तुमको [भगवान को] किस प्रकार से हृदय में धारण करना पड़ता है ? (९।१६–१९)

मैं ही (भगवान ही) श्रौत (वेदविहित) अग्निष्टोमादि याग एवं मैं ही स्मार्त (स्मृतिशास्त्रविहित) वैश्वदेवादि यज्ञ, मैं ही स्वधा (पितृ पुरुष को उद्देश्य कर प्रदत्त अन्न), मैं ही ओषध (प्राणियों के खाद्य अन्न अथवा रोग-मुक्ति के उपायस्वरूप ओषध) मैं ही मन्त्र जो यजुरादि मन्त्रों द्वारा देवताओं को आहुति दी जाती है वे मन्त्र), मैं ही आज्य (होमादि का साधन घृत), मैं ही जहाँ हवन किया जाता है वह आहवनीयादि अग्नि, मैं ही हुत (हवनरूप प्रक्षेपक्रिया) हूँ। इस प्रकार से जब मैं सभी हूँ तब मेरे भक्तों की विश्वतो-मुख उपासना युक्तियुक्त ही होती है (९।१६)। फिर मैं ही इस जगत का (सभी प्राणियों का) पिता एवं माता, मैं ही धाता (पोषयिता अर्थात् जो जिस प्रकार कर्म करते हैं, उन सब कर्मों के फल विधाता), मैं ही पितामह (पिता के पिता), मैं ही वेद्य (जानने योग्य वस्तु), मैं ही पवित्र (अर्थात् शुद्धि के हेतु गंगा स्नान, जपादि) वस्तु, मैं ही ब्रह्मज्ञान का सर्वोत्कृष्ट उपाय स्वरूप ॐकार, और मैं ही (कर्मकाण्ड का उपयोगी) साम, यजुः इत्यादि समस्त वेद हूँ। (९।१७)।

फिर मैं ही जगत् की अन्तिम गति हूँ अर्थात् जबतक प्रकृति का लय नहीं होता है तब तक जीव को जिस कर्म फल का भोग होता रहता है वह कर्म फल मैं ही हूँ, मैं ही भर्ता (पोषणकर्ता अर्थात् कर्मफल का प्रदाता) हूँ, मैं ही प्रभु (अन्तर्यामी, नियन्ता) हूँ, मैं ही साक्षी (सर्वप्राणी का शुभाशुभ का द्रष्टा) हूँ, मैं ही निवास (प्राणियों के भोगस्थान अथवा कार्यकारणरूप प्रपंच का अधिष्ठान) हूँ, मैं ही शरण हूँ, (अर्थात् मुझको प्राप्त होते ही समस्त दुःख शीर्ण होते हैं।) अर्थात् मेरे शरणागत भक्तों का सब दुःख मैं ही नष्ट करता देता हूँ।, मैं ही सुहृत हूँ (किसी प्रकार के प्रत्युपकार की अपेक्षा न कर सब का उपकार करता हूँ), मैं ही प्रभव (उत्पत्ति) हूँ मैं ही प्रलय (विनाश) एवं स्थान (स्थिति) हूँ, मैं ही निधान (कर्मफल का समर्पण स्थान) हूँ, मैं ही अव्यय बीज हूँ अर्थात् जगत का एकमात्र अविनाश कारण मैं ही हूँ (व्रीहि इत्यादि जिस प्रकार अंकुर उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो जाते हैं उस प्रकार मैं जगत् की सृष्टि करके नाश को प्राप्त नहीं होता हूँ अर्थात् सृष्टि आदि व्यापार में मेरी कोई हानि या वृद्धि नहीं होती है।) अथवा कालान्तर में मुझको आश्रय कर ही सभी कर्म फल प्रसव करते हैं, इसलिए जीव की उत्पत्ति का हेतु होने के कारण मैं जगत् का बीज हूँ। कहने का तात्पर्य

यह है कि जब तक अज्ञानियों की संसारगति रहती है तब तक ही मैं बीज हूँ अर्थात् संसारवृक्ष की अपेक्षा कर मुझको अव्यय (नित्य) बीज कहा जाता है (९।१८)।

मैं ही आदित्यरूप से रहकर ताप देता हूँ। उस ताप के प्रभाव से पूर्व पतित वृष्टि रूप से जो रस पृथ्वी में संचित था उस रस को (जल को) मैं आकर्षण करता हूँ एवं उसको बादल रूप से परिणत कर पुनः भूमि में जल वर्षण करता हूँ मैं ही अमृत हूँ, अर्थात् (देवताओं का तथा सर्व प्राणियों का जीवन हूँ फिर मैं ही मृत्यु (सभी प्राणी का विनाश) हूँ। मैं ही सत् हूँ (जो कुछ भी वर्तमान है वह मैं हो हूँ) फिर मैं ही असत् (जो वर्तमान में नहीं है वह भी मैं हूँ अर्थात् जो अतीत में था और भविष्यत् में प्रतीत होगा वह भी मैं ही हूँ)। [इस प्रकार से विश्वतोमुख मुझको जो लोग भजते हैं उन लोगों का सर्व रूप से मैं अनुग्रह करता हूँ—यही कहने का अभिप्राय है (९।१९)]।

तुम विश्वतोमुख हो अर्थात् सर्वरूप में तुम ही विद्यमान हो इस प्रकार की भावना के साथ निष्काम भक्त गण तुम्हारी ही उपासना कर चित्तशुद्धि द्वारा क्रमशः ज्ञान प्राप्त होकर मुक्त होते हैं किन्तु जो भक्तगण कामनासहित तुम्हारा भजन करते हैं उनकी कौन सी गति होती है ? [९।२०-२१]

कर्मकांड के उपयोगी ऋक्, यजुः, साम इन वेदत्रय को जो लोग जानते हैं वे सब याज्ञिकों यज्ञ द्वारा (अग्निष्टोमादि यज्ञ द्वारा) मुझको (वसुरुद्रादित्य रूप से) पूजा कर यज्ञावशिष्ट सोमरस पान कर निष्पाप होकर स्वर्ग लोक की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं। वे लोग उनके उत्कृष्ट पुण्य फल द्वारा सुरेन्द्र (इन्द्र) लोक प्राप्त होकर दिव्य अर्थात् मनुष्य द्वारा अलभ्य किन्तु देवदेह द्वारा ही जो सब वस्तुका भोग करना सम्भव होता है उन सभी वस्तुओं का भोग करते हैं (९।२०)। इस प्रकार वे लोग विशाल (विस्तीर्ण) स्वर्ग लोक का भोग करते रहने पर उन भोगों के हेतुभूत पुण्यों का क्षय होने से पुनः देह ग्रहण करने के लिए मर्त्य लोक में प्रवेश करते हैं अर्थात् पुनः गर्भवासादि यातना अनुभव करते हैं। इस प्रकार से (पूर्वोक्त प्रकार से) वे लोग भोग की कामना कर त्रयीधर्म का (वेदत्रय द्वारा विहित धर्म का) अनुप्रपन्न होकर (अर्थात् अनुष्ठान कर) संसार में

पुनः पुनः आवागमन करते हैं (अर्थात् पुण्य कर्म कर स्वर्ग में जाते हैं पुनः पुण्य का क्षय होने पर स्वर्ग से मर्त्यलोक में आकर कर्म करते हैं एवं उस कर्म का फलभोग करने के लिए पुनः पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। अतः गर्भवासादि यातनाप्रवाह से वे लोग मुक्त नहीं हो सकते (९।२१ ।)

जो लोग सर्वकर्म त्याग कर निष्काम भाव से सदैव तुम्हारा चिन्तन करते हैं उन लोगों की जीवनयात्रा का निर्वाह किस प्रकार से होता है ? [९।२२]

जो लोग मेरे अनन्य भक्त होकर (अर्थात् अन्य कोई उपास्य का आश्रय न कर एकमात्र मुझको ही आत्मा जानकर) जो साधनचतुष्टय-सम्पन्न, संन्यासी "मैं (परब्रह्म परमात्मा) सर्वव्यापी, पूर्ण एवं अनन्त हूँ" इस प्रकार निश्चय कर सर्वतोभाव से मेरी ही उपासना (ध्यान) करते हैं उन नित्याभियुक्तों का [अर्थात् मेरे जो भक्तगण निरन्तर श्रद्धा के साथ मेरे ध्यान में इस प्रकार रत रहते हैं कि देहयात्रा के लिए भी किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करते है उनके] मैं (सर्वेश्वर भगवान) योग (अलब्ध वस्तु का प्राप्ति) एवं क्षेम (लब्ध वस्तु का परिरक्षण) के लिये जो कुछ करना आवश्यक है उसकी व्यवस्था स्वयं मैं ही करता हूँ। [फिर यदि प्रश्न करते हो कि भक्त एवं अभक्त सभी का तो तुम्हीं योगक्षेम वहन करते हो तो इसके उत्तर में कहूँगा कि यह सत्य है कि सभी का योगक्षेम मेरे द्वारा ही सम्पादित होता है किन्तु विशेषता यह है कि जो लोग अभक्त हैं वे लोग स्वयं ही अहंकार को आश्रय कर अपने योगक्षेम के लिए चेष्टा करते हैं। अतः मैं ही सबकी बुद्धिका प्रवर्तक (पालनेवाला) हूँ एवं मेरी प्रेरणा से ही उनलोगों का योगक्षेम सम्पादित हो रहा है इस बात को वे समझ नहीं सकते किन्तु जो लोग मेरे अनन्य भक्त हैं वे अपने योगक्षेम के लिए चेष्टा नहीं करते हैं, यहाँ तक कि प्राण चला जाय या रहे इस विषय में भी चिन्ता नहीं करते क्योंकि वे लोग मेरे ही (भगवान् के ही) शरणागत रहते हैं। अतः वे लोग अनुभव कर सकते हैं कि मैं ही उन लोगों का योगक्षेम प्रत्यक्ष भाव से वहन करता हूँ (९।२२)]।

तुमसे भिन्न जब अन्य कुछ नहीं है तब अन्य देवता की पूजा करने से फल का भेद क्यों होता है ? [९।२३]

जो लोग श्रद्धापूर्वक (अर्थात् आस्तिक्य बुद्धि युक्त होकर) इन्द्रादि अन्य

देवता के भक्त होकर पूजा करते हैं वे लोग भी मेरे ही भक्त के समान मुझको ही अर्थात् तत् तत् देवता रूप से स्थित मेरी ही पूजा करते हैं, यह सत्य है किन्तु उन लोगों की वह पूजा अविधिपूर्वक (अज्ञानपूर्वक) होती हैं अर्थात् मैं ही सर्वभूत की आत्मा हूँ—यह नहीं जानकर इन्द्र प्रभृति देवताओं की मुझसे भिन्न कल्पना कर तत्-तत् देवता की पूजा करते हैं। [इन्द्रादि देवता और मैं अभिन्न हूँ इस बुद्धि से इन्द्रादि देवता की पूजा करने पर मेरे अनन्य भक्त के समान ही फल प्राप्त होगा किन्तु भेद बुद्धि से उपासना करने पर फल में पार्थक्य होगा, यही कहने का अभिप्राय है] (९।२३)।

अविधिपूर्वक पूजा का फल क्या होता है ? [९।२४–२५]

श्रौत और स्मार्त सभी यज्ञों का मैं ही इन्द्रादि देवतारूप से भोक्ता एवं प्रभु (फलदायक) हूँ। [मैं ही सभी यज्ञों का स्वामी हूँ इसलिए मैं सब शरीरों में अधियज्ञरूप से स्थित हूँ यह मैं पहले ही कह चुका हूँ (गीता ८।४)]। इसप्रकार होने पर भी प्रत्यगभिन्न (अपनी चैतन्यस्वरूप आत्मा से अभिन्न) मुझको तत्त्वतः (यथार्थरूप से) अज्ञानी लोग जान नहीं सकते। अतः भिन्न भिन्न देवताओं के भक्तगण उस-उस देवता के अन्तरात्मारूप में मैं ही विद्यमान हूँ यह नहीं जानते हैं। अतः मेरे स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञान न रहने के कारण वे मुझमें निष्ठा (स्थिति) लाभ करने में असमर्थ होकर संसाररूप गर्त में पतित होते हैं। और जो उनकी उपास्य देवता को मुझसे अभिन्न जानकर पूजा करते हैं वे मुझे प्राप्त कर संसार-चक्रसे मुक्त हो जाते हैं (९।२४) जो सात्त्विकगुणसम्पन्न हैं वे देवव्रत होकर (वसुरुद्रादित्यादि देवता सम्बन्धीय व्रत पालन कर एवं बलि, उपहारादि से उन देवताओं का पूजन कर) देवलोक प्राप्त होते हैं। और जो लोग राजसिक हैं वे लोग पितृव्रत होकर (अर्थात् श्राद्धादिक्रिया द्वारा अग्निष्वात्तादि पितृगण की आराधना कर) पितृलोक को प्राप्त होते हैं। और जो लोग तामसिक प्रकृति के हैं वे भूतों के अर्थात् यक्षरक्षः विनायक मातृगणादि भूतसमूह की पूजा कर भूतलोक को प्राप्त होते हैं। और जो मेरी ही (भगवान् की ही) पूजा करते हैं वे सभी देवता की मूर्ति में "मैं ही विद्यमान हूँ" इसप्रकार समदर्शी होकर मुझको ही (भगवान् को ही) प्राप्त होते हैं। श्रुति में कहा गया है—'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' अर्थात् उनकी जिस-जिस भाव से उपासना की जाती है उस भाव को ही उपासक प्राप्त होते हैं। अतः मेरे अनन्य भक्त मुझको प्राप्त होकर मुझसे कभी भी स्खलित नहीं होते। (९।२५)।

तुम्हारी पूजा करने की विशेष विधि क्या है ? [९।२६]

(क) भक्ति ही मेरी पूजा की विशेष विधि है—

पत्र, पुष्प, फल, जल अथवा अन्य जो कुछ भी अनायास लभ्य हैं उन्हें यदि कोई मनुष्य मुझको (अत्यन्त महाविभूतिसम्पन्न परमेश्वर को) भक्ति (प्रेम) पूर्वक [अर्थात् वासुदेव से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है इसप्रकार बुद्धिपूर्वक प्रीति के साथ] प्रदान करते हैं तब उस प्रयतात्मा (शुद्ध-बुद्धि) पुरुष के द्वारा भक्ति के साथ समर्पित पत्र पुष्पादि अति तुच्छ वस्तु होने पर भी उन सबको सर्वेश्वर मैं आहारादि के समान प्रीतिपूर्वक स्वीकार कर तृप्त होता हूँ। [सुदामा के द्वारा लाये हुए तंडुल भी मैंने (भगवान् ने) खाया था। अतः भक्ति के द्वारा ही मैं परितुष्ट होता हूँ। अन्य देवता के समान केवल बलि उपहारादि बहुवित्त एवं परिश्रमसाध्य पूजा द्वारा मैं तुष्ट नहीं होता। अतः सभी कल्याणकामी पुरुष को अन्य देवताओं को त्यागकर मेरा ही भजन (सेवा) करना कर्तव्य है, यही कहने का अभिप्राय है] (९।२६)।

(ख) कर्मरूप पुष्पाञ्जलि ही मेरी पूजा का विशेष उपकरण (सामग्री) है। [९।२७–२८]

तुम जैसे-जैसे शास्त्रीय कर्म स्वतः प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हो अथवा स्वाभाविक गमनादि रूप जो सब कर्म करते हो, देहधारण के लिऐ अन्नपानादि जो कुछ आहार करते हो, जो सब वैदिक होमादि (अग्निहोत्रादि) कर्म करते हो, अतिथि अथवा ब्राह्मण प्रभृति को अन्न सुवर्ण आदि जो कुछ भी दान करते हो, पापनिवृत्ति के लिये चान्द्रायणादि जो सब तपस्या करते हो अथवा उच्छृंखल प्रवृत्ति का नाश करने के लिये शरीर एवं इन्द्रियादि का संयमरूप जो तपस्या करते हो, वे सभी अर्थात् लौकिक, वैदिक, नित्य नैमित्तिक सभी कर्म मुझको अर्पण करो गमन के समय ध्यान रखना पड़ेगा कि भगवान् की प्रीति के लिए ही उनकी प्रदक्षिणा कर रहा हूँ, वाक्य बोलने के समय सोचना पड़ेगा कि उनके ही नाम कीर्तनादि कर रहा हूँ। इस प्रकार निष्काम भाव से शास्त्रविहित कर्म करते रहकर देह, मन, प्राण और इन्द्रियों के कार्यमात्र को ही अपनी इष्ट देवता भगवान् में अर्पण करना पड़ेगा। इसप्रकार समर्पण-क्रिया पूर्ण तभी होगी जब भगवान् को सर्वरूप में प्रतिष्ठित कर अपने देह, इन्द्रिय, मनः, बुद्धि, अहंकार सभी को उस विराट् सत्ता में समर्पण किया जायगा। तब एकमात्र भगवत्सत्ता ही सर्वत्र विद्यमान रहेगी। भक्त के गमन, भोजन इत्यादि क्रिया की कोई पृथक् सत्ता नहीं रहेगी। भगवान् के कर्म को ही

उस समय भक्त अपनी देह से सम्पादित होते हुए देखता है अर्थात् भगवान् ही उस देह को अवलम्बन कर गमन कर रहे हैं, आहार कर रहे हैं— इसप्रकार की अनुभूति करता रहता है (९।२७)।

(ग) सर्वकर्मार्पणरूप पूजा का फल क्या है ?

कर्ममात्र ही शुभ या अशुभ फल देता है एवं उस शुभाशुभ कर्मका फल भोग करते हुए संसारचक्र में जीव बद्ध होते हैं। किन्तु पूर्वोक्त सर्व-कर्मसमर्पणरूप ब्रह्मयज्ञ सिद्ध होने पर मेरे ज्ञानी भक्त शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं अर्थात् भगवदर्पण बुद्धि से कर्म करने से कर्म से अथवा कर्मफल से योगी लिप्त नहीं होते हैं एवं इसके पश्चात् संन्यास योगद्वारा [सभी कर्मों का संन्यास (सम्यक् त्याग) रूप योग द्वारा जिनकी आत्मा (अन्तःकरण) परमात्मा के साथ युक्त हुई है वे विमुक्त होकर (जीवितावस्था में ही कर्म बन्धन से मुक्त होकर) मुझको (शुद्ध-चैतन्यस्वरूप वासुदेव को) प्राप्त होते हैं 'अर्थात् "मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकार अपरोक्ष साक्षात्कार करते हैं। [इसके पश्चात् प्रारब्ध कर्म के भोग का अन्त होने से वर्तमान देह की मृत्यु के बाद विदेह कैवल्यमुक्ति प्राप्त होते हैं अर्थात् सर्वोपाधिरहित होकर अखंड सच्चिदानन्द में निमग्न हो जाते हैं (९।२८)।

भक्तों का तुम उद्धार करते हो और अभक्तों का दुःखमय संसार में निक्षेप करते हो —इससे क्या पक्षपातित्व नहीं होता ? (९।२९-३३)

[भक्त, अभक्त सभी मेरे लिए समान है। जो व्यक्ति जो चाहता है वही पाता है। अभक्त मुझको नहीं चाहकर संसार को ही चाहते हैं, इसलिए वे संसारगतिको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त संसार को त्याग कर मुझको ही चाहते हैं, कोई उस कारण मुझे ही प्राप्त होते हैं। अतः मेरा इस विषय में पक्ष-पातित्व नहीं है। यह कहा जा रहा है—] मैं आत्मारूप से सभी प्राणिओं में समभाव से विराजित हूँ। अतः मेरे लिए द्वेष (द्वेष के विषय) अथवा प्रिय (प्रीति के विषय) नहीं है। इसप्रकार होने पर भी जो भक्तगण कामनारहित होकर मुझमें सभी कर्म समर्पण कर मेरी निरन्तर सेवा करते हैं वे उस प्रकार निष्कामकर्म द्वारा चित्तशुद्धिलाभ करते हैं (अर्थात् उनके अन्तःकरण रजः और तमः गुणरूप मलों से मुक्त होकर सात्त्विकगुणविशिष्ट होकर अत्यन्त स्वच्छ होता है एवं उपनिषद्प्रतिपादित 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार की वृत्ति सर्वदा धारण करने में समर्थ होते हैं]। अतः वे स्वभावतः ही मुझमें

(ईश्वर में) वास करते हैं अर्थात् स्थित रहते हैं। (उनके प्रति मेरा कोई विशेष राग या पक्षपातित्व नहीं है। किन्तु अपनी भक्ति के सामर्थ्य से ही वे मुझमें रहते हैं। और मैं भी स्वभावतः उन भक्तों के हृदय में प्रकट होकर स्थित रहता हूँ। मेरे भक्त से भिन्न अन्य कोई मेरा अस्तित्व अनुभव नहीं कर पाते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि उनके प्रति मेरा द्वेष है। द्वेष नहीं है, कहने का अभिप्राय यह है कि अग्नि जैसे स्वभावतः ही रागद्वेषादि-शून्य है तथापि जो लोग अग्नि के पास रहते हैं उनकी ही शीत की निवृत्ति होती है, दूसरों की नहीं, उसी प्रकार सर्वत्र मेरा सम भाव होने पर भी जो लोग मेरे शरणागत व अनन्य भक्त हैं उनको संसार बन्धन से मुक्त करता हूँ। भक्त के प्रति आपाततः मेरा इस प्रकार का पक्षपातित्व देखे जाने पर भी मुझमें वैषम्य नहीं है—यह तो केवल भगवद्भक्ति की ही महिमा है (९।२९)। यदि कोई सुदुराचारी (अति पापी) रहे अर्थात् परहिंसा, परदार, पर-द्रव्यादि में आसक्त भी रहे किन्तु पूर्वजन्मों की सुकृति के फलरूप से यदि वे मेरे अनन्य भक्त हों अर्थात् अन्य सब चिन्ता छोड़कर मुझमें ही चित्त समाहित रखकर निरन्तर अनुस्मरण करते रहे तो पूर्व में वे असाधु रहने पर भी उनको अब साधु (धार्मिक) ही मानना चाहिए अर्थात् उन्हें साधु के समान पूज्य मानना चाहिए कारण यथार्थ पुरुषार्थ सम्बन्धन से वे पूर्णभाव से निश्चयवान् हुए हैं अर्थात् मुझमें एकान्तिनिष्ठ होना ही जो परम पुरुषार्थ है उसको वे निश्चय किये हैं (९।३०)। वे मेरे भजन की महिमा से शीघ्र ही धर्मात्मा (धर्मानुगत चित्त) होते हैं अर्थात् शीघ्र ही दुराचारत्व त्याग कर सदाचारी होते हैं एवं (यथाकाल) नित्य शान्ति अर्थात् विषयभोगस्पृहा की निवृत्तिरूप (उपशमरूप) नित्यशान्ति (मोक्ष) पूर्णरूप से प्राप्त होते हैं। [अर्जुन को जिससे इस विषय में कोई संशय न रहे इसलिये भगवान प्रतिज्ञा कर कह रहे हैं—] हे अर्जुन मेरे (वासुदेव भगवान के) जो भक्त हुए हैं (जिन्होंने सारे अन्तःकरण को मुझको ही समर्पित किये हैं वे) कभी भी प्रणष्ट नहीं होते अर्थात् मुझसे भ्रष्ट होकर दुर्गति प्राप्त नहीं होते—यह तुम निःशंकचित्त से गर्व के साथ जिस सभा में लोगों को इस विषय में संशयापन्न होकर वादविवाद करते देखोगे उस सभा में जाकर बाहु उठाकर प्रतिज्ञा कर कह सकते हो (९।३१)। हे अर्जुन! यह निश्चित है कि जो लोग अत्यन्त पापयोनि में जन्म ग्रहण किये हैं अथवा स्त्री जन्म (अर्थात् वेदाध्ययनादि में अधिकारशून्य होकर निकृष्ट स्त्री जन्म) प्राप्त हुए हैं अथवा केवल कृषि आदि में रत वैश्ययोनि को अथवा आचारहीन शूद्र योनि को प्राप्त हुए हैं।

(अर्थात् जो शास्त्राध्ययनादि के अभाव के कारण परमगति प्राप्त होने के अयोग्य हैं) वे भी यदि सर्वेश्वर मेरे शरणापन्न हों तब वे परमगति लाभ करते हैं अर्थात् मुझको प्राप्त हो सकते हैं (९।३२)। [जब उक्त प्रकार के नीच-जन्मा भी मेरे भक्त होकर सद्गति प्राप्त होते हैं तब] मेरे भक्त पुण्यजन्मा सदाचारी ब्राह्मण अथवा राजर्षि भक्तगण (अर्थात् क्षत्रियराजा होकर भी सूक्ष्मवस्तु के विवेक करने में समर्थ होने के कारण जो ऋषि हुए हैं वे) जो परमगति लाभ करेंगे इसमें फिर कहने की बात ही क्या है ? [चूँकि भगवद्भक्ति की इस प्रकार की महिमा हैं अतः महाप्रयत्न के साथ इस अनित्य (क्षणभंगुर) असुख (सुखवर्जित अर्थात् गर्भवासादि अनेक दुःखबहुल) इस संसार को प्राप्त होकर अर्थात् सर्वपुरुषार्थ के साधन के योग्य यह दुर्लभ मनुष्यलोक प्राप्त होकर (यह नष्ट होने के पूर्व ही) मेरा भजन करो अर्थात् शीघ्र ही मेरे शरणापन्न हो यह ही भगवान के कहने का अभिप्राय है (९।३३)।]

तुम्हारी (भगवान की) कैसी भक्ति की जाती है ? (९।३४)

राजा के सेवक जो राजभृत्य है, उसका मन राजा में आसक्त न रहकर पत्नीप्रभृति में आसक्त रहता है एवं पत्नी प्रभृति में मन लिप्त रहने के कारण उसको राजा का भक्त नहीं कहा जाता है। किन्तु तुमको मेरे भक्त होने के लिये एकमात्र मेरी भावना में ही तुम्हारे मन को नियुक्त रखना पड़ेगा अर्थात् राजादि की राजभृत्य जैसे धनादि के लोभ से सेवा करते हैं उस प्रकार न कर निष्काम भाव से मेरे अनन्य भक्त होना पड़ेगा मेरी ही पूजा करना पड़ेगा अर्थात् स्वर्गादि प्राप्ति के लिये दूसरे देवता की पूजा न करके मेरी प्राप्ति के लिये ही मेरी पूजा करनी पड़ेगी—मुझको ही नमस्कार करना पड़ेगा अर्थात् अहंकाररूप जीवभाव का बलिदान करने के लिये अत्यन्त प्रेम के साथ दण्डवत् होकर प्रणाम करना पड़ेगा, इस प्रकार मत्-परायण (एकमात्र मेरे ही शरणापन्न) होने से आत्मा को (मन और देह को) मुझमें ही युक्त (समाहित) कर सकोगे एवं मुझको ही अर्थात् परमानन्दघन स्वप्रकाश, सर्वोपद्रवशून्य, अभयपद (मोक्षपद) मुझको ही प्राप्त होओगे (९।३४)।

दशमाध्याय का तात्पर्य

भगवत्स्वरूप का ज्ञान भगवान की कृपा से ही लाभ किया जा सकता है। (१०।१–२)

[सप्तम अध्याय मे 'तत्' पद का वाच्यार्थ (ईश्वरतत्त्व) निरूपित

हुआ है। उस ईश्वरतत्त्व की उपासना द्वारा कैसे क्रममुक्ति होती है ? वह अष्टमाध्याय में कहा गया है। नवमाध्याय में तत्पद का लक्ष्यार्थ (तत्पद के द्वारा जो शुद्धचैतन्यस्वरूप अखंडाद्वय परमात्मा लक्षित होता है वह) कहा गया है। इस परमात्मा की प्राप्ति के लिये 'सर्वत्र एकमात्र भगवान ही विद्यमान हैं' इस प्रकार भावनात्मक भगवद्‌भजन आवश्यक है, यह सिद्ध हुआ है। भगवान के स्वरूप दो प्रकार के हैं (क) सोपाधिक (अर्थात् रूप और गुणविशिष्ट चैतन्यसत्ता) एवं (ख) निरुपाधिक (सर्वोपाधिवर्जित शुद्ध चैतन्य सत्ता)। मन कोई एक भगवद् रूप मे एकाग्र होने पर वृत्तियों का लोप (नाश) हो जाता है अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध (निर्विकल्पसमाधि) होता है। इस अवस्था में नित्यसिद्ध परमात्मा का स्वरूप स्वतःही प्रकट होता है। अतः परमात्मा के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये सोपाधिक ईश्वर का भजन कर मन को एकाग्र करना आरुरुक्षु योगी के लिये अवश्य कर्तव्य है। तत्पश्चात आत्मा (जीवात्मा) और परमात्मा का (परब्रह्म का) एकत्त्व साक्षात्-अनुभव करने के लिये निर्विकल्प समाधि के द्वारा सर्वचित्त-वृत्ति के निरोध करने पर निरुपाधिक (शुद्धचैतन्यस्वरूप) परमात्मा का साक्षात्कार करना सम्भव होता है। दशम अध्याय में सोपाधिक (सगुण) भगवान को सर्वत्र किस प्रकार से देखा जाता है ? वह अभी अर्जुन के (जीव-मात्र के ही) हित के लिये कह रहे हैं—]

हे महाबाहो (महाशक्तिशाली) अर्जुन। पुनः मेरे परम (अर्थात् मेरे यथार्थ स्वरूप का प्रकाश करने में समर्थ) जो प्रकृष्ट वाक्य कह रहा हूँ उसको सावधानी के साथ श्रवण करो। मेरे माहात्म्य श्रवण में अथवा मेरे वचनामृत-पान में तुम्हारी अत्यन्त प्रीति है अतः तुम्हारी हितकामना कर (अर्थात् तुम मेरा उपदेश सुनकर जिससे तुम अपने इष्टको (परम पुरुषार्थ मोक्षको) प्राप्त हो सको इसलिये यह श्रेष्ठ वचन तुमको कह रहा हूँ (१०।१)। इन्द्रादि देवताओं अथवा सर्वज्ञ भृगु आदि महर्षिगण भी मेरे प्रभव (प्रभाव) नहीं जानते हैं अर्थात् किस प्रकार से मेरे प्रभाव से [मेरी अनेक विभूति (शक्ति) की सामर्थ्य द्वारा] जगत् की सृष्टि होती है एवं किस प्रकार से युग-युग में अवतार रूप से मेरे आविर्भाव और तिरोभाव होते हैं उसे नही जानते। इसका कारण यह है कि देवताओं के तथा महर्षिओं के सर्वप्रकार से आदि (कारण) मैं ही हूँ अर्थात् सभी का उपादान कारण मैं हूँ एवं बुद्धि आदि के प्रवर्तक होने के कारण मैं निमित्त कारण भी हूँ। अतः वे मेरे ही विकारशील रूप (मूर्तियाँ) होने के कारण वे मेरे प्रभाव को नही जान सकते,

जैसे पिता के जन्मतत्त्व को पुत्र नहीं जान सकता। असल बात यह है कि मेरे अनुग्रह के बिना मुझे कोई जान नहीं सकता। (१०।२)।

भगवत्तत्त्व जानने का फल। (१०।३)

मैं अनादि हूँ (अर्थात् सभी कारणों का कारण मैं हूँ, अतः मेरा कोई आदि नहीं है), मै अज (जन्मशून्य) हूँ, मैं सर्वलोक का महेश्वर हूँ। इस प्रकार जो विशेष रूप से जानते हैं वे मनुष्यों में मोहवर्जित होकर सभी पूर्वकृत पापों से पूर्णतया मुक्त होते हैं (१०।३)। [मेरा स्वरूप जानने से और अज्ञान नहीं रह सकता। अतः अज्ञानकृत सभी पाप भी साथ साथ नष्ट हो जाते हैं क्योंकि कारण के विनाश होने से उसके कार्य का भी विनाश अवश्यम्भावी हैं।] (१०।३)।

तुम सर्वलोक के महेश्वर कैसे हो ? (१०।४–७)

[मैं ही सभी का नियन्ता हूँ—सभी गुण, सभी भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए मैं महेश्वर हूँ। मोक्षलाभ करने के लिए जो विंशतिसंख्यक गुणों के द्वारा भूषित होना आवश्यक है वे सभी गुण भी मेरे ही भाव हैं यथा—]

(१) बुद्धि [अन्तःकरण के सूक्ष्म विषय का विचार करने की सामर्थ्य (जिसके द्वारा अनात्म जड़वस्तु से चैतन्यस्वरूप आत्मा को पृथक् किया जाय)], (२) ज्ञान (आत्मानात्म सकल विषयों का विचारपूर्वक अनुभव), (३) असंमोह (ज्ञान होने पर मिथ्या विषय के लिए मोह या व्याकुलता का अभाव, (४) क्षमा (कोई तिरस्कार करने से अथवा पीड़ा देने से मन के विकार का हेतु विद्यमान रहने पर भी ज्ञान और मोह शून्यता से मन की चंचलता न रहने के कारण दण्डादि प्रदान करने को प्रवृत्ति का अभाव, (५) सत्य (जो सुना जाता है, देखा जाता है या अनुभव किया जाता है वही दूसरों को समझाने के लिए उस प्रकार ही कहना), (६) दम (बाह्य इन्द्रियों की निज निज विषयों से निवृत्ति), (७) शम (अन्तर इन्द्रियों का निग्रह), (८) सुख (आह्लाद अर्थात् 'यह मेरी आत्मा के अनुकूल है' इस प्रकार के अनुभव से युक्त चित्तवृत्तिविशेष), (९) दुःख (सन्ताप अर्थात् 'यह मेरी आत्मा के प्रतिकूल है' इस प्रकार के अनुभव से युक्त चित्तवृत्तिविशेष), (१०) भव (उत्पत्ति), (११) अभाव (नाश), (१२) भय (आगामी दुःख के हेतु के दर्शन से त्रास), (१३) अभय (अत्रास), (१४) अहिंसा (दूसरों को

पीड़ा देने की प्रवृत्ति से निवृत्ति), (१५) समता (समचित्तता अर्थात् चित्त की रागद्वेषादिरहित अवस्था), (१६) तुष्टि (सन्तोष), (१७) तप (इन्द्रियसंयमपूर्वक शरीर को पीड़ा देना अर्थात् शास्त्रीय मार्गानुसार शरीर और इन्द्रिय का शोषण करना), (१८) दान (अपनी भोग्यवस्तु को देशकाल और पात्र की विवेचना कर सत्पात्र में समर्पण), (१९) यश (धर्मपालन करने के फलस्वरूप कीर्ति), (२०) अयश (अधर्म के निमित्त अकीर्ति), अपने अपने कर्मानुसार वे सब भाव मुझसे ही (परमेश्वर से ही) हुआ करते हैं (गीता १०।४–५)। [अतः उत्तम गुण लाभ करने के लिए भी एक मात्र मेरी ही शरण लेना पड़ेगा]। यह छोड़कर भृगु आदि (भृगु, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलह, वशिष्ठ, पुलस्त्य) इत्यादि सप्तमहर्षि तथा उनके पूर्ववर्ती सनक, सनन्दन, सनातन, सनत् कुमार ये चार महर्षि (कुमार) एवं स्वायंम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि, इन्द्रसावर्णि—ये चतुर्दश मनु मेरी ही भावना द्वारा अर्थात् मच्चिन्तनपर होकर मेरे ही ज्ञान, ऐश्वर्यादि शक्ति से सम्पन्न होते हैं कारण वे मेरे ही मन के संकल्प से उत्पन्न हुये हैं। (मातृयोनि से नहीं) फिर पूर्वोक्त ऋषियों, मनुओं से ही इस जगत में ब्राह्मणादि सभी प्रजाएँ सृष्ट हुई हैं अर्थात् सभी मनुष्य इनकी ही सन्तति हैं (१०।६)। [अतः मैं ही सभी लोगों के आदि कारण अर्थात् महेश्वर हूँ।] जो मेरे पूर्वोक्त बुद्धादिरूपा एवं महर्षि आदिरूपा विभूतियाँ एवं योगैश्वर्य [अर्थात् उन उन विषयों की (विभूतियों की) सृष्टि करने की सामर्थ्यरूप योग एवं उसके फलरूप ऐश्वर्य] तत्त्वतः (यथार्थ रूप से) जानते हैं वे निश्चलभाव से (अर्थात् जिससे तत्त्व से प्रचलित न हो उस प्रकार से) योग द्वारा (अर्थात् सम्यक् ज्ञान द्वारा प्राप्त चित्त को स्थिरतारूप समाधि योग द्वारा) मेरे साथ ही युक्त (संलग्न) रहते हैं, इस विषय में संशय नहीं है (१०।७)।

तुम्हारी और कौन-कौन सी विभूति जानने से तुम्हारे भक्त उसका आश्रय कर मन की स्थिरता लाभ कर अविचलित भाव से तुम्हारे साथ युक्त रह सकता है ? [१०।८–११]

इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं—मैं परब्रह्म वासुदेव हूँ। सभी की अर्थात् विचित्र स्थावर जंगमात्मक प्रपंच की उत्पत्ति का कारण (उपादान व निमित्त कारण) मैं ही हूँ एवं समस्त जगत् की स्थिति, नाश एवं कर्मफल की

भोगरूप जो कुछ विक्रिया देखी जाती हैं वे मुझसे ही प्रवर्तित होती हैं अर्थात् सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान, सर्वान्तर्यामी मेरे द्वारा प्रेरित होकर ही निज-निज मर्यादा का उल्लंघन विना किये समस्त जगत् की चेष्टाएँ हो रही हैं। वे बुद्धिमान व्यक्तिगण मुझको इस प्रकार से जानकर मेरे प्रति भावयुक्त (प्रेमयुक्त) होकर मेरा भजन करते हैं (१०।८)।

भजन के द्वारा तुम्हारे साथ युक्त रहने से क्या फल होता है ? (१०।९–११)

वे लोग सर्वरूपों में एवं सर्वगुणों में मेरे ही लीलामाधुर्य का आस्वादन करते हुए मुझमें ही (भगवान में ही) चित्त निविष्ट रखते हैं एवं उनलोगों के प्राण मद्‌गत होते हैं अर्थात् मेरे बिना उन लोगों की कोई पृथक् सत्ता का बोध नहीं रहता । इस प्रकार साधकगण जब परस्पर मिलते हैं तब श्रुतिवचन और युक्ति के सहित मेरा तत्त्व ही परस्पर समझाते रहते हैं एवं मेरा कीर्तन भी करते रहते हैं। उनलोगों के निकट मुझसे भिन्न और कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं रहती है। अतः मेरी लीलाकथा से तृप्त होकर सदा ही तुष्ट रहते हैं। चूँकि वे लोग परोक्षभाव से जानते हैं कि मैं ही प्रियतम आत्मा हूँ अतः परमानन्दस्वरूप मुझमें ही वे लोग रमण करते हैं (१०।९)। इस प्रकार जो लोग प्रीतिपूर्वक मेरी सेवा करते हैं एवं सतत मुझमें जो लोग युक्त रहते हैं उनलोगों को बुद्धियोग मैं ही देता हूँ जिससे वे मुझको (भगवान् को) आत्मा से अभिन्नरूप से अनुभव करने में समर्थ होते हैं अर्थात् वे लोग सम्यग्‌दर्शन (ब्रह्म व आत्मा का एकत्वदर्शन) लाभ करते हैं (१०।१०)। मेरे उन भक्तों के प्रति कृपा कर उनकी आत्मा के (अन्तः-करण के) भाव में (वृत्ति में) स्थित रहकर मैं (स्वप्रकाश चैतन्यानन्द अखण्ड अद्वय आत्मा) उज्ज्वल ज्ञानदीप प्रज्वलित कर उनका अज्ञान (अविवेक) जनित मिथ्या प्रत्ययरूप मोहान्धकार नाश कर देता हूँ (१०।११) [चित्त के एकाग्रतारूप ध्यान द्वारा सम्यग्‌दर्शन ('मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकार ब्रह्म और आत्मा का एकत्वदर्शन) होता है। इसप्रकार सम्यग्‌दर्शन द्वारा ज्ञान-रूप प्रदीप अर्थात् भक्ति और प्रेम द्वारा अभिषिक्त विवेकबुद्धिरूप प्रदीप उज्ज्वलीकृत होता है ऐसे ज्ञानदीप प्रज्वलित होने से ('मैं देह हूँ', 'मैं इन्द्रियाँ हूँ') इसप्रकार जो मिथ्या प्रत्यय अर्थात् अज्ञानजनित मोह उत्पन्न हुआ था वह नष्ट हो जाता है। (१०।११)]।

भक्त की दृष्टि में भगवान् (१०।१२–१८)

अर्जुन भगवान् को कह रहे हैं—तुम परब्रह्म परमाश्रय (परमप्रकाश)

परम पवित्र (अर्थात् अशेष पापनाशक) हो, कारण सभी ऋषिगण (तत्त्वज्ञाननिष्ठ भृगु वशिष्ठादि ऋषिगण) एवं देवर्षि नारद, असित, देवल (धौम्य का ज्येष्ठभ्राता), व्यास (भगवान् कृष्णद्वैपायन) अनन्त महिमासम्पन्न तुमको दिव्य (द्युलोक में स्थित अर्थात् अपने सर्व प्रपंचातीत स्वरूप में स्थित), आदिदेव (आदि अर्थात् सर्व कारण एवं देव अर्थात् स्वप्रकाश), अज (जन्मरहित), विभु (सर्वगत सर्वव्यापक), शाश्वत पुरुष (नित्य अविकारी परमात्मा) कहते हैं। अन्य की बात तो दूर रही तुम स्वयं भी 'भूमिरापोऽनलो वायुः' इत्यादि (गीता ७।४) से आरम्भ कर 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' इत्यादि (गीता १०।८) पर्यन्त तुम्हारे स्वरूप के सम्बन्ध में मुझको उस प्रकार ही कह रहे हो। हे केशव ! तुमने जो मुझको कहा कि देवतालोक अथवा ऋषिगण मेरा प्रभाव (सृष्टि, स्थिति, प्रलय करने की सामर्थ्य) जान नहीं सकते (गीता १०।२) उस वचन को मैं सत्य मानता हूँ (अर्थात् तुम्हारे वाक्य के प्रामाण्य के सम्बन्ध में मुझे विन्दुमात्र भी संशय नहीं है क्योंकि तुम सर्वज्ञ हो एवं समग्रैश्वर्यादिसम्पन्न भगवान् हो, तुम्हारा व्यक्तित्व अर्थात् प्रभाव (प्रकृष्टभाव अर्थात् निरुपाधिक स्वरूप) देवगण अत्यन्त ज्ञानवान होने पर भी नहीं जान सकते हैं और दानवगण महातपस्वी होकर भी जान नहीं सकते। यदि देवदानव प्रभृति के लिए तुम्हारा यथार्थस्वरूप जानना असाध्य है तो मनुष्यगण जो तुमको जान नहीं सकेगा उसमें आश्चर्य की बात क्या है ? (१०।१४)। हे पुरुषोत्तम ! हे भूतभावन (सर्वभूत का उत्पादक) ! हे भूतेश (सर्वभूत के नियन्ता) ! हे देवदेव (सभी देवताओं के भी आराध्य) ! हे जगत्पते (वेद का प्रणेता होने के कारण तुम सम्पूर्ण जगत् के पालयिता) ! तुम स्वयं ही अर्थात् दूसरे के उपदेशादि के बिना ही (अपने स्वरूप के सिद्धज्ञान द्वारा ही) अपने निरुपाधिक और सोपाधिक भाव को जानते हो (१०।१५) सर्वत्र तुम ही अपनी विभूति द्वारा (आत्ममाहात्म्यविस्तार द्वारा) इन सभी लोक को व्याप्त करके विद्यमान हो। तुम्हारी वे सब विभूतियाँ असाधारण हैं क्योकि अज्ञानी लोग उन विभूतियों को जान नहीं सकते। अतः तुम ही एकमात्र सर्वज्ञ होने के कारण अशेषरूप से तुम्हारी विभूतियों का वर्णन करने में समर्थ हो (१०।१६)। हे योगिन् ! (निरतिशय ऐश्वर्यादि शक्तिशालिन्) ! मैं तो अति स्थूलमति हूँ अतः देवदानवादि से भी दुर्ज्ञेय तुमको किस प्रकार से सर्वदा परिचिन्तन करके विशुद्ध बुद्धि लाभ कर तुम्हें जान सकूँगा ? यदि कहो कि मेरी समस्त विभूतिओं में मेरा ही ध्यान कर मुझको जान सकते हो तो मैं जिज्ञासा कर रहा हूँ कि

जब चेतनात्मक और अचेतनात्मक सभी वस्तुएँ ही तुम्हारे भाव (विभूति) हैं तब किस-किस भाव से मैं तुम्हारा ध्यान करूंगा ? हे जनार्दन [सभी व्यक्ति ही संसार की समृद्धि अथवा मोक्षरूप पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए तुमको अर्दन अर्थात् प्रार्थना करते हैं एवं इसी कारण से तुमको जनार्दन कहा जाता है] ! तुम्हारे आत्मयोग (अर्थात् सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्वादिरूप अतिशय योगैश्वर्य) एवं ध्यान के अवलम्बनस्वरूप विभूतियाँ सब विस्तारपूर्वक मुझको कहो (अर्थात् यद्यपि तुमने सप्तम व नवम अध्याय में संक्षेप में उन्हें कहा है तथापि पुनः उन्हें विस्तारपूर्वक कहो, कारण अमृत के समान पद पद में स्वादु तुम्हारे वाक्य सुनने पर भो (पान करने पर भी) तृप्ति (परितोष) नहीं हो रही है (१०।१७–१८) ।

भक्त की तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होने से भगवान् अपनी महिमा प्रकाश करके भक्त के हृदय में अपने स्वरूप का ज्ञान प्रज्वलित करते हैं । [१०।१९-३९]

"श्रीभगवान् अर्जुन के प्रार्थना करने पर उत्तर में कह रहे हैं–हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! तुम मेरी जो दिव्य (असाधारण अर्थात् साधारण मनुष्यबुद्धि से अगोचर) विभूति सुनना चाहते हो, उनमें से प्रधान-प्रधान विभूतियाँ तुम्हें बता रहा हूँ, कारण मेरी विभूति के विस्तार का अन्त नहीं है अर्थात् शत-शत वर्षों तक कहते रहने पर भी उनका अन्त नहीं होगा । हे अर्जुन ! तुम तो गुडाकेश (जितनिद्र) हो अर्थात् तुमने तो निद्रा पर विजय प्राप्त कर लिया है अत एव ध्यान करने की सामर्थ्य तुम्हारी है । मैं चैतन्यानन्दघन आत्मा सभी प्राणी के हृदयदेश में अन्तर्यामी रूप से (प्रत्यगात्मा के रूपसे) स्थित हूँ [अत एव मैं उस रूप से ही ध्येय हूँ । फिर मैं सभी प्राणिओं का आदि (उत्पत्ति), मध्य (स्थिति) एवं अन्त (नाश) हूँ अतएव सर्वभूत की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाशरूप से मैं ही ध्येय हूँ (गीता १०।१९-२०)] [विश्वप्रपंच की सभी वस्तुएँ ही मेरी विभूति हैं, तथापि जो जो वस्तु श्रेष्ठ है उनमें मेरा विशेष प्रकाश है । इसलिये उनका उल्लेख कर रहा हूँ ।] द्वादश आदित्य में विष्णु नामक आदित्य मैं ही हूँ, ज्योतिर्वर्ग में (प्रकाशशील वस्तु में) मैं विश्वव्यापी रश्मियुक्त सूर्य हूँ, मरुद्गण में (उन्चास वायु में) मैं ही मरीचि नामक देवता एवं नक्षत्रों में मैं ही उनके अधिपति चन्द्रमा हूँ (१०।२१) । चार वेदों में मैं सामवेद, रुद्रादित्य इत्यादि देवताओं में मैं सर्व-देवाधिपति इन्द्र, चक्षुरादि एकादश इन्द्रियों में मैं ही संकल्पविकल्पात्मक

मन हूँ (कारण मन ही इन्द्रियों का प्रवर्तक है)। सभी प्राणिओ में मैं ही चेतना अर्थात् ज्ञानशक्ति हूँ, कारण चेतना बिना जीवगण कार्य नहीं कर सकता है। इसलिए चेतना ही श्रेष्ठ है (१०।२१-२२)। राजपुरोहितों में जो मुख्य हैं अर्थात् प्रधान (श्रेष्ठ) है वह बृहस्पति मैं ही हूँ, सेनापतियों में श्रेष्ठ देवसेनापति कार्तिक भी मैं ही हूँ। जितने जलाशय हैं उनमें सागर श्रेष्ठ है एवं वह सागर भी मैं ही हूँ (१०।२४)। मरीचि आदि सप्त महर्षियों में भृगु अति तेजस्वी हैं—मैं ही वह भृगु हूँ। सभी वाक्यों में अक्षरमन्त्र ॐ कार मैं ही हूँ, कारण ॐ कार से ही सभी वाक्य सृष्ट हुए हैं। यज्ञों में जपयज्ञ हिंसादिदोषशून्य एवं अतिपवित्रकर है। इसलिये वह श्रेष्ठ जपयज्ञ मैं ही हूँ। स्थावर (स्थितिशील) पदार्थों में हिमालय श्रेष्ठ है—मैं ही वह हिमालय हूँ (१०।२५)। सभी वृक्षों में अश्वत्थ (पीपल) पूज्य है—वह अश्वत्थ मैं ही हूँ। देवर्षियों में अर्थात् देवता होकर भी जो लोग वेदार्थ-ज्ञान के द्वारा ऋषित्व प्राप्त हुए हैं उनमें परम वैष्णव नारद मैं ही हूँ। देवताओं के गायक गंधर्वगण में मैं ही चित्ररथ हूँ एवं जो लोग जन्म से कोई साधन के बिना ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं अतिशय ऐश्वर्य (योग-विभूति) प्राप्त होकर सिद्ध हुए हैं उनलोगों में मैं कपिल मुनि हूँ (१०।२६)। अमृतमन्थन के समय अर्थात् अमृत के लिये जब क्षीरसमुद्र का मन्थन हुआ था तब उससे जो उच्चैःश्रवा नामक अश्व उद्भुत हुआ था वह मैं ही हूँ एवं उस समय गजेन्द्रों में श्रेष्ठ जो ऐरावत हाथी उद्भुत हुआ था वह भी मैं ही हूँ, ऐसा जानना। फिर मनुष्यो में मैं ही राजा हूँ। (१०।२७)। अस्त्रों में दधीचि की अस्थि से जो वज्र उत्पन्न हुआ वह भी मैं हूँ। धेनुओं में मैं कामधेनु हूँ। सभी कामों में प्रजा की (सन्तान की) उत्पत्ति का हेतु जो कंदर्प है वह भी मैं ही हूँ एवं सर्पों में मैं ही सर्पराज वासुकि हूँ (१०।२८)। अनेक शिरविशिष्ट विषहीन नागों में मैं ही अनन्तनाग (शेषनामक नागराज) हूँ जलचरों में मैं जल देवता का राजा वरुण हूँ, पितरों में मैं ही पितृराज अर्यमा हूँ। संयमन करनेवालों में अर्थात् जो यमराज धर्माधर्मका फलदान कर लोगों के प्रति अनुग्रह या निग्रह करते हैं वह मैं ही हूँ (१०।२९)। दैत्यों में मैं प्रह्लाद हूँ। दिवारात्रि पक्ष मास इत्यादि कालगणना जीवन में चलती रहती है। वह अनन्तकाल जो सब की कालगणना करता है एवं जिसके गर्भ में अन्त में सभी सृष्टपदार्थ प्रविष्ट होते हैं वह मैं ही हूँ। पशुओं में मैं पशुराज सिंह हूँ एवं पक्षियों में मैं विनता का पुत्र गरुड़ हूँ (१०।३०)। वेगगामी (अथवा पवित्रकारी) वस्तुओं में मैं पवन (वायु) हूँ। शस्त्रधारियों में

अर्थात् युद्धकुशल व्यक्तियों में मैं दशरथ का पुत्र राम हूँ। मत्स्यों में मैं मकर हूँ, स्रोतस्विनी में (जो जल बहुत अर्थात् वेग से चलता है उन नदियों में) मैं जाह्नवी (गंगा) हूँ (१०।३१)। आकाशादि समस्त अचेतन (जड़) सृष्ट पदार्थों में मैं ही उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय हूँ। [१०।२० श्लोक में कहा गया है 'अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च'—वहाँ चेतन प्राणियों का आदि, अन्त और मध्य में जो भगवान् (आत्मा) विद्यमान हैं उनका निर्देश किया गया है। पुनः वर्तमान श्लोक में कहा गया है–'सर्गाणामादिरन्तश्च'। अतएव पुनरुक्ति निवारण करने के लिये यहाँ सर्ग शब्द का अर्थ है आकाशादि अचेतनसृष्टि।] विद्याओं में परम निःश्रेयस का (मोक्ष का) साधनरूप आत्मतत्त्व विद्या मैं ही हूँ। तार्किकों में जो सब तर्क होते हैं वे सब वाद जल्प (स्वपक्षस्थापन) एवं वितण्डाको (परपक्षदूषण को) आश्रय कर होता है। जो तर्क द्वारा सत्य निर्णय किया जाता है उसे वाद कहा जाता है। मैं ही वह वाद हूँ (१०।३०)। सभी वर्णों में मैं अकार हूँ [वेद में कहा गया है–'अकारो वै सर्वा वाक्' अर्थात् अकार ही सर्व वाक्यरूप से परिणत हुआ है। अत एव अकार श्रेष्ठ एवं प्रसिद्ध है और वह अकार मैं ही हूँ।] समाससमूह में मैं द्वन्द्व हूँ [द्वन्द्वसमास में उभय पद का प्राधान्य रहने के कारण द्वन्द्वसमास उत्कृष्ट है। अव्ययीभाव में पूर्व पद का प्राधान्य रहता है और तत्पुरुष में बाद के पद का प्राधान्य रहता है।] और मैं ही अक्षय काल हूँ। ['कालः कलयतामहम्' पूर्व में कहा गया है। फिर यहाँ कहा जा रहा है 'अहमेवाक्षयः कालः' इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व में जिस काल के विषय में कहा गया है उस काल से आयुगणना होती है। अतः आयुक्षय होने से उस काल का भी नाश हो जाता है। और अभी श्रीभगवान् कहते हैं कि जो काल प्रवाहरूप से अक्षय्य है वह मैं ही हूँ।] कर्मफल दाताओं में मैं ही सर्वतोमुख धाता अर्थात् विधाता हूँ (१०।३३)। संहारकारियों में मैं सर्वसंहारकारी मृत्यु हूँ, भविष्य में कल्याणप्राप्ति के योग्य जो कुछ है उसका जो उद्भव अर्थात् अभ्युदय (वृद्धि) है, वह भी मैं हूँ। धार्मिक नारियों की नाना दिशा में तथा नाना देश में जो कीर्ति (ख्याति) फैल जाती है वह भी मैं ही हूँ जो श्री [अर्थात् धर्मार्थकामरूप सम्पद अथवा शरीर की जो शोभा या कान्ति] देखी जाती है, वह भी मैं ही हूँ। वाणी (सरस्वती अर्थात् सर्वार्थ की प्रकाशिका संस्कृता वाणी) भी मैं हूँ। स्मृति (पूर्व के अनुभूत विषय के स्मरण करने की शक्ति), मेधा (बहुत ग्रंथों का अर्थ धारण करने की शक्ति), धृति 'रोगादि द्वारा शरीर अवसन्न होने पर

इन्द्रियादि की चपलता निवारण कर ध्येय वस्तु में चित्त को स्थिर रखने की शक्ति), क्षमा (हर्षविषाद में चित्त का अविकृत भाव), ये धर्म की सात पत्नियाँ हैं। इनका सामान्य आभास मात्र रहने से कोई भी स्त्री सर्वलोक में आदरणीय (पूज्य) होती है। अत एव स्त्रियों के लिये ये जो सब उत्तमत्व के लक्षण हैं ये सब मैं ही हूँ (१०।३४)। सामवेदोक्त मन्त्रों में मैं ही बृहत् साम हूँ। छन्दविशिष्ट मंत्रों में गायत्री मंत्र मैं हूँ [गायत्रीमंत्र ही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के द्वितीय जन्म का हेतु होता है, अत एव गायत्री श्रेष्ठ है]। वैशाखादि द्वादश मासों में अग्रहायण मास मैं हूँ। [नूतन शस्य शाकादि अग्रहायण मास में उत्पन्न होने के कारण एवं उस मास में शीत अथवा ग्रीष्म की प्रबलता न रहने के कारण अग्रहायण मास श्रेष्ठ माना जाता है]। ऋतुओं में सुगंन्धि-युक्त सर्व प्रकार के कुसुम का आकर (खान) अतिरमणीय वसन्त ऋतु मैं ही हूँ (१०।३६)। जो लोग परस्पर में वंचना करते हैं उन लोगों का प्रधान उपाय है अक्षादि (अर्थात् दूसरे का सर्वस्व अपहरण करने का उपाय है द्युतक्रीड़ा,) वह मैं ही हूँ। तेजस्वी (अत्यन्त प्रभावशाली) व्यक्तियों में जो प्रभाव दृष्ट होता है वह भी मैं हूँ। विजयी पुरुषों में जय मैं हूँ। उद्यमकारी व्यक्तियो में मैं व्यवसाय हूँ अर्थात् जिस उद्यम द्वारा अवश्य फल लाभ होता है वह उद्यम मैं हूँ। सात्त्विक व्यक्ति का सत्त्व मैं हूं अर्थात् सत्त्वगुण का कार्य धर्मज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इत्यादि मैं ही हूँ (१०।३६) वृष्णि-वंशीयों में मैं वासुदेव (श्रीकृष्ण) हूँ। पाडवों में मैं धनञ्जय हूँ। मुनियों में (मननशील ज्ञानियों में) मैं व्यास हूँ। कवियों में (क्रान्तदर्शी अर्थात् सूक्ष्म विषय के सम्बन्ध में विवेक करने में जो लोग समर्थ है उनलोगों में) मैं उशना कवि अर्थात् शुक्राचार्य हूँ (१०।३७)। दमनकारियों में (शासनकर्ताओं में) मैं दंड (अर्थात् दुष्टको निग्रह करने का उपायरूप दंड जिसके द्वारा असंयत पुरुष भी संयत होते हैं वह) मैं हूँ। जो लोग जयलाभ करने की इच्छा करते हैं उनलोगों में साम, दाम, दण्ड, भेदरूपा नीति मैं ही हूँ। गुह्यविषयों में मैं मौन हूँ। (श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा मेरा जो अनुसंधान किया जाता है, उसको मौन कहा जाता है कारण वह किसी के पास प्रकाश करने के योग्य नहीं है)। फिर मैं तत्त्वज्ञानी का ज्ञान [अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन परिपक्व होने पर जो अद्वितीय आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञान से सभी अज्ञान नष्ट होते हैं वह तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ (१०।३८)। जो (मायोपाधिक) चैतन्य सर्वभूतों का बीज (उत्पत्ति का कारण) है वह मैं ही हूँ। मुझसे अतिरिक्त चराचर कोई भूत (वस्तु) नहीं है, कारण वे सब मेरे ही कार्य हैं (१०।३९)।

भगवान् की विभूति भी मायिक एवं परिच्छिन्न है। उन विभूतियों के अधिष्ठानरूप परब्रह्म को जानना ही मनुष्यजीवन का चरम उद्देश्य है। [१०।४०–४१]

हे अर्जुन ! तुम तो परन्तप अर्थात् काम क्रोध लोभादि शत्रु को तप्त करने में समर्थ हो। अत एव मेरी माया तुमको मुग्ध कर नहीं सकेगी यह मैं जानता हूँ। मेरी दिव्य विभूतियों के समूह का अन्त नहीं है अतः उनका सम्पूर्ण रूप से वर्णन करना किसीके लिये सम्भव नहीं है। अब मेरी जो दिव्य विभूतियों का विस्तार किया गया है वह केवल संक्षेप से मैंने तुमको कहा (१०।४०)। जो जो सृष्टपदार्थ ऐश्वर्ययुक्त तथा लक्ष्मीयुक्त एवं बलशाली हैं वे मेरी विशेषशक्ति के अंश से उत्पन्न हुए हैं, इस प्रकार जानना (१०।४१) अथवा इतना अधिक जानने का क्या प्रयोजन है ? इस चिदचिदात्मक (चेतन व जड़ात्मक) सभी जगत को मैं मेरे केवल एक देश में (एकांश में) धारण करता हूँ अर्थात् सब में मैं व्याप्त होकर विद्यमान हूँ। [मेरे बिना जब अन्य कुछ भी नहीं है-स्थावर जंगम सभी वस्तु के अणुपरमाणु में जब मैं ही व्याप्त हूँ तब मेरी परिच्छिन्न (सीमित एवं अनित्य) विभूति का दर्शन करने से क्या लाभ है ? सर्वत्र मेरे अखंडाद्वितीय परिपूर्ण स्वरूप को ही दर्शन करते हुए मायिक विभूतियों के दर्शन का त्याग कर मुझको ही तुम्हारी यथार्थ आत्मा जानकर कृतकृत्य हो जाओ यही कहने का अभिप्राय है। (१०-४०-४१)

एकादश अध्याय का तात्पर्य

गुरु का उपदेश सुनकर किस प्रकार अज्ञानजनित मोह से मुक्त हुआ जाना जा सकता है-वह कहा जा रहा है :–[११।१–२]

अर्जुन ने कहा—मेरे प्रति अनुग्रह कर मेरी शोकनिवृत्ति के लिये तुमने परमकारुणिक सर्वज्ञ ईश्वर जो परम गोपनीय (अतिरहस्यपूर्ण अर्थात् सभी को कहा नहीं जा सकता इस प्रकार) अध्यात्मसंज्ञितम् (अनात्मवस्तु से आत्मा के विवेक के सम्बन्ध में) जो सब वाक्य अब तक मुझे सुनाये हैं उसके द्वारा मेरा मोह (अर्थात् मैं हन्ता हूँ और सन्मुख युद्ध में जो सब विपक्षी सेनादल खड़े हैं वे मेरे द्वारा हत होंगे, इस प्रकार मेरा अविवेक-जनित जो भ्रम था वह बिनष्ट हुआ है (११।१)।

हे कमलपत्राक्ष ! [कमल के पत्र के उपर स्थित जल जैसे कमल-पत्र को सिक्त (गिला) नहीं कर सकता तुम भी उस प्रकार यह विश्वसृष्टि

करके भी सदा ही असंग और निर्लिप्त रहते हो।] तुमसे भूतवर्ग की उत्पत्ति और प्रलय कैसे होते हैं ? (अर्थात् जगत का तत्त्व क्या है ? वह) अत्यन्त विस्तृत रूप से मैंने बारंबार श्रवण किया है एवं साथ साथ तुम्हारा अव्यय (अक्षर, अविनाशी नित्य) माहात्म्य भी श्रवण किया है (११।२)। (माया के द्वारा विश्व का सृष्ट्यादि कार्य होते रहने पर भी तुम्हारा कोई विकार नही होता है। लोगों के शुभाशुभ कर्मों का फलभोग देते रहने पर भी तुममें कोई विषमभाव नहीं है, बन्धमोक्षादि विचित्रफल तुम्हें आश्रय कर प्रतीत होते रहने पर भी तुम सदा ही असंग और उदासीन ही रहते हो—यही तुम्हारा अपूर्व माहात्म्य है। तुम सर्वभूतों की आत्मा हो, अतः मेरे 'मैं' भी तुम ही हो। मेरी आत्मा में जो कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, संगत्व, विकारित्व नही है वह तुम्हारे वाक्यों से ज्ञात होकर मैं अज्ञानजनित मोह से मुक्त हुआ हूँ—यही अर्जुन के कहने का अभिप्राय है।]

मोहमुक्त होने पर सर्वात्मा भगवान का विश्वरूप देखने की इच्छा होती है। [११।३-४]

'मेरे एकांश के द्वारा मैं सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर विद्यमान हूँ' इस प्रकार तुमने कहा है, अर्थात् एक ओर तुम निरुपाधिक सच्चिदानन्दस्वरूप पुरुषोत्तम हो और दूसरी ओर सोपाधिक होकर तुम ही सृष्टि-स्थिति-प्रलय के कर्त्ता परमेश्वर हो, इस प्रकार जो कहते हो वह मैं ठीक ही समझ रहा हूँ अर्थात् उसमें अविश्वास करने की कोई बात ही नहीं है। अतः तुम्हारे वाक्यों से तुम्हारे यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में मैं संशयरहित हुआ हूँ। तथापि हे पुरुषोत्तम ! तुम्हारा ऐश्वररूप अर्थात् ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेज-सम्पन्न तुम्हारा अद्भूत वैष्णव (सर्वव्यापी) रूप देखना (साक्षात् करना) चाहता हूँ (१०।३)। हे प्रभो ! यदि तुम समझते हो कि तुम्हारा वह ऐश्वर-रूप (विश्वरूप) दर्शन करने की योग्यता मुझमें है, तब हे योगेश्वर ! (सभी अणिमादि सिद्धिशाली योगियों के भी ईश्वर !) मुझको तुम्हारी अव्यय (अविनाशी) ऐश्वररूप विशिष्ट आत्मा का (अपने स्वरूप को) प्रदर्शन करो (११।४)।

भगवान के विश्वरूप का प्रदर्शन। [११।५-४०]

श्रीभगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! मेरे दिव्य अर्थात् अत्यन्त अद्भूत अप्राकृत (अलौकिक) अनेक प्रकार के नीलपीतादि वर्ण और आकृतिविशिष्ट

शत-सहस्र (अर्थात् अपरिमित एवं असंख्य) रूप का दर्शन करो (११।५)। मुझमें द्वादश आदित्य, अष्टवसु, एकादश रुद्र, अश्विनीकुमार द्वय उनपंचाशत् मरुद्गण का दर्शन करो और साथ साथ अनेक अदृष्टपूर्व (इसके पूर्व अन्यत्र कहीं भी दृष्ट नही हुआ है इस प्रकार) आश्चर्य (अद्भुत) वस्तु का भी दर्शन करो (११।६)। हे गुड़ाकेश (जितनिद्र) अर्जुन ! तुम देखो सभी सचराचर (स्थावर जंगम सहित) जगत् मेरे देह के एक देश में स्थित हैं। अन्य (कुरुक्षेत्र के युद्ध में जयपराजयादि) जो कुछ भी देखना चाहते हो उन सभी को आज अर्थात् अभी देखो (११।७)। तुम तुम्हारे इस अपने प्राकृत (स्वभावसिद्ध) चर्म चक्षु के द्वारा विश्वरूपधारी मुझको देख नही सकोगे, इसलिये मैं तुमको दिव्य (अप्राकृत अर्थात् मेरा दिव्यरूप दर्शन करने में समर्थ) चक्षु दे रहा हूँ। तुम उस दिव्य चक्षु के द्वारा मेरे (ईश्वर के) असाधारण योग की अर्थात् अघटनघटना की सामर्थ्य देखो (११।८)। इस प्रकार कहकर महायोगेश्वर एवं भक्तों के सर्वक्लेशापहारी हरिने एकान्तभक्त अर्जुन को दिव्य चक्षु प्रदान करने के बाद परम ऐश्वर्य के रूप का दर्शन करवाया (११।९)। वह रूप कैसा है ? यह कहा जा रहा है। उस ऐश्वरिक रूप में अनेक मुख एवं नेत्र, अनेक अद्भुत देखने के विषय, अनेक दिव्य आभरण (आभूषण) एवं अनेक दिव्य उद्यत आयुध (अस्त्र) थे (११।१०)। अर्जुन ने और भी देखा कि उस विश्वरूप में परमेश्वर ने धारण किये हुए हैं दिव्यमाला और दिव्यवस्त्र एवं दिव्य गन्ध द्रव्य से अनुलिप्त अत्यन्त आश्चर्यमय द्युतिमान (प्रकाशशील) अनन्त (अपरिच्छिन्न) और सर्वत्र मुखविशिष्टरूप (११।११)। आकाश में सहस्र (अपरिमित) सूर्य एकसाथ उदित होनेपर जो प्रभा प्रकाशित होती है वह उस महात्मा की (विश्वरूप की) प्रभा के समान हो सकती है। उनके प्रकाश की अन्य कोई उपमा नहीं है। इस प्रकार का रूप भगवान ने अर्जुन को दिखाया (११।१२)। अर्जुन ने उस समय देवताओं के भी देव (ईश्वर) जो भगवान हरि है उनके उस विश्वरूप शरीर में देवलोक, पितृलोक, मनुष्यलोक प्रभृति नाना प्रकार के एवं नाना भागों में विभक्त जगत को एकत्र स्थित देखा अर्थात् भगवान के (विश्वरूप के) प्रति रोमकूप में जगत को स्थित देखा (११।१३)। इस प्रकार देखता हुआ अर्जुन विस्मित और पुलकित होकर रोमाञ्चित हुआ। वह विश्वरूप नारायण को अवनत (भूमि में नत) मस्तक से अत्यन्त भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर हाथ जोड़कर कहने लगा— (११।१४)। हे देव ! तुम्हारे देह में (विश्वरूप में) मैं आदित्यादि सभी देवता को, स्थावर जंगम नानाविध भूतों के समूह को भगवान के नाभि-

कमलासन में स्थित एवं प्रजाओं के नियन्ता चतुर्मुख ब्रह्मा को एवं वशिष्ठादि सभी दिव्य ऋषियों को एवं वासुकि प्रभृति सभी सर्पगणों को देख रहा हूँ (११।१५)। हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप, अनेकबाहु, अनेकउदर, अनेक-मुख, अनेकनेत्रविशिष्ट अनन्तरूपधारी तुमको ही सर्वत्र देख रहा हूँ । तुम सर्वगत हो इस कारण तुम्हारा अन्त, मध्य एवं आदि मैं देख नहीं पा रहा हूँ (११।१६)। किरीट (मुकुट) गदा, चक्रविशिष्ट, सर्वत्र दीप्तिशाली तेजोराशि जो दुर्निरीक्ष्य है (अर्थात् दिव्य चक्षु के बिना साधारण आखों से जिसे देखा नहीं जा सकता) एवं प्रदीप्त अग्नि एवं सूर्य के समान तेजशाली अप्रमेय (असीम) तुमको ही सभी दिशाओं में एवं सभी स्थानों में देख रहा हूँ। (११।१७) [प्रश्न होगा—मैं जब दुर्निरीक्ष्य हूँ तब तुम देख रहे हो कैसे ? उत्तर—जो चर्मचक्षु के द्वारा 'इदं' रूप में (विषय रूप में) तुमको देखना चाहते हैं उनके निकट तुम दुर्निरीक्ष्य हो। इसलिये श्रुति कहती हैं—'तदेव ब्रह्म तद्विद्धि नेदं यदिदमुपासते' किन्तु जो लोग तुम्हारी कृपा से दिव्यचक्षु प्राप्त किये हैं वे ही विक्षेपरूप से अधिकारी होकर तुम्हें देख (जान) सकते हैं, यही कहने का अभिप्राय है।] तुम ही अक्षर (क्षयहीन) परब्रह्म हो, तुम ही मुमुक्षुगण के लिये वेदान्तश्रवणादि द्वारा एकमात्र ज्ञातव्य विषय हो, तुम ही इस विश्व का प्रधान आश्रय (आधार) हो, तुम ही एकमात्र अव्यय हो अर्थात् तुम्हारे स्वरूप का, गुण का या विभव का किसी समय में भी क्षय नहीं होता। अतः तुम ही एकमात्र नित्य, अविकारी वस्तु हो, तुम नित्य वेद के द्वारा प्रतिपादित शाश्वत (सनातन) धर्म के पालयिता हो। अतः तुम सनातन (चिरन्तन) पुरुष अर्थात् परमात्मा हो। इस प्रकार से तुम मेरे निकट अब विदित (ज्ञात) हो रहे हो (११।१८)। मैं और भी देख रहा हूँ कि—तुम आदि (उत्पत्ति), मध्य (स्थिति), अन्त (लय) से रहित हो। तुम्हारे वीर्य का अर्थात् ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, शक्ति और तेज की अवधि (शेष) नहीं है, तुम्हारे बाहु असंख्य हैं, चन्द्र और सूर्य तुम्हारे दो नेत्र हैं [चन्द्र के द्वारा प्रसाद (प्रसन्नता) और सूर्य के द्वारा प्रताप सूचित हो रहा है। देवादिगण सदा ही भगवान् के अनुकूल होकर प्रणामादि करते हैं। अतः भगवान भी उनके प्रति नेत्र के द्वारा प्रसाद वितरण करते हैं। और जो लोग विपरीत हैं अर्थात् जो लोग असुर और राक्षस हैं इनके प्रति नेत्र से भगवान् प्रताप (अतिशय ताप) प्रदान करते हैं। यही 'शशिसूर्यनेत्रम्' पद का तात्पर्य है।] और भी देख रहा हूँ कि तुम्हारा मुख प्रदीप्त अग्नि के समान है, और तुम तुम्हारी अपनी तेज के द्वारा इस विश्व को तापित कर रहे हो

(११।१९)। तुम्हारा स्वभाव महान् है क्योंकि तुम साधुओं को सदा ही अभयदान करते हो। स्वर्ग और पृथ्वी का अन्तर (अवकाश) जो अन्तरीक्ष है वह एवं दिक् समूह एकमात्र विश्वरूपधारी तुम्हारे द्वारा ही परिव्याप्त है। तुम्हारी यह अद्भुत (अत्यन्त विस्मयकर) उग्रमूर्ति का दर्शन कर त्रिलोक अत्यन्त व्यथित (भीत) हो रहा है (११।२०)। ['यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' इत्यादि कह कर अर्जुन ने जय लाभ करेंगे या पराजित होंगे इस विषय में संशय प्रकाश किया था। युद्ध में पाण्डव का ही जयलाभ होगा यह दिखाने के लिये भगवान् को प्रवृत्त देखकर अर्जुन कहने लगे] युद्ध में अवतीर्ण इन सभी सुरवीरगण युद्ध करते-करते विश्व के आश्रयरूप तुममें प्रवेश कर रहे हैं। पुनः उभय सेनाओं में कोई कोई पलायन में अशक्त होनेपर भीत होकर हाथ जोड़कर 'जय जय रक्ष रक्ष' इत्यादि कहकर प्रार्थना कर रहे हैं। फिर नारद प्रभृति महर्षि और सिद्धगण जो लोग युद्ध देखने के लिये उपस्थित थे वे लोग युद्ध में उत्पातादि अशुभ लक्षण दर्शन कर सभी जगत् के कल्याण के लिये 'स्वस्ति हो' यह कहकर भगवान् के गुणों के उत्कर्ष प्रतिपादक परिपूर्ण अर्थविशिष्ट स्तुतियों से विश्व के विनाश को रोकने के लिये स्तवन कर रहे हैं (१०।२१)। एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, साध्यगण, विश्वेदेवगण, अश्विनिकुमारद्वय, उनपचास मरुत् (वायु), उष्मपा नामक पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धगण सभी विस्मित होकर तुमको देख रहे हैं (११।२२)। बहुमुख, बहुनेत्र, बहुबाहु, बहुउरु, बहुपाद एवं बहुउदरविशिष्ट एवं बहुदंष्ट्रा (दाँत) द्वारा कराल (अति भयानक) तुम्हारा यह महान् (अतिविस्तृत) रूप देखकर सभी लोग अत्यन्त व्यथित (भीत) हुए हैं एवं मैं भी भय से विचलित हो रहा हूँ (११।२३)। हे विष्णो (सर्वव्यापिन्)! तुम्हारे आकाशव्यापी प्रज्वलित नाना वर्णविशिष्ट विस्फारित मुख को एवं प्रज्वलित विस्तीर्ण चक्षुविशिष्ट तुम्हें देखकर मेरी अन्तरात्मा (मन) प्रव्यथित होने के कारण मैं धैर्य एवं शम (मन की प्रसन्नता तुष्टि) लाभ नहीं कर पा रहा हूँ (११।२४)। [तुम्हारी सर्वव्यापिनी अत्यन्त अद्भुत एवं अतिघोर मूर्ति देखकर मेरे सभी अवयव अत्यन्त शिथिल हो जा रहे हैं एवं अन्तःकरण भी अत्यन्त व्याकुल हो रहा है। इस कारण धैर्यधारण नहीं कर पा रहा हूँ।] तुम्हारे मुखों को दंष्ट्रायें (दाँत) विकृत होकर भयंकर हुए हैं एवं युग के अन्तकाल में सभी वस्तुओं के संहार करने में प्रवृत्त होनेपर कालाग्नि (प्रलयाग्नि) जिस प्रकार होता है उस प्रकार अत्यन्त भयप्रद तुम्हारे मुखसमूहों को देखकर भय के वशीभूत होकर मैं

किधर कौन दिशा है यह ज्ञान खो बैठा हूँ अर्थात् मुझे दिग्भ्रम हो रहा है। अतः यह भयंकर रूप तुम्हारा ही है यह जान कर भी मैं सुख नहीं पा रहा हूँ। हे देवताओं के ईश्वर! हे जगत के आधार (आश्रय)! मेरे प्रति प्रसन्न होओ जिससे मैं भयरहित होकर तुम्हारे विश्वरूप का दर्शनजनित सुख पा सकूँ (११।२५)। श्रुति में यही पुनः पुनः कहा गया है कि भगवान् ने उनकी कल्पनाशक्ति के द्वारा (माया के द्वारा) विश्वप्रपञ्च को अपने आधार पर प्रकाशित कर भूत, भविष्यत् और वर्तमान में इस विश्वप्रपञ्च के परिणाम क्या होगा? यह एक साथ निर्धारित किये है [ऋग्वेद में भी ऐसा ही कहा गया है– यथा "स यथापूर्वमकल्पयत्"] एवं उसके अनुसार अपनी ही जीवात्मा के रूप में प्रवेश कर वेही स्थावर और जंगम रूपमें लीला करने लगे [तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्—(छा० उ०) जीवेनात्मनानुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्–(तै० उ०)]। अतः उनके विश्वरूप में (विराट् देह में) युद्ध का भविष्यफल क्या होगा? यह दिखाना भगवान् के लिए सदा ही सम्भव है। अर्जुनने भी विश्वरूप का दर्शन कर युद्ध के परिणाम को भगवान् की कृपा से देखा एवं विस्मित होकर कहने लगा—यह सभी धृतराष्ट्र के पुत्रगण, जयद्रथादि राजगण, भीष्म, द्रोण, कर्ण और विपक्षीय नेता के समान हमारे भी प्रधान प्रधान योद्धृगण तुम्हारी दंष्ट्रा के द्वारा विकृत भयंकर मुहसमूह की ओर धावित होकर उनमें प्रवेश कर रहे हैं। उनमें से किसी किसी का चूर्णित मस्तक तुम्हारे दाँतों में संलग्न है, इसप्रकार दीख पड़ता है (११।२६-२७)। जैसे नदियों की गति भिन्न-भिन्न दिशाओं में रहने पर भी उनके जल का वेग (प्रवाह) समुद्र की ओर ही प्रवाहित होकर अन्त में समुद्र में ही प्रवेश करता है उस प्रकार दुर्योधन, जयद्रथ, भीष्म, द्रोणप्रभृति मनुष्यलोक के वीरगण चारों ओर से तुम्हारे प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं (११।२८)। जिसप्रकार ज्वलन्त अग्नि में सब पतंग अत्यन्त वेग के साथ (बुद्धिपूर्वक अर्थात् सन्तोष के साथ इच्छापूर्वक) मरने के लिए प्रवेश करते हैं उसी प्रकार दुर्योधन प्रभृति इन सभी लोगों के साथ मरने के लिये बुद्धिपूर्वक अत्यन्तवेग से तुम्हारे मुहसमूह में प्रवेश कर रहे हैं (११।२९)। हे विष्णो (सर्वव्यापिन्), मैं देख रहा हूँ कि तुम इस प्रकार से अत्यन्त वेग से तुम्हारे मुह में प्रविष्ट दुर्योधनादि सभी लोगों को तुम्हारे प्रज्वलित मुहसमूह द्वारा चारों ओर से ग्रास कर स्वाद ग्रहण कर रहे हो। और समग्र जगत को तेज से आपूरित (पूर्ण) कर तुम्हारी उग्रप्रभा के द्वारा (प्रज्वलित अग्नि के समान) सन्ताप प्रदान कर रहे हो (११।३०)। हे देववर (देवताओं में

प्रधान)। इस उग्ररूपी (अर्थात् अतिक्रूराकार अतिघोर रूप) तुम कौन हो ? अर्थात् क्या करने प्रवृत्त हुए हो,—वह मेरे प्रति अनुग्रह कर मुझे कहो। तुम सभी के गुरु हो। अतः तुमको प्रणाम करता हूँ, तुम प्रसन्न हो (अर्थात् तुम्हारा क्रूरभाव त्याग करो)। तुम आदिपुरुष हो, अर्थात् तुम सब के कारण हो। तुम्हें विशेषरूप से जानने की इच्छा हो रही है कारण तुम किस उद्देश्य से इसप्रकार की संहारमूर्तिधारण में प्रवृत्त हुए हो वह मैं नहीं जानता हूँ अर्थात् नहीं समझ सकता हूँ (११।३१)। श्रीभगवान् ने कहा—लोगों के क्षयकर्ता के रूपमें मैं प्रवृत्त हुआ हूँ। अर्थात् अत्युत्कृष्ट भाव धारण किया हूँ। सब का संहार करनेवाला कालरूपी परमेश्वर मैं दुर्योधनादि प्राणियों को सम्यक् प्रकार से भक्षण करनेके लिये (संहार करने के लिए इस समय प्रवृत्त हुआ हूँ। तुम्हारे युद्ध न करने पर भी (तुम्हारे बिना भी मेरे अपने संकल्प से ही प्रतिपक्ष सेनादल में जो सभी योद्धा अवस्थान कर रहे हैं उनमें कोई भी नहीं रहेंगे। [सृष्टि के प्रारम्भ में ही मेरे इस विश्वनाटक में कौन किस प्रकार अभिनय करेगा, किस समय किसे किस प्रकार से मरना पड़ेगा यह सब पूर्व से ही निर्धारित है। तुम इस युद्ध का उपलक्षणमात्र हो। यदि समझो कि तुम्मारे युद्ध नहीं करने से ये सब नहीं मरेंगे तब यह समझना भूल ही होगा कारण इन सबकी इस युद्ध में मृत्यु निश्चित है। द्वितीयतः तुम चुप-चाप बैठ नहीं सकोगे कारण तुमको निमित्त कर के ही इनका विनाश करने का संकल्प मैं सृष्टि के प्रारम्भ में ही कर चुका हूँ। अतः विवश होकर ही तुम्हें इनका विनाश करना पड़ेगा ठीक जैसा स्वप्नदृश्य के सभी व्यक्ति स्वप्नद्रष्टा की स्वाभाविक कल्पना के वशीभूत होकर कार्य करते हैं। असली बात यह है कि तुम मेरे हाथों में यन्त्रमात्र हो तथापि 'इस युद्ध में अर्जुन ने सब विपक्षी सेनाओं का बध किया' इसप्रकार सभी लोग जब कहेंगे तब तुम पृथिवी में यश प्राप्त करोगे (११।३२)।]। अतः तुम युद्ध के लिये उत्थित हो (उठो) एवं दुर्जय दुर्योधनादि शत्रुओं को जय कर यश लाभ करके निष्कंटक (शत्रुहीन) स्वोपार्जित राज्य भोग करो। [लोगों की दृष्टि में तुम सर्वश्रेष्ठ वीर रूप से प्रसिद्ध हो कारण तुम्हें वामहस्त से भी शर सन्धान करने में समर्थ हो। इस कारण तुम्हें सभी सव्यसाची कहते हैं। परन्तु तुम्हें स्मरण रखना पड़ेगा कि मेरी शक्ति से ही तुम शक्तिमान हो तुम्हारा स्वतन्त्र कोई वीर्य या शक्ति नहीं है। पूर्व में ही (अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में मेरी यह विश्वनाटक कल्पित (रचित) होने के समय में ही) मेरे द्वारा ये हत अर्थात् निश्चयरूप से हत हुए हैं जिस प्रकार रामायण में

पूर्व से ही रावण और उस का कुल किस कारण से और कब ध्वंस को प्राप्त होने वाले हैं यह निर्धारित हो चुका है। अर्जुन नामक एक पाञ्चभौतिक पिण्ड को यश देने के लिये ही उसे निमित्त कर इस कुरुक्षेत्र युद्ध में इन राजा लोगों का विनाश करूँगा इस प्रकार सत्यसंकल्प स्वरूप मैंने संकल्प कर रखा है—तुम इनकी मृत्यु के उपलक्षणमात्र हो (११।३३)। द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण जिनके अद्भुत वीरत्व के लिए तुम्हारी आशंका और भय होना स्वाभाविक है। वे तथा अन्यान्य वीरगण भी कालात्मा मेरे द्वारा मानो पहले ही निहत हो चुके हैं। तुमको उन निहतों का ही हनन (बध) करना होगा—इन्हें किस प्रकार से निहत करने में समर्थ होऊँगा इस प्रकार का भय अथवा आशंका करना उचित नहीं होगा। युद्ध करो, संग्राम में तुम शत्रुगण को निश्चय रूपसे जय करोगे (११।३४)। सञ्जयने अभी धृतराष्ट्र को कहा—श्रीकृष्ण के पूर्वोक्त बचन सुनकर इन्द्रदत्त किरीट को परिधान करनेवाला अर्जुन (भगवान् के विश्वरूप में भीष्म द्रोणादिको निहत देखकर अत्यन्त आश्चर्यान्वित होकर) कृताञ्जलि तथा कम्पित कलेवर से प्रणाम करने लगा एवं अतिशय भीत होकर प्रणाम करते-करते भय से और हर्ष से तथा अश्रुपूर्णनेत्र के साथ गद्गद् वाक्य से पुनः कहने लगा (११।३५)। [श्रीकृष्ण के वाक्य श्रवण कर अर्जुन के कम्पान्वित कलेवर तथा भीत से भी भीत होकर बार बार प्रणाम करते हुए गद्गद् (रुद्ध) कंठ से कृताञ्जलि होकर पुनः जो वाक्य कहा उससे यही सूचित होता है कि केवल अर्जुन ही भय से, विस्मय से एवं भक्ति से अभिभूत हुआ था यही नहीं—इसप्रकार अत्यन्त अद्भुत घटना का वर्णन करते करते सञ्जय स्वयं भी अभिभुत हुये थे।] अर्जुन कहने लगा—हे हृषीकेश (सर्वेन्द्रियप्रवर्तक) ! तुम्हारा प्रभाव अत्यन्त अद्भुत एवं तुम स्वयं भक्तवत्सल हो अतएव तुम्हारी प्रकृष्ट कीर्ति द्वारा अर्थात् तुम्हारे माहात्म्य, कीर्तन एवं श्रवण द्वारा केवल मैं ही नहीं, किन्तु राक्षस बिना समस्त जगत् अतीव हर्षलाभ करेगा एवं तुम्हारे प्रति अनुरक्त होगा वह युक्त (स्वाभाविक) ही है। राक्षसकुल भय से जो दिगदिगन्त में (सर्वदिक् में इधर-उधर) भाग जायेंगे योग, मन्त्र, तप इत्यादि द्वारा सिद्ध योगियों का संघ जो तुमको नमस्कार करेंगे वह भी युक्तियुक्त ही (स्वाभाविक ही) है (११।३६)। तुम तो महात्मा (परमोदारचित्त) हो, तुम्हारा स्वरूप अनन्त है अर्थात् असीम तथा अपरिच्छिन्न है। तुम देवताओं के भी ईश (नियन्ता) हो, तुम सारे जगत् का आश्रय हो, तुम ब्रह्मा से भी गरीयान् (श्रेष्ठतर) हो, तुम ब्रह्मा के भी (हिरण्यगर्भ के भी) आदिकर्ता (जनक) हो। अतएव जगत्

तुमको क्यों नहीं नमस्कार करेगा ? तुम ही सदसत् हो अर्थात् सभी व्यक्त और अव्यक्त वस्तु रूप में तुम ही विद्यमान हो। फिर वह व्यक्ताव्यक्त के मूल कारण जो अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म है वह भी तुम ही हो। अतएव तुमसे भिन्न और दूसरी वस्तु कुछ नहीं है। [माया से सृष्ट हुए इस विश्व के अणु परमाणु में तुम ही व्याप्त हो एवं तुम ही एकमात्र सत्य वस्तु हो जैसे चलचित्र का सभी दृश्य वस्तुओं में एकमात्र श्वेतवस्त्र खंड ही व्याप्त रहता है एवं वही वस्त्रखंड ही सत्य है और सब मिथ्या है]। इस कारण तुम्हें सभी प्राणी नमस्कार करेंगे उसमें आश्चर्य कुछ नहीं है (११।३७)। (तुम अनन्तरूप हो अर्थात् तुम अपरिच्छिन्न स्वरूप (असीम) हो इसलिये श्रुति तुमको 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहकर वर्णन करती है। तुम देवताओं के आदि (स्रष्टा) हो, तुम ही एकमात्र पुरुष हो कारण देह नामक पुर में तुम शयन करते हो अर्थात् प्रतिदेह के अणु परमाणु में तुम आत्मरूप से व्याप्त हो फिर तुम ही पुराण (चिरन्तन) हो, क्योंकि तुम्हारा अस्तित्व किसी भी समय लुप्त नहीं होता है ['पुरा अपि नव' अर्थात् अनादि काल से तुम विद्यमान हो और अनन्त काल तक तुम नित्य नव-नव (नये-नये) रूप में प्रकाशित होओगे]। तुम विश्व का परम निधान (लयस्थान) हो, कारण विश्वरूप इन्द्रजाल तुम्हें ही अधिष्ठान कर प्रकाशित हो रही है एवं महाप्रलय के समय तुम्ही में लय हो जायगो। तुम ही विश्व का ज्ञाता (द्रष्टा) हो फिर तुम ही ज्ञेय अर्थात् दृश्य हो, तुम ही परमधाम हो अर्थात् वेत्ता और वेद्य से (द्रष्टा और दृश्यवस्तुसमूह से) विलक्षण (पृथक्) सच्चिदानन्दघन हो अर्थात् अविद्या एवं अविद्या के कार्य से निर्मुक्त जो विष्णु का परमपद कहा जाता है एवं जिसे प्राप्त होने से फिर संसार में पुनरावर्तन नहीं होता है वह विष्णुपद (मोक्षरूप धाम) तुम ही हो। सच्चिद्रूप से (अर्थात् सत्ता और स्फुरण द्वारा) कल्पित (मिथ्या) विश्व की सत्ता एवं स्फूर्ति (प्रकाश) दान करके तुम ही सर्वरूप में व्याप्त अर्थात् तुम ही सर्वत्र और सर्वरूप में स्थित हो (११।३८)।

वायु, यम, अग्नि, जलाधिपति, वरुण, शशांक (चन्द्रमा), कश्यपादि, प्रजापति, पितामह ब्रह्मा के पिता (अर्थात् सर्वकारण के भी कारण) तुम ही हो। तुम्हें सहस्र-सहस्र वार नमस्कार करता हूँ, फिर पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ। [विश्वरूप दर्शन कर परमात्मा के अस्तित्व का सर्वत्र अनुभव करने पर उस अनन्त सत्ता में अपनी परिच्छिन्न सत्ता को विलय कर देने के लिये तीव्र संवेग होता है। इस कारण श्रद्धा भक्ति के आधिक्यवश उस अखण्डाद्वितीय सत्ता को

बारबार नमस्कार करके भी मानो कोई तृप्ति नहीं हो रही है]। हे सर्व ! तुम्हें सम्मुख में नमस्कार करता हूँ, तुम्हें पश्चात् में नमस्कार करता हूँ, तुम सर्वत्र स्थित हो इसलिये तुमको सभी दिशाओं में ही नमस्कार करता हूँ । तुम्हारे वीर्य की (बल की) कोई सीमा नहीं है तुम्हारे विक्रम की भी (पराक्रम की भी) कोई तुलना नहीं है। तुम सारे जगत् में सद्रूप से (सर्वात्मरूप से) व्याप्त हो। अतएव तुम ही सब हो। तुमसे अतिरिक्त (पृथक्) कोई वस्तु ही नहीं है [जगत् तुम्हारी कल्पना द्वारा सृष्ट है। कल्पित वस्तु की सत्ता अधिष्ठान की सत्ता से पृथक् नहीं है। कुंडल का अणुपरमाणु में जैसे कनक (स्वर्ण) व्याप्त रहता है, अथवा रज्जु सर्पभ्रान्ति में जैसे रज्जु समस्त सर्प में व्याप्त रहता है, उसीप्रकार कल्पित विश्वप्रपंच का सर्व नामरूप एवं क्रिया में तुम ही एकमात्र सद्वस्तुरूप में व्याप्त हो। अतः तुम ही सब हो (११।४०)]।

जीवात्मा स्वरूपतः विश्वव्यापी परमात्मा ही है, यह जानने पर जीव उनकी पूर्व भ्रान्ति के लिये परमात्मा के निकट क्षमाभिक्षा करते हैं। [११।४१–४४]

तुम्हारे इस विश्वरूप के माहात्म्य को मान जानने के कारण मोहवश अथवा प्रणयवश तुम्हें समानवयस्क सखा जानकर कभी 'हे कृष्ण', कभी 'हे यादव', कभी 'हे सखे' इसप्रकार अपने उत्कर्ष (श्रेष्ठता) दिखाने के उद्देश्य से तुम्हें तिरस्कारपूर्वक मैंने जो कहा है वह 'हे अच्युत (सदानिर्विकार स्वभाववाले) ! विहार (क्रीडा) करते-करते अथवा शय्या में एक साथ सो कर अथवा सिंहासनादि आसन में बैठकर अथवा भोजन करने के समय ऐसा हो सकता है कि (अन्य सब सखा को छोड़कर) एकाकी अथवा उन सब सखा के सन्मुख में परिहास करने के लिये जिस रूप से मैंने तुम्हारा तिरस्कार किया है वह असत्कार जनित अपराध के लिये तुम्हारे निकट क्षमा प्रार्थना कर रहा हूँ। तुम तो अप्रमेय अर्थात् अचिन्त्यप्रभाव हो अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर भी तुम्हारे प्रभाव को नहीं जान पाते हैं। मैं तो क्षुद्र जीव हूँ । मैंने यदि तुम्हारी महिमा न जानकर कोई अपराध किया तो उसे तुम अवश्य ही क्षमा करोगे, यह मैं जानता हूँ (११।४१–४२)। तुम्हारे प्रभाव की कोई उपमा (तुलना) नहीं है। इस स्थावर जंगमात्मक जगत् के तुम ही पिता, पूज्य एवं सभी के ईश्वर होने के कारण तुम ही गुरु हो। अतएव सर्वप्रकार से ही तुम गरीयान् (अन्य सभी से तुम श्रेष्ठ) हो। इस कारण से त्रैलोक्य में तुम्हारे तुल्य कोई नहीं है। जब तुम्हारे (अद्वितीय परमेश्वर के) समान ही कोई नहीं है तब

तुमसे अधिक कैसे हो सकता है ? (११।४३)। चूँकि तुम सभी के पिता पूज्यतम गुरु, एवं स्वभावतः कारुण्यादि गुणविशिष्ट हो अतः तुम सभी से अधिक (श्रेष्ठ) हो। इस कारण से तुमको प्रकृष्टरूप से जमीन में झुककर दंडवत् प्रणाम करके तुम्हारे प्रसाद की प्रार्थना करता हूँ । जैसे पिता पुत्र के, सखा सखा के, पति पतिव्रता प्रिया के अपराध क्षमा करते हैं, तुम भी उसीप्रकार मेरे अपराध को क्षमा करोगे कारण मैं तो तुम्हारा एकांत शरणापन्न हूँ [आत्मा का हमलोग अनादिकाल से ही आहार, विहार और शय्या में तिरस्कार करते आ रहे हैं अर्थात् उनकी सत्ता को भूलकर मिथ्या विषयों को ही प्रिय मानकर उनके पीछे दौड़ रहे हैं। तब भी वे (अर्थात् हमारा चैतन्यस्वरूप 'मैं') मुझको कभी भी परित्याग नहीं करते हैं। वे हमारे पिता, गुरु अन्तर्यामी हैं और फिर वे ही हमारे नित्य सखा और नित्य प्रिय हैं अर्थात् वे हमारे सर्वस्व हैं। वे तो क्षमास्वरूप हैं—उनके निकट अपराध के लिये यदि क्षमाप्रार्थना नहीं करता हूँ, तब किसके निकट करूँगा ? (११-४४)]

विराटरूप (विश्वरूप) की धारणा और ध्यान करना कठिन है इसलिये भगवान् का चतुर्भुजविशिष्ट स्थूलरूप दर्शन करने के लिये अर्जुन व्याकुल हुये। [११।४५–४६]

अर्जुन कह रहे हैं—जो पूर्व में कभी नहीं देखा हूँ वही तुम्हारा विश्वरूप देखकर तुष्ट (आनन्दित) हुआ हूँ यह सत्य है कि तुम्हारे उस भयंकर कालरूप का दर्शन करके भय से भी मेरा मन व्याकुल हुआ है। अतएव तुम्हारा वह प्राचीन रूप मुझे दिखाओ (जो मेरे निकट अत्यन्त प्रिय है)। तुम देवताओं के भी ईश्वर एवं सारे जगत् का आश्रय हो, यह मैं समझ गया हूँ तब भी मेरा वह चिरपरिचित रूप (जिसे मैं इतने दिनोंतक धारणा और ध्यान का अवलम्बन कर रखा हूँ वह रूप) मुझे दिखाकर मेरे प्रति प्रसन्न हो (११।४५)। तुम्हारा वह किरीटधारी, गदाधारी एवं चक्रधारी पूर्वरूप देखना चाहता हूँ। हे सहस्रबाहु धारण करने वाले ? हे विश्वमूर्ते ! तुम अपने इस विश्वरूप का उपसंहार कर किरीटादियुक्त चतुर्भुजरूप में प्रगट हो। अनादिकाल से मन परिच्छिन्न वस्तु में ही रमण करता आ रहा है। इसलिये परिच्छिन्न वस्तु की धारणा करना ही मन के लिये सहज होता है—वह विराट विश्वरूप की धारणा करने में मन व्याकुल हो जाता है इसलिये अर्जुन ने कहा 'धृतिं न विन्दामि शमञ्च' 'दिशो न जाने न लभे च शर्म' (११।२४–२५) अतः अर्जुन जिस प्रकार पूर्व में उनका शंखचक्रगदापद्मधारी इष्टमूर्ति का

हृदय में ध्यान करता था, उस मूर्ति की धारणा कर भगवान् को प्रकट होने के लिये उसने प्रार्थना की (११।४६)]

भगवान् की असीम कृपा से ही उनके ऐश्वरिक रूप (विश्वरूप) को देखा जा सकता है अन्य कोई उपासना से नहीं। फिर वे भक्त के अनुरोध से कोई भी मूर्ति परिग्रह करते हैं [११।४७-५१]

जब अर्जुन भगवान् को चतुर्भुज मूर्ति का दर्शन करना चाहता था तब भगवान् ने कहा—हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर (तुम्हारे प्रति अत्यन्त कृपा कर) स्वीय योग प्रभाव से (अपनी योगमाया की सामर्थ्य द्वारा) यह तेजोमय आद्य (जो आदि से है) एवं अनन्त (अन्तरहित) अपना यह परम (श्रेष्ठ) विश्वरूप तुम्हें दिखाया। मेरा यह रूप पहले और किसी ने नहीं देखा है। (११।४७) हे कुरुश्रेष्ठ चारों वेदों के अध्ययन एवं वेदविहित यज्ञादि कर्मों के अध्ययन से [अर्थात् मीमांसा तथा कल्पसूत्रादि द्वारा उन सभी यज्ञों के अर्थ के विचार (विज्ञान) द्वारा] अथवा तुलापुरुषादि दान द्वारा, अथवा अग्निहोत्रादि श्रौतकर्मादि द्वारा, अथवा शरीर और इन्द्रिय के शोषणकारी उग्र (दुष्कर) कृच्छ्रचांद्रायणादि द्वारा भी मेरे इस प्रकार के रूप मनुष्यलोक में तुम्हारे भिन्न (तुम्हारे जैसे मेरा अनुग्रह प्राप्त भक्त के विना) अन्य कोई दर्शन करने में समर्थ नहीं हुआ है (११।४८)। तुम मेरे इस भयंकर रूप के दर्शन से व्यथित (भय निमित्त पीड़ाप्राप्त) मत हो एवं विमूढ़भावप्राप्त मत हो अर्थात् तुम्हारे चित्त को व्याकुल न होने दो। विश्वरूप उपसंहार कर शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज मूर्ति में अपने को प्रकट कर रहा हूँ उस पूर्व रूप को अभी भयशून्य होकर प्रीत (संतुष्ट) मन से पुनः अच्छा कर देखो (११।४९)। वासुदेव ने अर्जुन को यह कहकर पुनः स्वीय मूर्ति अर्थात् भक्तों की धारणा और ध्यान की सुविधा के लिये जो मूर्ति परिग्रह कर द्वापर में अवतीर्ण हुए थे वही चतुर्भुज मूर्त्ति दिखलाया। महात्मा (परमकारुणिक, सर्वज्ञ सर्वेश्वर) योगेश्वर ने पुनः प्रसन्न देह (अनुग्रह शरीर अर्थात् पीताम्बरादि द्विभुजविशिष्ट मूर्ति) धारण कर भयभीत अर्जुन को आश्वासन प्रदान किया [अर्जुन ने चतुर्भुजमूर्ति देखना चाहा था क्योंकि भगवान् कंसकारागार में वसुदेव की प्रार्थना से उस रूप में ही आविर्भूत हुये थे, इसलिये कहा गया 'स्वकं रूपं, अर्थात् भगवान ने पहले स्वीयरूप दिखाया किन्तु कंसभय से भीत वसुदेव की प्रार्थना से भगवान् कुछ देर बाद ही साधारण मनुष्य के समान द्विभुज हुये थे। यह द्विभुजमूर्ति ही उनके सौम्यवपुः अर्थात् प्रसन्नदेह या अनुग्रहशरीर है। अतः श्लोक का तात्पर्य यह है कि अर्जुन को विश्वरूप

दर्शन कर जो भय और व्याकुलता उत्पन्न हुई थी, उसे निवारण करने के लिये विश्वरूप का उपसंहार करके भगवान् ने पहले अर्जुन को चतुर्भुजविशिष्ट अवतार देह दिखायी, किन्तु उसके बाद ही पुनः द्विभुजमूर्तिरूप में प्रकट हुए (११।५०) अर्जुन उस सौम्य मनुष्य रूप का दर्शन करके प्रसन्नचित्त हुआ एवं भयजनित व्यथा से मुक्त होकर प्रकृतिस्थ हुआ अर्थात् स्वस्थता को प्राप्त किया (११।५१)।

भगवान् का विश्वरूप दर्शन एकमात्र भक्ति द्वारा ही लाभ किया जा सकता है, अन्य कोई उपाय से नहीं [११।५२-५५]

श्री भगवान् ने कहा—तुमने मेरा जो विश्वरूप दर्शन किया उसे देखना अत्यन्त दुष्कर है, कारण मेरे इस रूप के तत्त्व को जानने से मैं (वासुदेव) ही सब ['वासुदेवः सर्वमिति' हूँ, यह ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। देवताएँ भी सर्वदा इस रूप के दर्शन की अभिलाषा करती रहती हैं [कारण कि वे मेरे इस विश्व-रूप के तत्त्व को जानती हैं, इसलिये भीत नहीं होती हैं किन्तु तुम्हारे इस विश्व रूप के सम्बन्ध में ज्ञान का अभाव रहने के कारण तुम्हारे निकट यह अत्यन्त उग्र (भयंकर) बोध हुआ (११।५२)।] मुझे जिस प्रकार से तुमने देखा है वह केवल वेदपाठ से, उग्र चान्द्रायणादितपस्या से, गो, पृथ्वी, स्वर्ण प्रभृति के दान से अथवा यज्ञ, पूजा इत्यादि से देखा नहीं जा सकता। अर्जुन! तुम मेरी यह बात सुनकर हतोत्साह मत होना, कारण जब तक अज्ञान रहता है तब तक मेरे तत्त्वसम्बन्ध में ज्ञानलाभ नहीं किया जा सकता है। इस अज्ञान-रूप शत्रु को दमन करने की सामर्थ्य तुममें पूर्णरूप से है। इसी कारण तुमको 'परंतप' कहा जाता है। अनन्य भक्ति के द्वारा ही अर्थात् मुझमें एक निष्ठा भक्ति (निरतिशय प्रेम) द्वारा ही इस दिव्यमूर्तिधारी हम कौन हैं (अर्थात् हमारा तत्त्व क्या है) वह शास्त्र, सत्संग, गुरूपदेश से जानने की सामर्थ्य होती है। उसके बाद हमारा यथार्थ स्वरूप साक्षात्कार कर (अर्थात् श्रवण, मनन निदिध्यासन परिपक्व होने पर एवं हमारे स्वरूप के साक्षात् अनुभव के पश्चात् अविद्या और उसका कार्य निवृत्त होने पर) हममें प्रवेश करने में सामर्थ्य होती है अर्थात् हमारे भक्त हमारे साथ एक हो जाते हैं (११।५३-५४)। [अज्ञान की निवृत्ति का तथा भगवान् को प्राप्त करने का साधन क्या है ? वही अब कहा जा रहा है] जो मेरे लिए ही अर्थात् मेरी आराधना रूप से ही कर्म करता है वही मत्कर्मकृत् है—इस रूप से [प्रश्न होगा स्वर्गादि कामना रहने से तुम्हारे लिए किस प्रकार से कर्म करना संभव है ? इसके उत्तर में कहते हैं—'मत्परम्' होने से यह सम्भव होता है अर्थात् स्वर्गादि नहीं है किन्तु मैं (परमात्मा) ही एकमात्र परम प्राप्तव्य वस्तु हूँ इस प्रकार जो निश्चय किया है

अतः जो मद्भक्त है अर्थात् सर्व प्रकार से एवं सर्वोत्साह के साथ जो मेरा ही भजन करता है [प्रश्न होगा पुत्रादि में स्नेह रहने से किस प्रकार से सर्वदा तुम्हारा भजन करना सम्भव होता है ? इसके उत्तर में कहते हैं—] जो सर्वप्रकार से संगवर्जित है अर्थात् धन, मित्र, पुत्र कलत्र (स्त्री) बन्धुओं के प्रति स्पृहा (आसक्ति) शून्य हुआ है वह ही सर्वदा मेरा भजन कर मद्भक्त होता है [प्रश्न होगा शत्रुओं के प्रति द्वेषभाव रहने से तुम्हारा निरन्तर भजन किस प्रकार से संभव होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं—] जो निर्वैर हैं अर्थात् सभी प्राणिओं के प्रति शत्रुभाव से रहित हैं वे अत्यन्त अपकार करने वाले के प्रति भी द्वेषशून्य रहता है। इस प्रकार से जो सर्वप्राणियों में वैरभावरहित होकर सर्वसंग से वर्जित (आसक्तिशून्य) होकर मेरा भक्त होता है एवं उसके पश्चात् 'मत्परम्' होकर मेरे लिये हो सर्वकर्म का अनुष्ठान करते हैं वे अवश्य ही मुझको प्राप्त करते हैं अर्थात् उनके अविद्यादि अनेक दोषों का नाश हो जाता है एवं वह मेरे सहित एकत्वानुभव करके मेरे ही निर्गुण, निष्क्रिय, सच्चिदानन्दघन, परब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होता है (११।५५)।

द्वादश अध्याय का तात्पर्य

सगुण व निर्गुण उपासकों में से कौन श्रेष्ठ है ? [१२।१–४]

[द्वितीय अध्याय से दशमाध्याय तक भगवान् ने एक ओर अपनी सर्व विशेषणशून्य अवस्था का एवं दूसरी ओर सर्व ऐश्वर्ययुक्त अवस्था का वर्णन कर निर्गुण निराकार ब्रह्म की एवं सगुण ईश्वर की उपासना का निर्देश किया है। फिर एकादश अध्याय में (विश्वरूप अध्याय में) उनका जगदायतन रूप अर्जुन को प्रदर्शित कर विश्वरूप की उपासना की सूचना दी है। अब अर्जुन के मन में शंका उपस्थित हुई कि भगवान् के अक्षर (अविनाशी) निर्गुण स्वरूप की उपासना श्रेष्ठ है या सगुण विश्वरूप की उपासना श्रेष्ठ है ? द्वितीयतः एकादश अध्याय के शेष दो श्लोकों में भगवान् ने 'मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः' 'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः' इत्यादि द्वारा भक्तिनिष्ठा ही श्रेष्ठ उपाय है, उसे कहा। नवम अध्याय के ३१ वें श्लोक में 'कौन्तेय ! प्रतिजानीहि' इत्यादि द्वारा भी भक्ति के ही श्रेष्ठत्व को प्रतिपादित किया है। फिर 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' (७।१७) 'सर्वं ज्ञानप्लवेनव वृजिनं संतरिष्यसि' (४।३६), 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (७।१८) 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (४।३८) इत्यादि द्वारा ज्ञाननिष्ठा जो श्रेष्ठ है उसे कहा है। भक्त भगवान् के सगुणभाव की उपासना करता है और ज्ञानी सर्वोपाधिरहित (निर्गुण) शुद्धचैतन्यस्वरूप भगवान् को आत्मभाव से

(अपनी आत्मा के रूप से) धारणा कर के समाधि द्वारा अपरोक्ष साक्षात्कार करने की चेष्टा करते हैं। ज्ञानी एवं भक्त दोनों ही योगवित् अर्थात् उपासना द्वारा योग अर्थात् समाधि लाभ करते हैं (योगं समाधिं विदन्तीति योगविदः) अब प्रश्न होता है कि इन सब में कौन योगवित्तम है? अर्थात् कौन सर्व-श्रेष्ठ योगवित् है ?]।

अर्जुन ने प्रश्न किया एकादशाध्याय के शेष भाग में 'मत्कर्मकृत्' इत्यादि द्वारा जैसा कहा है उस प्रकार सततयुक्त होकर तुम्हारी कोई साकार मूर्ति का या विश्वरूप का जो ध्यान करते हैं (सतत चिन्ता करते हैं) एवं जो लोग सर्व एषणा (वासना) त्याग कर (अतः सर्व-कर्म त्याग कर) सब विषयों से विरक्त होकर तुम्हारा अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ अर्थात् सर्वोपाधिरहित निर्गुण एवं अव्यक्त (सब इन्द्रियों का अविषय) निराकार स्वरूप की उपासना करते हैं, इन लोगों में कौन योगवित्तम अर्थात् श्रेष्ठ योगवित् हैं (१२।१)। श्रीभगवान ने कहा—जो सब ज्ञान वैराग्य सम्पन्न सम्यग्दर्शी मेरे अक्षर (सर्व प्रपंचरहित निर्गुण) स्वरूप की उपासना करते हैं उनलोगों के विषय में बाद में कहेंगे। अन्य जो लोग विश्वरूप मुझमें (सगुणब्रह्म में) मन को समाहित कर मेरे ही अनन्य शरण होकर सर्वयोगेश्वर का भी अधीश्वर, सर्वज्ञ, समस्त कल्याण का आश्रय मेरे सगुण भाव में सर्वदा युक्त होकर निरतिशय प्रेम और श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना अर्थात् सदा चिन्तन करते हैं, वे ही श्रेष्ठ योगवित् हैं, यही मेरा मत है।

[जो विश्वप्रपंच का मिथ्यात्व तथा एकमात्र नित्यशुद्ध ब्रह्मसत्ता का सत्यत्व निश्चय कर मिथ्या विषयों के प्रति पूर्णरूप से वैराग्यवान् होकर परमानन्दस्वरूप ब्रह्मसत्ता में (अपनी सत्ता मिलाकर) स्थितिलाभ करने का अभ्यास करते हैं वे निर्गुण उपासक हैं। अतः इस प्रकार उपासक में कोई भेदभाव नहीं रहता है। अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की उपासना शब्द का अर्थ है कि निर्गुण ब्रह्म ही हो जाना—यही जीव की चरम अवस्था है। अतः निर्गुण ब्रह्म में जिनके चित्त का स्थितिलाभ हुआ है, उन्हें उपासक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस समय उपासक और उपास्य एक हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञाननिष्ठ पुरुष के बिना अन्य सब उपासक की ही देहात्मबुद्धि एवं उपासक व उपास्य में भेदबुद्धि रहती है। अतः उन भेदबुद्धिवाले योगियों में कौन योगवित्तम हैं ? अर्थात् उनमें से कौन भगवान् में निरतिशय योग (समाधि) अनायास ही लाभ करने में समर्थ होते हैं, यह जानने के लिए ही अर्जुन ने प्रश्न किया (१२।२)। श्रीभगवान् इस विषय को और स्पष्ट

करके अब कहते हैं—जो सब उपासक सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करने के पश्चात् सर्व काल में एवं सर्वविषय में समदृष्टि रखते हैं अर्थात् हर्ष, विषाद या रागद्वेष-रहित होते हैं एवं सभी प्राणियों के हितसाधन में नियुक्त रहते हैं अर्थात् सर्वभूत में अभयदान करके संन्यास (सर्वकर्मत्याग) कर अव्यक्त (प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बहिर्भूत) सर्वत्रग (आकाश जैसा सर्वव्यापी, अचिन्त्य तथा सर्व इन्द्रिय एवं मन बुद्धि का अगोचर है उस प्रकार) अटल (स्पन्दनरहित अर्थात् अविकारी) अतः ध्रुव (नित्य, स्थिर) एवं कूटस्थ [कूट अर्थात् मिथ्या मायारचित प्रपंच के अधिष्ठान रूप से सदा ही एकरूप में स्थित अथवा जो वस्तु भीतर में दोषयुक्त हैं किन्तु बाहर में गुणविशिष्ट प्रतीत होती है उस बाह्यतः गुणविशिष्ट एवं अन्तर्दोषयुक्त वस्तु को कूट कहा जाता है। यह दृश्यप्रपंच भी उस प्रकार होने से वह भी कूट ही है। उस कूट में (दृश्यप्रपंच में) अध्यक्षरूप से (नित्य साक्षी चैतन्यरूप से) आत्मा सर्वदा ही अवस्थित है, इसलिये आत्मा को कूटस्थ कहा जाता है। अक्षर की (अर्थात् सर्वधर्मशून्यनिर्विशेषशुद्धब्रह्मस्वरूप मेरी) जो लोग सब प्रकार से उपासना करते हैं [शास्त्रनिर्दिष्ट मार्गानुसार उपास्य के समीप में बैठने को] [अर्थात् तैलधारावत् ध्येय वस्तु की भावना के प्रवाह द्वारा दीर्घकाल तक मन की स्थिरतालाभ करने के लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसे] उपासना कहा जाता है। शास्त्रों से ब्रह्म के स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञानलाभ कर अपनी आत्मा ही वह ब्रह्म है एवं वह प्रकृति अथवा माया के कार्य से पृथक् एवं निःसंग है, इस प्रकार निश्चय होने के पश्चात् जब आत्माकारा वृत्ति का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है अर्थात् चित्त आत्मा में ही निश्चल रहता है तब इसे निर्गुण उपासना कहा जाता है। इस प्रकार उपासना परिपक्व होने से ही ब्राह्मीस्थिति होती है। प्रश्न होगा—विषय और इन्द्रिय का संयोग जबतक रहता है तब तक विजातीय (विषयाकार) प्रत्यय भीं चलता रहता है। अतः सर्वत्र समदर्शन व निर्गुण उपासना किस प्रकार से सम्भव होगा ? श्लोक में इसीलिए कहा गया है 'संनियम्येन्द्रियग्रामम्'। पहले शास्त्र व गुरुवाक्य से अनात्मवस्तु से आत्मा को पृथक् करना होगा। उसके बाद आत्मा का सत्यत्व व नित्यत्व एवं अनात्म विषयसमूह का मिथ्यात्व निश्चय होने पर इहकाल एवं परकाल के फलभोग के विषय में वैराग्य उत्पन्न होता है। [किन्तु विषय का मिथ्यात्व निश्चय होने पर भी मन का जबतक नाश न हो तबतक मन आत्मा में विभिन्न कल्पनामयसृष्टि दिखाकर आत्मस्वरूप को आवृत कर रखेगा। इसलिए मन का निग्रह करना आवश्यक है। इस मन के निग्रह को शम

कहा जाता है किन्तु इन्द्रियनिग्रह न होने से मनोनिग्रह असम्भव है। इसलिए इन्द्रियसमूह को संयत करना आवश्यक है। इसको दम कहा जाता है। इस रूप से शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, एवं समाधान इन छः साधन-सम्पत्ति निर्गुण उपासक को अर्जन करना चाहिए। यही 'संनियम्येन्द्रियग्रामम्' शब्द का तात्पर्य है। इन सभी साधनों के द्वारा चित्त का निरोध करने से ही निर्गुण निष्क्रिय शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा में स्थितिलाभ करना सम्भव होता है। जो लोग इस प्रकार से चित्त के निग्रह द्वारा (निर्विकल्प समाधि द्वारा) निर्गुण उपासना करने में असमर्थ हैं वे अव्यक्त उपासना के अधिकारी नहीं हैं] अव्यक्त (निर्गुण) उपासक दूसरे की सहायता के विना ही परब्रह्मस्वरूप आत्मा को प्राप्त होते हैं अर्थात् अपनी सामर्थ्य द्वारा ही मुझको (परब्रह्म को) प्राप्त होते हैं इसीलिए कहा गया है—'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'। निर्गुण उपासक से भिन्न अन्य अधिकारियों को ईश्वर की सहायता आवश्यक है। अतः इस प्रकार के सगुण उपासक परतन्त्र हैं, इसीलिए बाद में कहेंगे—'तेषामहं समुद्धर्ता इत्यादि' (१२।७) निरन्तर सगुण ब्रह्म की (ईश्वर की) उपासना करते करते मन जब ईश्वर की कोई मूर्ति में लय हो जाता है तब मन का कोई संकल्प नहीं रहता है। अतः मन के द्वारा कल्पित मूर्ति भी विलीन हो जाती है। तब शुद्धचैतन्यस्वरूप मैं ही (आत्मा ही) एकमात्र अवशिष्ट रहता है एवं अन्य कोई दृश्य वस्तु न रहने के कारण आत्मा अपने को ही जानती रहती है। इस प्रकार द्वैतभाव से ईश्वरोपासना द्वारा भी अद्वैततत्त्व का ही साक्षात्कार होता है। इसलिए श्रुति में कहा गया है—'अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः' 'सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना स हि मुक्तिभाक्। भेददृष्टिरविद्येयं सर्वदा तां विवर्जयेत्'। (१२।३-४)

देहाभिमानी पुरुष के लिए अव्यक्त की (निर्गुणब्रह्म की) पदप्राप्ति अत्यन्त दुःख से होती है। [१२।५]

अव्यक्त में अर्थात् निर्विशेष अक्षरब्रह्म में जो उपासकों के चित्त आसक्त रहते हैं अर्थात् जो निर्गुणब्रह्म की चिन्ता में मग्न रहते हैं उनलोगों को साधनावस्था में अधिकतर क्लेश सहन करना पड़ता है। यद्यपि सगुण ब्रह्म के उपासक को भी विषय से मन को प्रत्याहार करके सगुण ब्रह्म में मन निविष्ट करने में क्लेश होता है तथापि वे लोग एक अवलम्बन को आश्रय करके ध्यान करते हैं एवं सोपानारोहण के क्रमानुसार परमपद लाभ करने में समर्थ होते हैं। सगुणोपासना निर्गुणब्रह्म तत्त्व में पहुँचने का एक नाव होती

है, क्योंकि जो कुछ सगुण है वह सभी कल्पित है (मायारचित है)। रज्जु में सर्प प्रतीत होने से भी यदि तीव्र अभिनिवेशपूर्वक कोई देखते रहते हैं, तब वह सर्पभ्रान्ति स्वयं ही नष्ट हो जाती है एवं उसकी अधिष्ठानभूत रज्जु स्वतः प्रकाशित होती है। उसी प्रकार निर्गुण चित्स्वरूप आत्मा में भगवान् की मूर्तियाँ जड़ विश्वप्रपंच के सहित कल्पना द्वारा (माया द्वारा) अध्यस्त होती है। अतः तीव्र अभिनिवेश से दीर्घकाल तक ध्यान करते रहने पर उन मूर्तियों का जाड्यभाव तिरोहित होकर उनके अधिष्ठानरूप शुद्धचैतन्य का आविर्भाव होता है। किन्तु जो लोग निरालम्ब ध्यान करते हैं उनके आकाश के साथ युद्ध करने के समान निर्विकार ब्रह्म में चित्त को स्थिर करने से अधिकतर क्लेश होता है। ऐसा क्यों होता है ? यह भगवान् स्वयं स्पष्ट कर रहे हैं—जो लोग देहादि में आत्माभिमान करते हैं उन लोगों की अव्यक्त गति (अर्थात् निर्गुण आत्मस्वरूप का अनुभव) दुःख से ही प्राप्त होती है। [सर्वकर्म त्याग पूर्वक गुरु के निकट गमन कर वेदान्तवाक्यसमूह के विचार द्वारा जीव, जगत् व ईश्वर के सम्बन्ध में समस्त भ्रम के निराकरण करने में जो महान् प्रयत्न करना पड़ता है यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है। इसलिए श्रवण, मनन के पश्चात् निदिध्यासन (निर्गुण ब्रह्म का ध्यान) निर्गुण ब्रह्म के उपासक के लिये और अधिकतर क्लेशकर होता है (१२।५)। इसलिए ही शास्त्र में कहा गया है कि भगवान् की भक्ति बिना ब्रह्मोपासकों को केवल क्लेश ही प्राप्त होता है—ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती है। अध्यात्म रामायण में भी कहा गया है—'मद्भक्तिविमुखानां हि शास्त्रगर्तेषु मुह्यताम्। न ज्ञानं न च मोक्षः स्यात्तेषां जन्मशतैरपि।

सगुणोपासकों के सहायक स्वयं भगवान् ही होते हैं। [१२।६-७]

जो लोग सब कार्य अर्थात् देहधारण करने के उपयोगी (अनुकूल) आहारादि कर्म एवं याग, दान, होम, तप प्रभृति वैदिक कर्म सगुण ईश्वर वासुदेव में अथवा विश्वरूप में समर्पण करके 'मत्पर' होते हैं अर्थात् मैं ही (भगवान् वासुदेव ही) पर (अत्यन्त प्रीति के विषय) है ऐसा निश्चय कर एकमात्र मुझे ही जीवन की लक्ष्यवस्तु मानकर मेरे बिना अन्य सब वस्तु की चिन्ता त्याग कर केवल मुझमें ही चित्त समाहित कर भगवान् वासुदेवरूपी मुझको अथवा पूर्वोक्त विश्वरूपधारी मुझको ध्यान करते हुए उपासना करते हैं अविच्छिन्नरूप से मदाकार चित्तवृत्तिप्रवाह में निमग्न रहते हैं इस प्रकार जो भक्त मुझमें चित्त निविष्ट कर मुझ ईश्वर की उपासना में सततरत रहते हैं उनको मैं सर्ववाधाएँ जिसमें समाप्त होती हैं उस शुद्ध ब्रह्म के स्वरूप का

ज्ञान पूर्णरूप से प्रदान कर अतिशीघ्र मृत्युयुक्त संसारसागर से उद्धार करता हूँ (१२।६-७)।

कहने का अभिप्राय यह है कि अधिकारी नहीं होने से निर्गुण उपासना अर्थात् निष्क्रिय अविकारी आत्मभाव में स्थितिलाभ करना अधिकतर क्लेशकर होता है। सगुण उपासना की प्रधान सुविधा यह है कि भगवान् स्वयं भक्त का उद्धार करते हैं। भक्त के कैसे आचरण करने से भगवान् उसको मृत्युरूप संसार से उद्धार करते हैं उस क्रम को अब दो श्लोकों में स्पष्ट कर रहे हैं। १२।६-७)।

(१) सभी कर्म भगवान् में ही अर्पण करना पड़ेगा (सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य)।

(२) मुझको छोड़कर जीवन के लिए प्रेम का विषय और कुछ भी नहीं होना चाहिए (मत्परः)

(३) अन्य सभी विषयों को छोड़कर एकमात्र मुझको अवलम्बन कर चित्त को समाधियुक्त रखना पड़ेगा अथवा अनन्य भाव से (अर्थात् भेदबुद्धिशून्य होकर) 'मैं ही भगवान् वासुदेव हूँ' इसप्रकार अहंग्रहलक्षणरूप योग (समाधि) के द्वारा चित्त को मुझ परमेश्वर में निविष्ट रखना होगा (अनन्येनैव योगेन)

(४) मेरा ध्यान करते-करते अर्थात् चित्त को विषयशून्य कर मुझमें ही चित्तवृत्ति को स्थिर रखकर उपासना करना पड़ेगा [माम् ध्यायन्त उपासते]

भगवान् में ध्यान परिपक्व करने का उपाय [१२।८-१२]

(क) मुझमें अर्थात सगुण ब्रह्म में अथवा विश्वरूप ईश्वर में संकल्प-विकल्पात्मक मनको स्थापन करो-मुझमें ही (अर्थात् मुझसे भिन्न अन्य सभी विषयों का त्याग कर) बुद्धि को निविष्ट करो अर्थात् सदा मेरा स्मरण करो। इसप्रकार करने पर देहपात के बाद मेरे प्रसाद (कृपा) से ज्ञानलाभ कर मुझमें ही (शुद्धब्रह्म में ही) एकात्मभाव से निवास करोगे—इस विषय में संशय करना उचित नहीं है (१२।८)।

(ख) पूर्वश्लोक में जिस प्रकार से कहा गया है उस प्रकार से यदि विश्वेश्वर के विश्वरूप में चित्तको स्थिर करने में असमर्थ हो तब अभ्यास-योग के द्वारा [चित्त को चारों ओर से प्रत्याहार कर ध्येय वस्तु को स्मरणपूर्वक उसमें स्थिर करने के लिए पुनः पुनः प्रयत्न करने को अभ्यास कहा जाता है। इस प्रकार का अभ्यास अन्त में चित्त के योग में या समाधि में परिणत होता

है, इसलिए उसे अभ्यासयोग कहा गया है। इसप्रकार अभ्यासयोग द्वारा] विश्वरूप मुझको प्राप्त करने की इच्छा करो अर्थात् प्रयत्न करो (१२।९)।

(ग) [यहाँ जो लोग सगुणब्रह्म के ध्यान करने में अशक्त (असमर्थ) है उनकी आसक्ति के तारतम्य के अनुसार प्रथम प्रतिमादि बाह्य वस्तु को अवलम्बन कर भगवद्ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। उसमें आसक्त होने से भगवद्धर्म का अनुष्ठान करना चाहिये अर्थात् निष्कामभाव से कर्तव्य सर्वकर्म भगवान् में अर्पण करना चाहिये। यदि इसमें असमर्थ हो तब सभी कर्म का फलत्याग कर शास्त्रविहित कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए। इसप्रकार तीन श्लोकों में तीन प्रकार से चित्तशुद्धिलाभ करने के उपाय का निर्देश किया गया है।] यदि कोई एक स्थूल प्रतिमा में (अथवा विश्वरूप में) द्वैताभिनिवेशवशतः महाप्रबल मनको वशीभूत कर एकाग्र करने में असमर्थ हो तब 'मत्कर्मपरम' अर्थात् मेरे लिये ही पूजा, कीर्तन और नित्यकर्म इत्यादि कर के उसे ही जीवन का परम अर्थात् एकमात्र कर्तव्य निश्चय कर उसमें ही निष्ठावान् हो। इसप्रकार अभ्यासयोग में असमर्थ होने पर भी मेरे लिये अर्थात् भगवान् के लिये भगवद्धर्म के अनुसार कर्म अत्यन्त प्रेम के साथ करते रहने से सिद्धि [अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के द्वारा (उपाय) स्वरूप चित्त-शुद्धि] लाभ करोगे (१२।१०)।

(घ) और यदि चित्त बाह्य विषय के द्वारा आकृष्ट होने से पूर्व श्लोकोक्त 'मत्कर्मपरम' होने में अशक्त हो तब 'मद्योग' को आश्रय कर (सभी कर्म मुझमें समर्पण करते रहने पर कर्मकर्ता एकमात्र मेरे ही शरणागत रहते हैं अर्थात् मेरे साथ सदा ही उनका योग रहता है। इस प्रकार के योग को आश्रय कर) एवं सभी इन्द्रियों को यत (संयत) कर एवं आत्मवान् (विवेकी) होकर जो सब कर्मों का अनुष्ठान तुम कर रहे हो उन सभी का फलत्याग (फल की कामना का) त्याग करो (१२।११)। [वेदादि शास्त्र भगवान् की ही आज्ञा है। "उन सब शास्त्रों के द्वारा अनुमोदित कर्मसमूह मेरा यथा-शक्ति कर्तव्य है, दृष्ट अथवा अदृष्ट कर्मफल तो परमेश्वर के अधीन है, इसप्रकार के भाव का आश्रय कर फलासक्ति परित्याग कर कर्म करने से कृतार्थ होओगे—यही भगवान् की उक्ति का तात्पर्य है। [प्रथम षट्क में भगवदर्पित निष्काम कर्मयोग को मोक्ष का उपाय कहा गया है। द्वितीय षट्क में भक्तियोग को भगवत्प्राप्ति का उपाय कहा गया है। यह भक्तियोग दो प्रकार का है—

(१) एक भगवन्निष्ठ अन्तःकरण का व्यापार। यह फिर तीन प्रकार का होता है (क) स्मरणात्मक (ख) मननात्मक (ग) अखंड स्मरण करने में

असमर्थ होनेपर उसके लिये वारवार प्रयत्न करना (अभ्यास करना)। इन तीनों मन्द बुद्धि लोगों के लिये दुर्गम (दुष्कर) होते हैं परन्तु पुण्यात्मा विवेकी व्यक्ति के लिये सुगम है।

(२) भगवन्निष्ठ वहिरिन्द्रियों के व्यापार (अर्थात् भगवान् में चित्त स्थिर रखकर वहिरिन्द्रियों के द्वारा श्रवण कीर्तनादि करना, यह सभी के लिये सुगम उपाय है। प्रथम षट्क में भगवान् ने यही प्रतिपादित किया है कि निष्काम कर्मी सभी कर्म ईश्वरार्पण बुद्धि से करते हुए चित्तशुद्धि लाभ कर तत्त्वज्ञान (मोक्ष) प्राप्त होते हैं द्वितीय षट्क में भक्तियोग का (भगवान् के नाम कीर्तन, आराधना एवं शरणागति का) प्राधान्य प्रदर्शित हुआ है। भगवत्प्राप्ति के लिये भक्तियोग सरल, सुगम एवं सुखकर है। इसलिये यह प्रकृष्ट उपाय है।

(ङ) चित्त को चारों ओर से समाहृत कर (निवृत्त कर) पुनः पुनः एक ही आलम्बन में (आश्रय में) स्थापन करना अथवा मन्त्र, जप, ध्यानादि-रूप क्रिया के पुनः पुनः आवृत्ति करने को अभ्यास कहते हैं। शास्त्र व गुरु से भगवान् कौन हैं ? उनके साथ आत्मा का क्या सम्बन्ध है ? भगवत्-प्राप्ति से जीवन का परम पुरुषार्थ कैसे सिद्ध होता है ? इन सब विषयों का ज्ञान प्राप्त न होकर यदि उक्त प्रकार से अभ्यास किया जाय तो उसे ज्ञानरहित अभ्यास कहते हैं। इस प्रकार अभ्यास से अथवा ज्ञान लाभ करने के लिये वेदान्तादि शास्त्रों के श्रवणरूप अभ्यास से ज्ञान [अर्थात् युक्ति के द्वारा आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चयात्मक ज्ञान] श्रेष्ठ है। ज्ञान से अर्थात् श्रवण, मनन द्वारा निष्पन्न आत्मतत्त्वनिश्चय से ध्यान [ज्ञानपूर्वक ध्यान अथवा ज्ञात हुए आत्मतत्त्व के साक्षात्कार करने के लिये चिन्तन अथवा निदिध्यासन] विशिष्ट (श्रेष्ठ) माना जाता है। उक्त ध्यान से भी कर्मफल त्याग [अर्थात् कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करते हुए भी कर्मों के फल के बारे में सर्व प्रकार से आसक्ति (वासना) त्यागविशिष्ट (श्रेष्ठ) होता है। अतः जब साधक चित्त को संयत कर अनुष्ठित सभी कर्मों के फल की वासना का त्याग किया करते हैं तब उस त्याग से कालान्तर की अपेक्षा नहीं करते हैं अर्थात् तत्क्षण ही शान्ति अज्ञान तथा अज्ञान के कर्म जो संसार सृष्ट हुआ उस संसार से उपरामरूप मोक्ष प्राप्त होते हैं (१२।१२) श्रुति में भी कहा गया है—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः। अत्र मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' [जब हृदय में स्थित कामसमूह नष्ट हो जाते हैं तब मरणशील जीव अमृतत्व (मृत्युरहित अवस्था अर्थात् मोक्ष) प्राप्त होता है]॥

भगवान के प्रिय भक्त के लक्षण [१२।१३–२०]

(१) जो कोई भी प्राणी से द्वेष नहीं करते, ऐसे कि यदि कोई अपने दुःख के हेतु भी हो तथापि उसका द्वेष नहीं करते कारण वे सभी प्राणी की आत्मा के रूप से ही दर्शन करते हैं। अतः सभी प्राणी के प्रति मैत्रभाव (स्निग्धभाव) रखते हैं (ख) जो दुःखियों के प्रति करुणाशील हैं (कृपा तथा दयाशील हैं) अर्थात् जो सभी भूतों को अभय देनेवाला संन्यासी है (ग) जो निर्मम अर्थात् देह गेह प्रभृति में 'मेरे' इस भावना से वर्जित हुये हैं एवं (घ) जो अहंकार से शून्य हुये हैं, (ङ) अतः सर्वानर्थ के मूल जो अहंकार है उसके नाश होने से जिनके सुख दुःख में समबुद्धि हुई है (च) अतः जो सदा ही क्षमाशील हैं अर्थात् कोई उनको ताड़न करने से भी जिनका कोई विक्रिया (विकार) नहीं होती है जो सदा ही (चाहे लाभ हो या क्षति हो, सर्व अवस्था में) संतुष्ट रहते हैं (छ) जो योगी संयत स्वभाव होकर दृढ़-निश्चय हुए हैं (आत्मतत्त्वविषय में असम्भावना और विपरीत भावना से शून्य होकर दृढ़ रूप से श्रद्धावान हुए हैं) (ज) जो उनके संकल्पात्मक मन और निश्चयात्मिका बुद्धि मुझमें (शुद्ध ब्रह्म में) अर्पित किये हैं वे ज्ञानवान् (शुद्ध-ब्रह्मवित्) भक्त मेरे प्रिय हैं [कारण इस प्रकार के ज्ञानवान् भक्त मुझसे अपनी आत्मा को अभिन्न जानते हैं। अतः वे मेरी भी आत्मा होने के कारण मेरे परम प्रेम के पात्र होते हैं (१२।१३–१४) गीता में भी अन्यत्र भगवान् ने कहा है 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गोता ७।१८)

(२) जो सर्वत्यागो संन्यासी सर्वभूत को अभय देनेवाला है, अतः जिससे एवं जो स्वयं भी किसी से उद्वेग प्राप्त नहीं होता है (सन्तप्त नही होते) और जो लोगों को उद्वेग प्राप्त नही कराते हैं अथवा भय की आशंका कर क्षोभप्राप्त नहीं होते) जो हर्ष से (प्रियवस्तुलाभ मे रोमाञ्च अश्रुपातादि से) अमर्ष से (अभिलषित वस्तु की प्राप्ति में बाधा उपस्थित होने से असहिष्णुता से) भय से (त्रास से), उद्वेग से (उद्विग्नता से) मुक्त रहते हैं वे मेरे प्रिय हैं (१२।१५)।

(३) जो अनपेक्ष (देहेन्द्रियादिविषय सम्बन्ध में जिनकी अपेक्षा नही रहती एवं भोग्य विषय समूह अयाचित भाव से उपस्थित होने पर भी उनमें जो निस्पृह रहते हैं अथवा आत्मा से भिन्न सभी वस्तुओं में जो अनपेक्ष अर्थात् स्पृहाशून्य रहते हैं), जो शुचि हैं (बाह्य और आभ्यन्तर शौचसम्पन्न हैं), जो दक्ष हैं (कोई कार्य उपस्थित होनेपर उसी समय जिस प्रकार करना चाहिए उस प्रकार करने में समर्थ हैं अथवा भगवद्भजनादि में अनलस हैं),

जो उदासीन हैं (पक्षपातरहित हैं अथवा मानापमानादि मे समवृत्ति हैं), जो गतव्यथ (अन्य के द्वारा ताड़ित होकर भी जिनकी व्यथा अथवा चित्त की पीड़ा उत्पन्न नही होती), जो सर्वारम्भपरित्यागी है (इहकाल और परकाल के फलभोग की वासना द्वारा प्रेरित होकर जो कर्म किया जाता है उसे आरम्भ कहा जाता है। सर्व प्रकार के आरम्भ को जो स्वभावतः परित्याग कर देते हैं वे सर्वारम्भपरित्यागी है अर्थात् यथाप्राप्त कर्म जो कर्तव्यबुद्धि से करते हैं परन्तु जो अपनी इच्छा से फल को आकांक्षा से कोइ कर्म नही करते हैं) वे भक्त मेरे प्रिय होते हैं (१२।१६)

(४) जो प्रिय (अभिलषित) वस्तु को प्राप्त होकर भी हर्षित नहीं होते हैं एवं अप्रिय वस्तु को प्राप्त होकर भी द्वेष नही करते, जो पत्नी, पुत्र, वित्त प्रभृति के नाश होने पर भी शोक नहीं करते अथवा अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिये इच्छा नही करते, जो शुभ (कल्याण) एवं अशुभ (अकल्याण) दोनों की ही भावना का परित्याग कर चुके हैं क्योंकि शुभ और अशुभ दोनों ही बन्धन के हेतु होते हैं), उस प्रकार के भक्त मेरे प्रिय हैं (१२।१७)।

(५) जो अपकारी शत्रु में एवं उपकारी मित्र में सम (एकरूप) भाव रखते हैं, जो मान–अपमान में सम (हर्षविषादशून्य) रहते हैं, जो ठंडी–गर्मी–सुख–दुःख में भी सम (निर्विकार) रहते हैं, जो सर्वसंग से विवर्जित हैं (अर्थात् चेतन अथवा अचेतन सभी विषयों में आसक्तिरहित हैं), जो निन्दा और स्तुति में दु;ख और सुख अनुभव न करके एक ही समभाव में स्थित रहते हैं, जो मौनी हैं (संयतवाक्य हैं अर्थात् जो किसी की भी निन्दा अथवा स्तुति नहीं करते हैं अथवा शरीरयात्रा का निर्वाह करने के लिये भी वाक्य का व्यवहार नहीं करते), जो शरीर धारण करने के लिये भी कोई प्रयत्न नहीं करते हैं किन्तु बलवत् प्रारब्ध के द्वारा स्वतः उपनीत (प्राप्त) आहारादि में सन्तुष्ट रहते हैं (अन्य कोई वस्तु की स्पृहा नहीं करते) [शास्त्र में कहा गया है 'येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः। यत्र क्वचन शायी स्यात् तं देवा ब्राह्मणं विदुः' ।। अर्थात् जो स्वतःप्राप्त वस्त्र के द्वारा आच्छादित होकर, स्वतःप्राप्त आहार के द्वारा जीविकानिर्वाह कर एवं जहाँ तहाँ शयन कर सन्तुष्ट रहते हैं उनको ही देवतालोग ब्राह्मण कहते हैं।] फिर जो अनिकेत अर्थात् जिनके नियत (स्थिर) आश्रय अथवा निवास नहीं है एवं जो स्थिरमति (परमार्थवस्तु विषय में जिनकी बुद्धि संशयरहित होकर स्थिर हुई है) इस प्रकार के भक्तिमान् पुरुष मेरे प्रिय हैं (१२।१८–१९)।

(६) जो सब मुमुक्षु संन्यासी 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि श्लोकों

के द्वारा प्रतिपादित धर्म्य अमृत (धर्मरूप अमृत) का प्रयोग प्रयत्नपूर्वक करते हैं [सभी जगत् को जो धारण किये हुये हैं उन अधिष्ठान स्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म को ही यथार्थ धर्म कहा जाता है। अद्वेष्टादि गुणसमूह ब्रह्म से अनपेत (अस्खलित) हैं अर्थात् साक्षात् ब्रह्मप्राप्ति के हेतु होने से उन्हे धर्म्य कहा जाता है। फिर वे अमृत के (मोक्ष के) हेतु और अमृत के समान स्वादिष्ट होने के कारण उन्हें 'अमृत' भी कहा जाता है। श्रद्धायुक्त होकर प्रयत्न के साथ सर्वतोभाव से जो इसप्रकार धर्मामृत का अनुष्ठान करते हैं एवं मत्पर होते हैं [अर्थात् मैं अक्षरात्मा भगवान वासुदेव ही परम प्राप्तव्य हूँ (निरतिशय गति हूँ) इस प्रकार निश्चय करते हैं] वे शमदमादि साधन सम्पत्ति एवं मेरे निरुपाधिक ब्रह्मस्वरूप के भजन करने वाले भक्तगण मेरे अतीव प्रिय हैं (१२।२०) ['प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः (गीता ७।१७) इत्यादि श्लोकों में ज्ञानी भक्तों के विषय में जो कुछ कहा गया है उसका ही यहाँ उपसंहार किया गया है। अद्वेष्टत्वादि धर्म्यामृत रूप जो सब गुणों का वर्णन भगवान् ने किया है वे मुमुक्षु साधक के लिये प्रयत्नसाध्य होने पर भी ज्ञानी के वे स्वभावसिद्ध हैं अर्थात् ज्ञानलाभ होने पर वे सब गुण अपने से ही आ जाते हैं। वार्तिककार सुरेश्वराचार्य कहते हैं—

उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतः भवन्त्येव न तु साधनरूपिणः॥
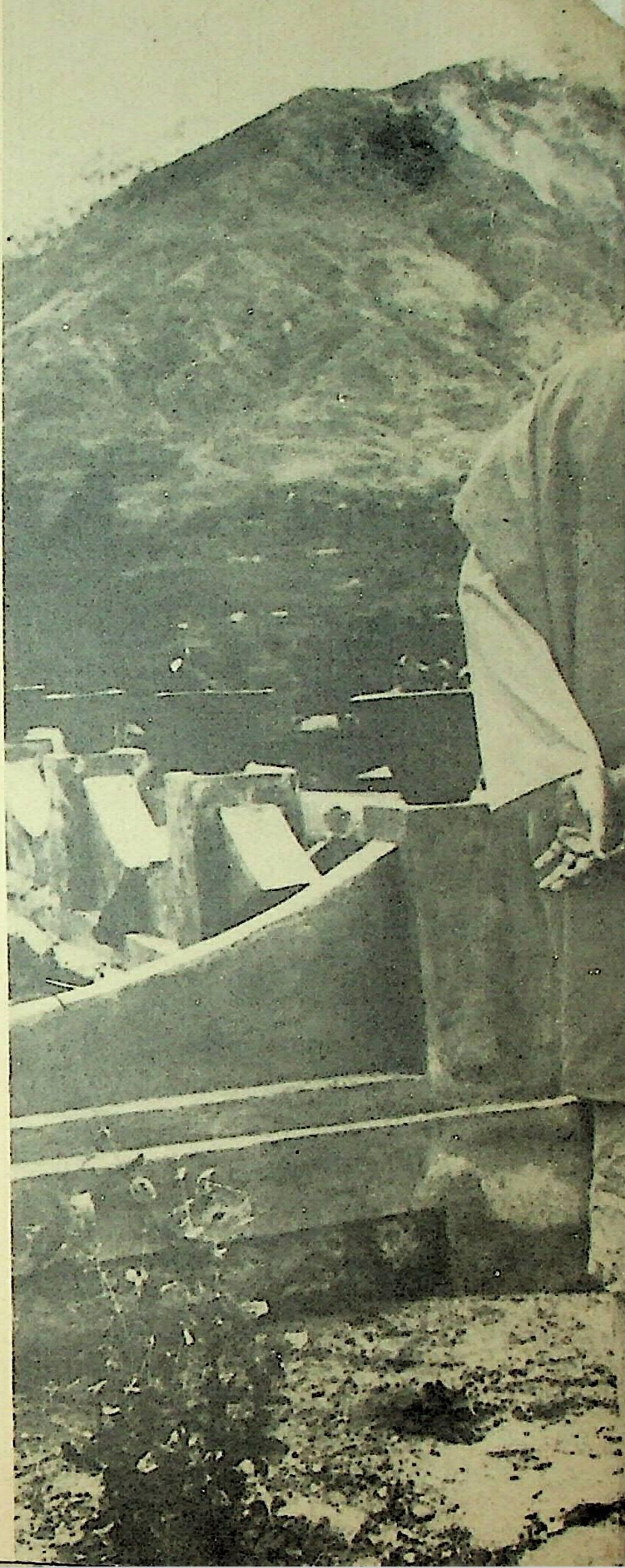
जिनको आत्मज्ञान लाभ हुआ है उनमें अद्वेष्टृत्वादि गुण विना यत्न के ही उदित होते हैं। ज्ञान लाभ न होने पर इन सब गुणों का स्थायित्व नहीं रहता है। तथापि जो सत्र मुमुक्षु साधक इन गुणों को अर्जन करने के लिए बहुत प्रयत्न करते हैं वे भी भगवान् के अतिप्रिय होते हैं—यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है]।